

# जिनवाणी

कर्म सिद्धान्त  
विशेषांक



प्रधान सम्पादक :  
डॉ० नरेन्द्र मानावत

E-1331  
29-12-96



आ.श्री. कैलाससागर स्मृति ज्ञान मंदि

श्री महावीर जैन आश्रमना केंद्र कावा

प्राशिवन-मागशाष

प्रक्टूबर-दिसम्बर

२०४१



१६८४

# जिनवाणी

आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा० के अमृत महोत्सव के  
उपलक्ष्य में प्रकाशित

## कर्म सिद्धान्त विशेषांक

प्रधान सम्पादक

डॉ० नरेन्द्र भामावत



सम्पादक

डॉ० श्रीमती शांता भामावत



प्रकाशक

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

बापू बाजार, जयपुर-३०२००३

# जिनवाणी

कर्म सिद्धान्त विशेषांक : वर्ष : ४१ अंक : १०-१२

अक्टूबर-दिसम्बर, १९८४

वीर निर्वाण संवत् २५११

आश्विन-मार्गशीर्ष, २०४१

प्रबन्ध सम्पादक :

प्रेमराज बोगावत

संस्थापक :

श्री जैन रत्न विद्यालय, भोपालगढ़

प्रकाशक :

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

दुकान नं. १८२-१८३ के ऊपर

बापू बाजार, जयपुर-३०२ ००३ (राजस्थान)

फोन नं. ४८६६७

सम्पादकीय सम्पर्क सूत्र :

सी-२३५ ए, दयानन्द मार्ग, तिलक नगर

जयपुर-३०२००४ (राजस्थान)

फोन नं. ४७४४४

भारत सरकार द्वारा प्रदत्त रजिस्ट्रेशन नं ३६५३/५७

सदस्यता :

स्तम्भ सदस्यता : १००१ रु.

संरक्षक सदस्यता : ५०१ रु०

आजीवन सदस्यता : देश में २५१ रु०

आजीवन सदस्यता : विदेश में ७५१ रु०

त्रिवर्षीय सदस्यता : ५५ रु०

वार्षिक सदस्यता : २० रु०

इस विशेषांक का मूल्य : १० रु०

मुद्रक :

क्रैण्ड्स प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स, जौहरी बाजार, जयपुर-३

**नोट :** यह आवश्यक नहीं कि इस विशेषांक में प्रकाशित लेखकों के विचारों से सम्पादक या सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल की सहमति हो।

# समर्पण

ज्ञान-दर्शन रूप  
स्वाध्याय  
और  
चारित्र रूप  
सामायिक-साधना  
के प्रबल प्रेरक  
**आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज**  
के  
तपःपूत तेजस्वी व्यक्तित्व  
को  
उनके अमृत महोत्सव पर  
सादर सविनय समर्पित !

(iii)

# अनुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

सम्पादकीय

३

प्रथम खण्ड

कर्म सिद्धान्त का शास्त्रीय विवेचन

७-२३४

१. कर्मों की धूप-छाँह	—आचार्य श्री हस्तीमलजी म.सा.	६
२. कर्म और जीव का सम्बन्ध	—पं. र. श्री हीरा मुनि	१३
३. कर्मवाद : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन	—श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री	१७
४. कर्म का अस्तित्व	—युवाचार्य श्री मधुकर मुनि	२७
५. कर्म के भेद-प्रभेद	—श्री रमेश मुनि शास्त्री	३४
६. कर्म-विमर्श	—श्री भगवती मुनि 'निर्मल'	४६
७. कर्म का स्वरूप	—पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री	६१
८. कर्म और उसका व्यापार	—डॉ. महेन्द्रसागर प्रचंडिया	६७
९. कर्म-विचार	—डॉ. आदित्य प्रचंडिया 'दीति'	७१
१०. कारण सिद्धान्त :		
भाग्य-निर्माण की प्रक्रिया	—श्री कन्हैयालाल लोढ़ा	७७
११. कर्मण शरीर और कर्म	—श्री चन्दनराज मेहता	६०
१२. कर्मवाद के आधारभूत सिद्धान्त	—डॉ. शिव मुनि	६५
१३. कर्म और पुरुषार्थ	—युवाचार्य महाप्रज्ञ	६८
१४. कर्म, कर्मबन्ध और कर्मक्षय	—श्री राजीव प्रचंडिया	१०७
१५. कर्म और लक्ष्या	—श्री चाँदमल कर्णावट	११३
१६. कर्म-विपाक	—श्री लालचन्द्र जैन	११८
१७. अन्तर्मन की ग्रंथियाँ खोलें	—आचार्य श्री नानेश	१२७
१८. कर्म प्रकृतियाँ और उनका जीवन के साथ सम्बन्ध	—श्री श्रीचन्द्र गोलेछा	१३२
१९. जीवन में कर्म सिद्धान्त की उपयोगिता	—श्री कल्याणमल जैन	१३६
२०. कर्म और कर्म-फल	—श्री राजेन्द्र मुनि	१४५
२१. पुण्य-पाप की अवधारणा	—श्री जशकरण डागा	१५१

(iv)

२२. ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग	—डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी	१६२
२३. जैन-बौद्ध दर्शन में कर्मवाद	—डॉ. भागचन्द्र जैन भास्कर	१६४
२४. जैन, बौद्ध और गीता के दर्शन में कर्म का स्वरूप	—डॉ. सागरमल जैन	१६८
२५. सांख्य दर्शन में कर्म	—श्री धर्मचन्द्र जैन	१६९
२६. मीमांसा-दर्शन में कर्म का स्वरूप	—डॉ. के. एल. शर्मा	१६६
२७. मसीही धर्म में कर्म की मान्यता	—डॉ. ए. बी. शिवाजी	२०२
२८. इस्लाम धर्म में कर्म का स्वरूप	—डॉ. निजाम उद्दीन	२०६
२९. पाश्चात्य दर्शन में क्रिया-सिद्धान्त	—डॉ. के. एल. शर्मा	२१६
३०. जैन कर्म साहित्य का संक्षिप्त विवरण	—श्री अग्रचन्द्र नाहटा	२२५
३१. आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में कर्म एवं पुनर्जन्म की अवधारणा	—डॉ. देवदत्त शर्मा	२२६

### द्वितीय खण्ड

#### कर्म सिद्धान्त और सामाजिक चिन्तन २३५-३०८

३२. वैयक्तिक एवं सामूहिक कर्म	—पं. सुखलाल संघवी	२३७
३३. कर्म और कार्य-मर्यादा	—पं. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री	२४२
३४. कर्म-परिणाम की परम्परा	—श्री केदारनाथ	२४८
३५. कर्मक्षय और प्रवृत्ति	—श्री किशोरलाल मश्रुवाला	२५०
३६. कर्त्तव्य-कर्म	—स्वामी शरणानन्द	२५३
३७. कर्मविपाक और आत्म-स्वातन्त्र्य	—बाल गंगाधर तिलक	२५८
३८. निष्काम कर्मयोग	—महात्मा गांधी	२६५
३९. कर्म, विकर्म और अकर्म	—आचार्य विलोदा भावे	२६८
४०. कर्म और कार्य-कारण सम्बन्ध	—आचार्य रजनीश	२७३
४१. ध्यान और कर्मयोग	—श्री जी. एस. नरवानी	२७६
४२. कर्मवाद और आधुनिक चिन्तन	—डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन	२८२
४३. कर्म का सामाजिक सन्दर्भ	—डॉ. महावीर सरन जैन	२८५
४४. कर्म सिद्धान्त और समाज-संरचना	—श्री रणजीतसिंह कूमट	२९४

४५. 'जैसी करनी वैसी भरनी' पर एक टिप्पणी	—डॉ. राजेन्द्रस्वरूप भटनागर	२६८
४६. कर्म सिद्धान्त : एक टिप्पणी	—डॉ. शान्ता महतानी	३०५

### तृतीय खण्ड

<b>कर्म सिद्धान्त और आधुनिक विज्ञान</b>		३०६-३३०
४७. कर्म और आधुनिक विज्ञान	—आचार्य अनन्तप्रसाद जैन	३११
४८. कर्म सिद्धान्त और आधुनिक विज्ञान	—श्री अशोककुमार सक्सेना	३१५
४९. कर्म सिद्धान्त : वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में	—डॉ. महावीरसिंह मुडिया	३२३
५०. जैन कर्म सिद्धान्त और विज्ञान : पारस्परिक अभिगम	—डॉ. जगदीशराय जैन	३२६

### चतुर्थ खण्ड

<b>कर्म और पुरुषार्थ की जैन कथाएँ</b>		३३१-३५२
५१. कर्म और पुरुषार्थ की जैन कथाएँ	—डॉ. प्रेमसुमन जैन	३३३
१. आटे का मुर्गा	—डॉ. प्रेमसुमन जैन	३३७
२. सियारिनी का बदला	—डॉ. प्रेमसुमन जैन	३३९
३. जादुई बगीचा	—डॉ. प्रेमसुमन जैन	३४२
४. दो साधक जो बिछुड़ गये	—श्री सुजानमल मेहता	३४५
५. कर्म का भुगतान	—श्री चाँदमल बाबेल	३४९

### परिशिष्ट

हमारे सहयोगी लेखक विज्ञापन	—संकलित	३५३
	—संयोजन—श्री सुमेरसिंह बोथरा	

## सम्पादकीय

‘हम तो कबहु न निज घर आये ।  
पर घर फिरत बहुत दिन बीते, नाम अनेक धराये ॥

अर्थात्प्रवण कवि दानतराय की उपर्युक्त पंक्तियाँ जीव के भव-भ्रमण की पीड़ा और ग्लानि को व्यक्त करती हैं। ‘निज घर’ हमारा आत्म-स्वभाव है और ‘पर घर’ यह संसार है। जीवात्मा अपने कर्मानुसार विविध धोनियाँ धारण कर अनादि काल से संसार में भटक रही है। इस भटकन और भ्रमण का कारण आत्मा के साथ बँधे हुए / चिपके हुए कर्म हैं। प्रश्न है जब आत्मा अपने सुख-दुःख की कर्ता स्वयं है और सब में मूलतः वह समान है तब संसार में इतना दुःख और वैषम्य क्यों है? क्या मनोवैज्ञानिक रूप से यह सम्भव है कि व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता हो और फिर भी वह अपने सुख के लिए दुःख के कांटे बोए ? इस प्रश्न का उत्तर जैन दार्शनिकों ने कर्म सिद्धान्त की प्रक्रिया में खोजा है। उनका मानना है कि जीव अपने सुख-दुःख का विधाता और भोक्ता स्वयं होते हुए भी अनादि काल से कर्म के बन्धनों में जकड़ा हुआ है। यही कारण है कि सिद्धान्ततः वह पूर्ण स्वतंत्र और आनंदमय होते हुए भी व्यवहार में स्वतंत्र और आनंदमय नहीं है।

जीव जो क्रिया करता है उसका नाम कर्म है। दूसरे शब्दों में जिस पर क्रिया का प्रभाव पड़े वह कर्म है। ‘कर्म’ शब्द का लोक-व्यवहार और शास्त्र में विभिन्न अर्थों में प्रयोग हुआ है। जन साधारण अपने-अपने काम-धन्धे, व्यवसाय, कर्तव्य आदि के अर्थ में कर्म शब्द का प्रयोग करते हैं। पर जैन-दर्शन में ‘कर्म’ शब्द का विशेष अर्थ में प्रयोग किया गया है। उसके अनुसार संसारी जीव जब रागद्वेषयुक्त मन, वचन, काया से जो भी किया करता है उससे उसके आत्म-प्रदेश में एक विशेष प्रकार का स्पन्दन होता है, उत्तेजन होता है। उससे वह सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण करता है और उनके द्वारा नाना प्रकार के आभ्यन्तर संस्कारों को जन्म देता है। ये पुद्गल परमाणु भौतिक और जड़ होते हुए भी जीव की राग-द्वेषात्मक मानसिक, वाचिक, शारीरिक क्रियाओं के द्वारा आकृष्ट होकर आत्मा के साथ अग्नि-लोह-पिण्ड की भाँति परस्पर एकमेक हो जाते हैं और आत्मा की अनन्त शक्ति को आच्छादित कर लेते हैं, जिससे उसका तेज हतप्रभ और मन्द हो जाता है। जब विशिष्ट साधना के द्वारा इन कर्म-पुद्गलों को नष्ट कर दिया जाता है तब आत्मा पूर्ण स्वतंत्र और आनंदमय बन जाती है। जब तक इन कर्मों का क्षय नहीं होता, आत्मा भव-भ्रमण करती रहती है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि कृत कर्मों का फल भोगे बिना आत्मा की मुक्ति नहीं हो सकती।



कर्म-फल के भोग के सम्बन्ध में कई मान्यताएँ हैं। एक मान्यता यह है कि आत्मा कर्म करने में स्वतंत्र है परन्तु उसका फल देना ईश्वर के हाथ में है। जैनदर्शन ऐसा नहीं मानता। वह कर्म सिद्धान्त को प्राकृतिक विधान-नियम मानकर चलता है। उसकी दृष्टि में जीव स्वयं ही अपना विधाता और नियामक है। किसी बाहरी नियन्ता की आवश्यकता नहीं। अपने पुरुषार्थ, साधना, सत्कर्म, सद्बिचार द्वारा वह बँधे हुए कर्मों के फल-भोग की प्रकृति, स्थिति, रस आदि में घट-बढ़ रूप में परिवर्तन ला सकता है, पाप प्रकृति को पुण्य में, अशुभ प्रकृति को शुभ में बदल सकता है। यही नहीं वह संयम, तप आदि की साधना से अपने पूर्व में बँधे हुए कर्मों को बिना फल भोगे ही निर्जरित कर सकता है। इस दृष्टि से पिछले जन्म के अच्छे-बुरे कर्मों के द्वारा इस जीवन के सुख-दुःख की व्याख्या करते हुए भी कर्म सिद्धान्त वर्तमान में किये गये पुरुषार्थ के महत्त्व को रेखांकित करता है।

यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि 'व्यक्ति जैसा करेगा वैसा भरेगा' तब उसको मुक्ति कैसे होगी? उसे सुख-दुःख, पुण्य-पाप तो भोगना ही पड़ेगा। इस सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जो क्रिया भोग के रूप में, विषयसुख की प्राप्ति के रूप में की जाती है उससे कर्मबंध होता है पर जो क्रिया अनासक्त भाव से राग-द्वेष रहित होकर विशुद्ध सेवाभाव से, विवेक और यतनापूर्वक की जाती है वह बंध का कारण नहीं होती।

'कर्म' का विचार लगभग सभी भारतीय दर्शनों और धर्मों में हुआ है। कर्म के इस विचार में सभी ने 'क्रिया' को मूलभूत आधार माना है। क्रिया 'अपने लिए' और क्रिया 'समाज के लिए' इस आधार पर वैयक्तिक कर्म और सामूहिक कर्म की चर्चा चली है। हमारी दृष्टि से इनमें कोई आत्यन्तिक विरोध नहीं है। जब कोई कहता है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ तो इसका अर्थ यह नहीं कि वह अन्य सबको नकार रहा है। इसके मूल में आत्म-पुरुषार्थ और आत्म-शक्ति को जागृत कर दैन्य, निराशा, पराजय, हीनता जैसी भावना को नष्ट करने का लक्ष्य रहा है। जब कोई कहता है कि 'तत्त्वमसि' अर्थात् तू ही ब्रह्म है तो इसका अर्थ यह नहीं कि वह अपने को नकार रहा है। इसके मूल में अपने अहं को विसर्जित करने का भाव निहित है। संत कबीर ने इस अनुभव को कितने सुन्दर रूप में वाणी दी है—

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहि ।

सब अधियारा मिटि गया, दीपक देख्या माहि ॥

जब व्यक्ति 'भेरेपन' और 'तिरेपन' दोनों से ऊपर उठ जाता है तब वह कह उठता है 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' अर्थात् सब ब्रह्म स्वरूप हैं। जब व्यक्ति अपने 'स्व' का 'सर्व' में विलय कर देता है तभी यह स्थिति आती है। कबीर की आत्मा आनंद विभोर होकर कह उठती है—

लाली मेरे लाल की, जित देखो तित लाल ।  
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल ॥

कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग भी यहीं आकर मिल जाते हैं। इनमें कोई आन्तरिक विरोध नहीं रहता। जब व्यक्ति आत्म-कल्याण के साथ-साथ लोकसेवा एवं जनकल्याण के लिए क्रिया करता है तब उसमें बंध की नहीं, मुक्त होने की, राग की नहीं वीतराग की, उपभोग की नहीं, उपयोग की शक्ति विकसित होती है।

इस शक्ति को विकसित करने की भावना से ही, इस शक्ति के विशिष्ट आराधक परम श्रद्धेय आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा० की ७५वीं जयन्ती (अमृत महोत्सव—पौष शुक्ला चतुर्दशी सं० २०४१) के उपलक्ष्य में 'जिनवाणी' का यह 'कर्म सिद्धान्त विशेषांक' प्रकाशित किया जा रहा है। आचार्यश्री ज्ञान-दर्शन रूप स्वाध्याय एवं चारित्र्य रूप सामायिक-साधना की प्रबल प्रेरणा देते हुए जनसाधारण को आत्म-शक्ति के प्रकटीकरण एवं कर्म-निर्जरा की सतत उद्-बोधना देते रहे हैं। उन्हीं के तपःपूत तेजस्वी व्यक्तित्व को यह विशेषांक समर्पित है।

'जिनवाणी' के पूर्व प्रकाशित 'स्वाध्याय', 'सामायिक', 'तप', 'श्रावक धर्म', 'साधना', 'ध्यान', 'जैन संस्कृति और राजस्थान' आदि विशेषांकों की तरह यह विशेषांक भी अपना वैशिष्ट्य लिये हुए है। यह चार खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड 'कर्म सिद्धान्त के शास्त्रीय विवेचन' से सम्बन्धित है। इसमें जैन दर्शन में मान्य कर्म सिद्धान्त के विविध पक्षों के साथ-साथ बौद्ध, गीता, सांख्य, मीमांसा, ईसाई, इस्लाम धर्म एवं पाश्चात्य दर्शन में प्रतिपादित कर्म सिद्धान्त पर अधिकृत विद्वानों के ३१ निबन्ध संकलित किये गये हैं। इनके अध्ययन से कर्म सिद्धान्त को व्यापक परिप्रेक्ष्य में समझने और परखने में सहायता मिलती है।

द्वितीय खण्ड 'कर्म सिद्धान्त के सामाजिक चिन्तन' से सम्बन्धित है। शास्त्रीय रूप में कर्म सिद्धान्त का जो विवेचन हुआ वह मुख्यतया व्यक्तिवादी धरातल पर ही। व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को विश्लेषित करने वाली आज कई विचारधाराएँ प्रवाहमान हैं। यह जिज्ञासा उठना स्वाभाविक है कि अध्यात्म क्षेत्र में कर्म-सिद्धान्त की प्रक्रिया का जो विकास हुआ है क्या वह हमारे वर्तमान जीवन की सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान में सहायक हो सकता है? और यदि हाँ तो किस रूप में व किस सीमा तक? इस वैचारिक धरातल पर कर्म-विचार का जो चिन्तन चला है वह मुख्यतः कर्मयोग और सत्कर्म के रूप में ही। इस खण्ड में १५ निबन्ध दिये गये हैं। जिनमें ३२ से लेकर ४० तक के ९ निबन्ध देश के प्रबुद्ध विचारकों और तत्त्व चिन्तकों के हैं जो उनकी पुस्तकों

से संकलित किये गये हैं। इस खण्ड के निबन्धों में जो विचार व्यक्त किये गये हैं वे आज के युग की समस्याओं व विचारधाराओं के परिप्रेक्ष्य में हैं अतः इनका स्वर समीक्षात्मक है। इनके अध्ययन से कर्म-विचार की विविध भंगि-माओं, उनकी शक्तियों और सीमाओं से परिचित होने में मदद मिलती है। विचार-मन्थन की दृष्टि से इन निबन्धों का विशेष महत्त्व और उपयोग है। ये विचार लेखकों के अपने हैं और उनसे सहमत होना आवश्यक नहीं है।

तृतीय खण्ड में 'कर्म सिद्धान्त और आधुनिक विज्ञान' से सम्बन्धित चार निबन्ध हैं। इनके अध्ययन से कर्म सिद्धान्त की वैज्ञानिकता को समझने में सहायता मिलती है। चतुर्थ खण्ड 'कर्म और पुरुषार्थ की जैन कथाएँ' से सम्बन्धित है। इसमें जैन कथा साहित्य का संक्षिप्त परिचय देते हुए तत्सम्बन्धी ५ कथाएँ दी गई हैं। कर्म सिद्धान्त को समझने में ये कथाएँ विशेष उपयोगी हैं। परिशिष्ट में सहयोगी लेखकों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

इस विशेषांक के प्रकाशन की योजना आज से लगभग चार वर्ष पूर्व बनी थी। हमारा विचार कर्म सिद्धान्त और आधुनिक विज्ञान से सम्बद्ध विशेष सामग्री इसमें प्रकाशित करने का था पर वह संभव न हो सका। जैन धर्म, दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान् श्री कन्हैयालाल लोढ़ा का सामग्री-संकलन में विशेष सहयोग मिला है, अतः हम उनके प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हैं। जिन विद्वान् आचार्यों, मुनियों व लेखकों ने अपनी रचनाएँ भेजकर इस विशेषांक को इस रूप में प्रस्तुत करने में हमारी सहायता की, उनके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। जिन व्यक्तियों, संस्थाओं व व्यापारिक प्रतिष्ठानों ने अपने विज्ञापन देकर हमें आर्थिक सहयोग प्रदान किया, वे सब धन्यवाद के पात्र हैं। विज्ञापन खण्ड के संयोजक श्री सुभेरसिंह बोधरा और उनके सहयोगी सर्वश्री पूरणराज अम्बाणी जोधपुर, पारसराज बाँठिया अहमदाबाद, धर्मेन्द्र हीरावत बम्बई, मोतीचन्द कर्णावट जयपुर एवं पार्श्वकुमार मेहता जयपुर का विज्ञापन एकत्र करने में विशेष सहयोग रहा है अतः हम उनके आभारी हैं।

आशा है, इस विशेषांक के अध्ययन-मनन से आत्म-पुरुषार्थ को जागृत करने एवं लोकसेवा के मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा मिलेगी।

सी-२३५ ए, दयानंद मार्ग, तिलकनगर,  
जयपुर-४

—डॉ० नरेन्द्र भानावत

**प्रथम खण्ड**



**कर्म सिद्धान्त  
का  
शास्त्रीय विवेचन**



**दुःख का कारण कर्म-बंध :**

बन्धुग्री ! वीतराग जिनेश्वर ने, अपने स्वरूप को प्राप्त करके जो आनन्द की अनुभूति की, उससे उन्होंने अनुभव किया कि यदि संसार के अन्यान्य प्राणी भी, कर्मों के पाश से मुक्त होकर, हमारी तरह स्वाधीन स्वरूप में स्थित हो जायें तो वे भी दुःख के पाश से बच जायेंगे यानी दुःख से उनका कभी पाला नहीं पड़ेगा । दुःख, अशान्ति, असमाधि या क्लेश का अनुभव तभी किया जाता, है जबकि प्राणी के साथ कर्मों का बन्ध है ।

दुःख का मूल कर्म और कर्म का मूल राग-द्वेष है । संसार में जितने भी दुःख हैं, वेदनायें हैं, वे सब कर्ममूलक ही हैं । कोई भी व्यक्ति अपने कृत कर्मों का फल भोगे बिना नहीं रह पाता । कर्म जैसा भी होगा फल भी उसी के अनुरूप होंगे । प्रश्न होता है कि यदि दुःख का मूल कर्म है तो कर्म का मूल क्या है ? दुःखमूलक कर्म क्या स्वयं सहज रूप में उत्पन्न होता है या उसका भी कोई कारण है ? सिद्धान्त तो यह है कि कोई भी कार्य कारण के बिना नहीं होता । फिर उसके लिए कोई कर्ता भी चाहिये । कर्तापूर्वक ही क्रिया और क्रिया का फल कर्म होता है ।

**कर्म और उसके कारण :**

परम ज्ञानी जिनेश्वर देव ने कहा कि कर्म करना जीव का स्वभाव नहीं है । स्वभाव होता तो हर जीव कर्म का बंध करता और सिद्धों के साथ कर्म लगे होते । परन्तु ऐसा नहीं होता है । अयोगी केवली और सिद्धों को कर्म का बंध नहीं होता । इससे प्रमाणित होता है कि कर्म सहेतुक है, अहेतुक नहीं । कर्म का लक्षण बताते हुए आचार्य ने कहा—“कीरइ जिण्ण हेउहि ।” जो जीव के द्वारा किया जाय, उसे कर्म कहते हैं । व्याकरण वाले क्रिया के फल को कर्म कहते हैं । खाकर आने पर उससे प्राप्त फल—भोजन को ही कर्म कहा जाता है । खाने की क्रिया से ही भोजन मिला, इसलिए भोजन कर्म कहाता है । सत्संग में आकर कोई सत्संग के संयोग से कुछ ज्ञान हासिल करे, धर्म की बात सुने तो यहाँ श्रवण सुनने को भी कर्म कहा—जैसे “श्रवणः कर्म” । पर यहाँ इस प्रकार के कर्मों से मतलब नहीं है । यहाँ आत्मा के साथ लगे हुए कर्म से प्रयोजन है । कहा है—“जिण्ण हेउहि, जेणं तो भण्णई कम्म” यानी संसार की क्रिया का कर्म तो

\*आचार्यश्री के प्रवचन से उद्धृत ।

स्वतः होता है। परन्तु यह विशिष्ट कर्म स्वतः नहीं होता। यहां तो जीव के द्वारा हेतुओं से जो किया जाय, उस पुद्गल वर्गणा के संग्रह का नाम कर्म है।

**कर्म के भेद और व्यापकता :**

कर्म के मुख्यतः दो भेद हैं—द्रव्यकर्म और भावकर्म। कर्मण्य वर्गणा का ग्राना और कर्म पुद्गलों का आत्म प्रदेशों के साथ सम्बन्धित होना, द्रव्य कर्म है। द्रव्य कर्म के ग्रहण करने की जो राग-द्वेषादि की परिणति है, वह भाव कर्म है।

आपने ज्ञानियों से द्रव्य कर्म की बात सुनी होगी। द्रव्य कर्म कार्य और भाव कर्म कारण है। यदि आत्मा की परिणति, राग द्वेषादिमय नहीं होगी तो द्रव्य कर्म का संग्रह नहीं होगा। आप और हम बैठे हुए भी निरन्तर प्रतिक्षण कर्मों का संग्रह कर रहे हैं। परन्तु इस जगह, इसी समय, हमारे और आपके बदले कोई वीतराग पुरुष बैठें तो वे सांपरायिक कर्म एकत्रित नहीं करेंगे। क्योंकि उनके कषाय नहीं होने से, ईर्यापथिक कर्मों का संग्रह है। सिद्धों के लिए भी ऐसी ही स्थिति है।

लोक का कोई भी कोना खाली नहीं है, जहां कर्मवर्गणा के पुद्गल नहीं घूम रहे हों। और ऐसी कोई जगह नहीं, जहां शब्द-लहरी नहीं घूम रही हो। इस हाल के भीतर कोई बच्चा रेडियो (ट्रांजिस्टर) लाकर बजाये अथवा उसे आलमारी के भीतर रखकर ही बजाये तो भी शब्द लहरी वहां पहुँच जायेगी और संगीत लहरी पास में सर्वत्र फैल जायेगी। इस शब्द लहरी से भी अधिक बारीक, सूक्ष्म कर्म लहरी है। यह आपके और हमारे शरीर के चारों ओर घूम रही है और सिद्धों के चारों तरफ भी घूम रही है। परन्तु सिद्धों के कर्म चिपकते नहीं और हमारे आपके चिपक जाते हैं। इसका अन्तर यही है कि सिद्धों में वह कारण नहीं है, राग-द्वेषादि की परिणति नहीं है।

**कर्म का मूल राग और द्वेष :**

ऊपर कहा जा चुका है कि हेतु से प्रेरित होकर जीव के द्वारा जो किया जाय, वह कर्म है। और कर्म ही दुःखों का कारण है—मूल है। कर्म का मूल बताते हुए कहा कि—“रागो य दोसो, बीय कम्म बीयं।” यानी राग और द्वेष दोनों कर्म के बीज हैं। जब दुःखों का मूल कर्म है तो आपको, दुःख निवारण के लिए क्या मिटाना है? क्या काटनी है? दुःख की बेड़ी। यह कब हटेगी? जब कर्मों की बेड़ी हटेगी—दूर होगी। और कर्मों की बेड़ी कब कटेगी? जब राग-द्वेष दूर होंगे।

बहुधा एकान्त और शान्त स्थान में अनचाहे भी सहसा राग-द्वेष आ धरते हैं। एक कर्म भोगते हुए, फल भोग के बाद, आत्मा हल्की होनी चाहिये, परन्तु साधारणतया इसके विपरीत होता है। भोगते समय राग-द्वेष उभर आते या चिन्ता-शोक धर लेते तो नया बंध बढ़ता जाता है। इससे कर्म-परम्परा

चालू रहती है। उसका कभी अवसान—अन्त नहीं हो पाता। अतः ज्ञानी कहते हैं कि कर्म भोगने का भी तुमको ढंग-तरीका सीखना चाहिये। फल भोग की भी कला होती है और कला के द्वारा ही उसमें निखार आता है। यदि कर्म भोगने की कला सीख जाओगे तो तुम नये कर्मों का बन्ध नहीं कर पाओगे। इस प्रकार फल भोग में तुम्हारी आत्मा हल्की होगी।

**कर्म फल भोग आवश्यक :**

शास्त्रकारों का एक अनुभूत सिद्धान्त है कि—“कडारा कम्माण न मोक्ख अत्थि।” तथा “अश्वयमेव भोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभम्” यानी राजा हो या रंक, अमीर हो या गरीब, महात्मा हो अथवा दुरात्मा, शुभाशुभ कर्म फल सब जीव को भोगना ही पड़ेगा। कभी कोई भूले-भटके सन्त प्रकृति का आदमी किसी गृहस्थ के घर ठंडाई कहकर दी गई थोड़ी मात्रा में भी ठंडाई के भरोसे भंग पी जाय तो पता चलने पर पछतावा होता है मगर वह भंग अपना असर दिखाए बिना नहीं रहेगी। बारम्बार पश्चात्ताप करने पर भी उस साधु प्रकृति को भी नशा आये बिना नहीं रहेगा। नशा यह नहीं समझेगा कि पीने वाला सन्त है और इसने अनजाने में इसे पी लिया है अतः इसे भ्रमित नहीं करना चाहिये। नहीं, हर्गिज नहीं। कारण, बुद्धि को भ्रमित करना उसका स्वभाव है। अतः वह नशा अपना रंग लाये बिना नहीं रहेगा। बस, यही हाल कर्मों का है।

भगवान् महावीर कहते हैं कि—“हे मानव ! सामान्य साधु की बात क्या ? हमारे जैसे सिद्धगति की ओर बढ़ने वाले जीव भी कर्म फल के भोग से बच नहीं सकते। मेरी आत्मा भी इस कर्म के वशीभूत होकर, भव-भव में गोते खाती हुई कर्म फल भोगती रही है। मैंने भी अनन्तकाल तक, भवप्रपंच में प्रमादवश कर्मों का बंध किया जो आज तक भोगना पड़ रहा है। कर्म भोगते हुए थोड़ा सा प्रमाद कर गये तो दूसरे कर्म आकर बंध गए, चिपक गए।”

मतलब यह है कि कर्मों का सम्बन्ध बहुत जबरदस्त है। इस बात को अच्छी तरह समझ लिया जाये कि हमारे दैनिक व्यवहार में, नित्य की क्रिया में कोई भूल तो नहीं हो रही है ? नये कर्म बांधने में कितना सावधान हूँ ? कर्म भोगते समय कोई नये कर्म तो नहीं बंध रहे हैं ? इस तरह विचारपूर्वक काम करने वाला, कर्मबंध से बच सकता है।

**कर्मों की घूप-छांह :**

परन्तु संसार का नियम है कि सुख के साथ दुःख आता है और साता के साथ असाता का भी चक्र चलता रहता है। यह कभी नहीं हो सकता कि शुभाशुभ कर्म प्रकृतियों में मात्र एक ही प्रकृति उदय में रहे और दूसरी उसके साथ नहीं आये। ज्ञानियों ने प्रतिक्षरणा शुभाशुभ कर्मों का बंध और उदय चाल



रहना बतलाया है। दृष्टान्त रूप से देखिये, अभी उस जाली के पास जहाँ आप धूप देख रहे हैं, घंटेभर के बाद वहाँ छाया आ जावेगी और अभी जहाँ दरवाजे के पास आपको छाया दिख रही है, कुछ देर के बाद वहाँ धूप आ जायेगी। इसका मतलब यह है कि धूप और छाया बराबर एक के पीछे एक आते रहते हैं। धूप-छाँह परिवर्तन का द्योतक है। एक आम प्रचलित शब्द है, जिसका मतलब प्रायः प्रत्येक समझ जाता है कि यहाँ कोई भी वस्तु एक रूप चिरकाल तक नहीं रह सकती।

जब मकान में धूप की जगह छाया और छाया की जगह जगह धूप आ गई तो आपके तन, मन में साता की जगह असता और असाता की जगह साता आ जाये तो इसमें नई बात क्या है? संयोग की जगह वियोग से आपका पाला पड़ा तो कौनसी बड़ी बात हो जावेगी? जानी कहते हैं कि इस संसार में आए तो समभाव से रहना सीखो। संयोग में जरूरत से अधिक फूलो मत और वियोग के आने पर आकुल-व्याकुल नहीं बनो, घबराओ नहीं। यह तो सृष्टि का नियम है—कायदा है। हर वस्तु समय पर अस्तित्व में आती और सत्ता के अभाव में अदृश्य हो जाती है। इस बात को ध्यान में रखकर सोचो कि जहाँ छाया है वहाँ कभी धूप भी आयेगी और जहाँ अभी धूप है, वहाँ छाया भी समय पर आये बिना नहीं रहेगी।

अभी दिन है—सर्वत्र उजाला है। छः बजे के बाद सूर्योदय हुआ। परन्तु उसके पहले क्या था। सर्वत्र अंधेरा ही तो था। किसी को कुछ भी दिखाई नहीं देता था। यह परिवर्तन कैसे हो गया? अन्धकार की जगह प्रकाश कहां से आ गया? तो जीवन में भी यही क्रम चलता रहता है। जिन्दगी एक धूप-छाँह ही तो है।

**हर हालत में खुश और शान्त रहो :**

संसार के शुभ-अशुभ के क्रम को, व्यवस्था को, ज्ञानीजन सदा समभाव या उदासीन भाव से देखते रहते हैं। उन्हें जगत् की अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियाँ चंचल अथवा आन्दोलित नहीं कर पातीं। वे न तो अनुकूल परिस्थिति के आने पर हर्षोन्मत्त और न प्रतिकूलता में व्यथित एवं विषण्ण बनते हैं। सूरज की तरह उनका उदय और अस्त का रंग एक जैसा और एक भावों वाला होता है। वे परिस्थिति की मार को सहन कर लेते हैं, पर परिस्थिति के वश रंग बदलना नहीं जानते। जीवन का यही क्रम उनको सबसे ऊपर बनाये रखता है। अपनी मानसिक समता बनाये रखने के कारण ही वे आत्मा को भारी बनाने से बच पाते हैं। और जिनमें ऐसी क्षमता नहीं होती और जो इस तरह का व्यवहार नहीं बना पाते, वे अकारण ही अपनी आत्मा को भारी, बोझिल बना लेते हैं। □

संसार एक रंगमंच है :

संसार एक रंगमंच है। यहाँ नाना प्रकार के पात्र हमें दृष्टिगोचर होते हैं। इनमें कोई अमीर है तो कोई गरीब, कोई राजा है तो कोई रंक, कोई सबल है—तो कोई निर्बल, कोई विद्वान् है तो कोई मूर्ख। किसी का सर्वत्र अभिनन्दन-अभिवन्दन है तो किसी को दुस्कार-फटकार। किसी के दर्शन को आँखें तरसतीं, टकटकी लगाये पंथ निहारतीं तो किसी को फूटी आँख से भी देखना पसंद नहीं, कोई कामदेव-रति तुल्य तो कोई कौवा तवा की तरह भड़ा-काला। कोई साँचे में ढालकर फुरसत में बनाया हो ऐसा रूपवान तो कोई बेढब, बेडोल और अँट, गर्दभवत् भट्टी आकृति वाला। कोई कोमल, सरल तो कोई कर्कश-कठोर, टेढ़ा-मेढ़ा अष्टावक्र की तरह। किसी को 'बन्समोर, प्लोज' कहकर कोयलवत् और तान छेड़ने को कहा जाता है तो किसी को 'बैठ जाओ', 'तुमको किसने खड़ा किया', 'क्यों कौजे और गधे की तरह गला फाड़ रहे हो', 'यह फटा बाँस और कहीं जाकर बजाना', ऐसा कहा जाता है। किसी की लात भी अच्छी तो किसी की भली बात भी खराब।

मात्र मनुष्य की ही बात नहीं। यह जीव कभी सुख-सागर में निमग्न देव बना तो कभी भयंकर भयावने भय और असह्य-दुःख का घर नारकी बना। इस तरह गति, जाति आदि की बाहरी भिन्नता ही नहीं, भीतरी-गुणस्थान, लेश्या, पुण्यानुबंधी पुण्य आदि की दृष्टि से असंख्य भेद शास्त्रकारों ने किये हैं।

विभिन्नता-विचित्रता का कारण कर्म :

आखिर, इस विभिन्नता-विचित्रता, विभेद और विसंशुद्धता का कारण क्या है? विविधता-विषमता-अनेकता के अनेकों कारण एवं समाधान प्राप्त होते हैं। वैदिक परम्परा इस भिन्नता का कारण ईश्वर को मानती है तो कोई सामाजिक अव्यवस्था बताते हैं। किन्हीं का मन्तव्य है कि यह माता-पिता का दोष है तो कोई आदत, कुटेव, अज्ञानता, स्वार्थ, वासनामयी वृत्ति को कारण मानते हैं।

\*मुनि श्री के प्रवचन से। पं० शोभाचन्द्र जैन द्वारा सम्पादित।

जैन दर्शन इस विभिन्नता का कारण कर्म मानता है। जैन मान्यतानुसार जो जैसा करता है, वही उसका फल भोगता है। एक प्राणी दूसरे प्राणी के कर्म-फल का अधिकारी नहीं हो सकता, जैसा कि कहा है—

“स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् ।  
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकम् तदा ॥”

उपर्युक्त तथ्य को ही हिन्दी कवि ने निम्न प्रकार स्पष्ट किया है—

“अपने उपाजित कर्मफल को जीव पाते हैं सभी—  
उसके सिवा कोई किसी को कुछ नहीं देता कभी ।  
ऐसा समझना चाहिये एकाग्र मन होकर सदा,  
दाता अपर है भोग का इस बुद्धि को खोकर सदा ॥”

**कर्म के अनेक अर्थ :**

कर्म शब्द अनेकार्थक माना गया है। काम-धंधे के अर्थ में कर्म शब्द का प्रयोग होता है। खाना, पीना, चलना, फिरना आदि क्रिया का भी कर्म शब्द से व्यवहार किया जाता है। इसी प्रकार कर्मकाण्डी मीमांसक यज्ञ-आदि क्रिया-कांड के अर्थ में, स्मार्त विद्वान् ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चारों वर्णों तथा ब्रह्मचर्य आदि चारों आश्रमों के लिये नियत किये गये कर्म रूप अर्थ में, व्याकरण के निर्माता लोग कर्त्ता द्वारा की जाने वाली क्रिया, जिस पर कर्त्ता के व्यापार का फल गिरता है, इस अर्थ में, और नैयायिक लोग उत्क्षेपण-अवक्षेपण आदि पाँच सांकेतिक कर्मों के संदर्भ में कर्म शब्द का प्रयोग करते हैं। परन्तु जैन दर्शन में कर्म शब्द एक विशेष अर्थ में व्यवहृत किया जाता है। जैन दर्शन की मान्यतानुसार कर्म नैयायिकों या वैशेषिकों की भाँति क्रिया रूप नहीं है किन्तु पौद्गलिक द्रव्य रूप है। आत्मा के साथ प्रवाह रूप से सम्बन्ध रखने वाला एक अजीव द्रव्य है।

**कर्म और जीव का सम्बन्ध :**

भगवान् महावीर ने संसार के अनन्त-अनन्त पदार्थों को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया है—जीव और अजीव या जड़ और चेतन। जीव के साथ जड़ का संयोग-सम्बन्ध ही संसार में विविधता, विचित्रता और विभिन्नता उत्पन्न करता है। यदि विभिन्नता का कारण मात्र चेतन आत्मा होती तो सिद्ध अवस्था में भी विभिन्नता होती किन्तु ऐसा नहीं है। इसी प्रकार मात्र जड़ भी विचित्रता-विभिन्नता का कारण नहीं है जैसे बिना जीव का अलोकाकाश। अतः मिट्टी और पानी के संयोग की तरह जड़ और चेतन के संयोग को ही जैन दर्शन

गति, जाति, योनि आदि की विभिन्नता का कारण मानता है। वह उसे ईश्वर, ब्रह्मा या शक्तिशाली देवों का कार्य नहीं मानता है। प्रश्न होता है कि जीव का अजीव कर्म से सम्बन्ध कब से है ? जैन दर्शन इस सम्बन्ध को खदान से निकले सोना और मिट्टी के सम्बन्ध की तरह अनादि मानता है।

सम्बन्ध दो तरह के होते हैं समवाय सम्बन्ध और संयोग सम्बन्ध। गुण-गुणी का सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध है जो अलग नहीं किया जा सकता। जैसे मिश्री और मिठास, अग्नि और उष्णता, नमक और खारापन, जीव और ज्ञान, सूर्य और प्रकाश। लेकिन जीव और जड़ कर्म का सम्बन्ध संयोग-सम्बन्ध है जैसे—दूध और पानी, सोना और मिट्टी, लोहा और अग्नि, तार और बिजली, शरीर और जीव। जीव और कर्म का सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध न होकर संयोग सम्बन्ध है।

कर्म के सम्बन्ध में एक प्रश्न और उठता है कि यदि कर्म जड़ है तब जड़ कर्म में किस प्रकार फल देने की शक्ति है। प्रत्यक्ष में हम देखते हैं जड़ पदार्थों का अन्य जड़ पदार्थों पर भी संयोग के कारण प्रभाव दिखायी देता है जैसे पारस लोहे को स्वर्ण रूप में परिवर्तित कर देता है। वस्त्र विभिन्न रंगों के परमाणुओं का संयोग पाकर चित्र-विचित्र रंगों को प्राप्त होता है, इस तरह जड़ में भी संयोग शक्ति के कारण विभिन्नता आती है तो फिर जड़ चेतन का संयोग पाकर अधिक शक्तिवाला बन जाय, उसमें कोई आश्चर्य नहीं ? स्पष्ट ही हम देखते हैं—भंग शिला पर घोट्टी जाकर शिला में नशा नहीं पैदा कर, पीने वाले चेतन में अपना अत्यधिक प्रभाव दिखाती है।

जैन दर्शनानुसार कर्म द्रव्य रूप व भाव रूप से दो प्रकार का है। जीव से सम्बद्ध कर्म पुद्गल द्रव्य कर्म और द्रव्य कर्म के प्रभाव से होने वाले जीव के राग-द्वेष रूप भाव, भाव कर्म है। राग-द्वेष रूप चिन्तन से आत्म प्रदेशों में एक प्रकार की हलचल-कंपन होती है। इस प्रकार परिणाम स्वरूप कर्म पुद्गल आकृष्ट हो चिपक जाते हैं। जैसे केमरा आकृति को; रेडियो ध्वनि को और चुम्बक लोह-कणों को खींचता है, वैसे ही परिणाम द्रव्य कर्मण वर्गणा को आकर्षित करता है, कर्म में स्वयं सुख-दुःख प्रदान करने की शक्ति नहीं है किन्तु यह शक्ति चेतन द्वारा प्रदत्त होती है। चेतन का संयोग पाकर कर्म की शक्ति बलवतर हो जाती है। जिसके प्रभाव से देवेन्द्र, नरेन्द्र, धर्मेन्द्र तीर्थकरों को भी कठोर यंत्रणा भोगनी पड़ी।

आत्मा कर्म के साथ किस प्रकार आबद्ध होती है, यह तथ्य निम्न दृष्टान्त द्वारा सुगमतया समझा जा सकता है। कल्पना कीजिये जैसे आपने एक गाय के गले में रस्सा डाल कर उसे बांध लिया। वह गाँठ गाय के नहीं, चमड़े के नहीं

रस्से से रस्से के साथ लगी है और गाय बंधी हुई है। आत्मा और कर्म के साथ भी यही बात है। कर्म की गाँठ कर्म के साथ लगी है, आत्मा के साथ नहीं, किन्तु आत्मा बन्धन से फँस गयी है। आत्मा अरूपी और कर्म रूपी है, अरूपी रूपी के साथ कभी सम्बन्ध नहीं करता। विचित्रता यही है कि कर्म के साथ कर्म के बन्धन से आत्मा बन्ध रही है। जैसे गाँठ खुल जाने से गाय मुक्त हो जाती है उसी प्रकार कर्म की गाँठ खुल जाने पर आत्मा भी स्वतंत्र और कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाती है।

मानव के पास बुद्धि रूप ज्ञान और आचरण रूप क्रिया का ऐसा अनुभव रूप बल, शक्ति है कि वह कठिन, गुरुतर, दुष्कर और दुर्भेद्य को भी आसान कर सकता है। जीव अपने प्रयत्न विशेष से, पुरुषार्थ से कर्म को पृथक् कर सकता है, यथा—

“मलं स्वर्णगतं वह्नि, हंसः क्षीर गतं जलम् ।  
यथा पृथक्करोत्येव, जन्तोः कर्म मलं तपः ॥”

अर्थात्— जैसे स्वर्ण में रहा हुआ मल अग्नि के ताप से, दूध और पानी हंस की चोंच से पृथक्त्व को प्राप्त होता है, उसी प्रकार कर्ममल तप से नष्ट हो जाता है।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तप द्वारा यह जीव कर्म का पृथक्-करण कर सकता है। हमारा जीवन विघ्न, बाधा और विपत्तियों से भरा पड़ा है। इनके कारण हमारी बुद्धि अस्थिर हो जाती है। एक ओर बाहरी परिस्थिति प्रतिकूल होती है तो दूसरी ओर घबराहट, चिन्ता और पाप के प्रकटीकरण से अंतरंग स्थिति को हम स्वयं अपने हाथों से बिगाड़ लेते हैं। ऐसी अवस्था में—“विपत्तिकाले विपरीत बुद्धिः” होने पर भूल पर भूल होना स्वाभाविक है। अंततोगत्वा हम आरम्भ किये कार्य को निराश हो छोड़ देते हैं। ऐसे समय में कर्म सिद्धान्त शिक्षक का कार्य करता है, पुरुषार्थ का पाठ पढ़ाता है। वह आत्मा को धीरज बंधाता है। दुःख में घबराहट और सुख में संयत कर, उच्छ्रंखल व उद्वण्ड होने से बचाता है। इस तरह जैन दर्शन में प्रतिपादित कर्म सिद्धान्त पुरुषार्थ पर अवलंबित है।



## कर्मवाद : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

□ श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री

भारतवर्ष दर्शनों की जन्मस्थली है, क्रीड़ा भूमि है। यहाँ की पुण्य भूमि पर आदिकाल से ही आध्यात्मिक चिन्तन की, दर्शन की विचारधारा बहती चली आ रही है। न्याय, सांख्य, वेदान्त, वैशेषिक, मीमांसक, बौद्ध और जैन प्रभृति अनेक दर्शनों ने यहाँ जन्म ग्रहण किया, वे खूब फूले और फले। उनकी विचारधाराएँ हिमालय की चोटी से भी अधिक ऊँची, समुद्र से भी अधिक गहरी और आकाश से भी अधिक विस्तृत हैं।

भारतीय दर्शन जीवन-दर्शन है। केवल कर्मनीय कल्पना के अनन्त गगन में विहरण करने की अपेक्षा यहाँ के मनीषी दार्शनिकों ने जीवन के गम्भीर व गहन प्रश्नों पर चिन्तन, मनन, विमर्श करना अधिक उपयुक्त समझा। एतदर्थ यहाँ आत्मा, परमात्मा, लोक, कर्म आदि तत्त्वों पर गहराई से चिन्तन, मनन व विवेचन किया गया है। उन्होंने अपनी तपश्चर्या एवं सूक्ष्म कुशाग्र बुद्धि के सहारे तत्त्व का जो विश्लेषण किया है वह भारतीय सभ्यता व धर्म का मेरुदण्ड है। इस विराट् विश्व में भारत के मुख को उज्ज्वल-समुज्ज्वल रखने में तथा मस्तिष्क को उन्नत रखने में ब्रह्मवेत्ताओं की यह आध्यात्मिक सम्पदा सर्वथा व सर्वदा कारण रही है। मानसिक पराधीनता के पंक में निमग्न आधुनिक भारतीय पाश्चात्य सभ्यता के चाकचिक्य के समक्ष इस अनुपम विचार-राशि की भले ही अवहेलना करें किन्तु उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि भारत अति प्राचीन काल से गौरवशाली देश रहा है तो अपने दार्शनिक चिन्तन के कारण ही। वस्तुतः तत्त्वज्ञान से ही भारतीय संस्कृति व सभ्यता की प्रतिष्ठा है।

दार्शनिकवादों की दुनिया में कर्मवाद का अपना एक विशिष्ट स्थान है। कर्मवाद के मर्म को समझे बिना भारतीय दर्शन विशेषतः आत्मवाद का यथार्थ परिज्ञान नहीं हो सकता।

डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी के मन्तव्यानुसार “कर्मफल का सिद्धान्त भारतवर्ष की अपनी विशेषता है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त खोजने का प्रयत्न अन्यान्य देशों के मनीषियों में भी पाया जा सकता है, परन्तु इस कर्मफल का सिद्धान्त और कहीं भी नहीं मिलता।”

सुप्रसिद्ध प्राच्य-विद्याविशारद कीथ ने सन् १९०६ की रॉयल एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका में एक बहुत ही विचारपूर्ण लेख लिखा था। उसमें वे लिखते हैं—“भारतियों के कर्म बन्ध का सिद्धान्त निश्चय ही अद्वितीय है। संसार की समस्त जातियों से उन्हें यह सिद्धान्त अलग कर देता है। जो कोई भी भारतीय धर्म और साहित्य को जानना चाहता है, वह यह उक्त सिद्धान्त जाने बिना अग्रसर नहीं हो सकता।”

### जैन दर्शन का मन्तव्य :

कर्मवाद के समर्थक दार्शनिक चिन्तकों ने काल आदि मान्यताओं का सुन्दर समन्वय करते हुए इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि जैसे किसी कार्य की उत्पत्ति केवल एक ही कारण पर नहीं अपितु अनेक कारणों पर अवलंबित है वैसे ही कर्म के साथ-साथ काल आदि भी विश्व-वैचित्र्य के कारणों के अन्तर्गत समाविष्ट हैं। विश्व-वैचित्र्य का मुख्य कारण कर्म है और काल आदि उसके सहकारी कारण हैं। कर्म को प्रधान कारण मानने से जन-जन के मन में आत्मविश्वास व आत्मबल पैदा होता है और साथ ही पुरुषार्थ का पोषण होता है। सुख-दुःख का प्रधान कारण अन्यत्र न ढूँढ़कर अपने आप में ढूँढ़ना बुद्धिमत्ता है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने लिखा है कि “काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुषार्थ इन पाँच कारणों में से किसी एक को ही कारण माना जाय और शेष कारणों की उपेक्षा की जाय, यह उचित नहीं है, उचित तो यही है कि कार्य निष्पत्ति में काल आदि सभी कारणों का समन्वय किया जाय।” इसी बात का समर्थन आचार्य हरिभद्र ने भी किया है।

दैव, कर्म, भाग्य और पुरुषार्थ के सम्बन्ध में अनेकान्त दृष्टि रखनी चाहिए। आचार्य समन्त भद्र ने लिखा है—बुद्धिपूर्वक कर्म न करने पर भी इष्ट या अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति होना दैवाधीन है। बुद्धिपूर्वक प्रयत्न से इष्टानिष्ट की प्राप्ति होना पुरुषार्थ के अधीन है। कहीं पर दैव प्रधान होता है तो कहीं पर पुरुषार्थ। दैव और पुरुषार्थ के सही समन्वय से ही अर्थ सिद्धि होती है। जैन दर्शन में जड़ और चेतन पदार्थों के नियामक के रूप में ईश्वर या पुरुष की सत्ता नहीं मानी गई है। उसका मन्तव्य है कि ईश्वर या ब्रह्म को जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, संहार का कारण या नियामक मानना निरर्थक है। कर्म आदि कारणों से ही प्राणियों के जन्म, जरा और मरण आदि की सिद्धि की जा सकती है। केवल भूतों से ही ज्ञान, सुख, दुःख, भावना आदि चैतन्यमूलक धर्मों की सिद्धि नहीं कर सकते। जड़ भूतों के अतिरिक्त चेतन तत्त्व की सत्ता को मानना आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य है। कभी भी मूर्त-जड़, अमूर्त-चैतन्य को उत्पन्न नहीं कर सकता। जिसमें जिस गुण का पूर्ण रूप से अभाव है उस गुण को वह कभी भी उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि इस प्रकार नहीं माना जाये तो

कार्य-कारण भाव की व्यवस्था ही निरर्थक हो जायगी। फलस्वरूप हम भूतों को भी किसी कार्य का कारण मानने के लिए बाध्य नहीं होंगे। ऐसी स्थिति में किसी कार्य के कारण की अन्वेषणा करना भी निरर्थक होगा। इसलिए जड़ और चेतन इन दो प्रकार के तत्त्वों की सत्ता मानते हुए कर्म-मूलक विश्व-व्यवस्था मानना तर्क संगत है। कर्म अपने नैसर्गिक स्वभाव से अपने आप फल प्रदान करने में समर्थ होता है।

### कर्मवाद की ऐतिहासिक समीक्षा :

ऐतिहासिक दृष्टि से कर्मवाद पर चिन्तन करने पर हमें सर्वप्रथम वेद-कालीन कर्म सम्बन्धी विचारों पर चिन्तन करना होगा। उपलब्ध साहित्य में वेद सबसे प्राचीन हैं। वैदिक युग में महर्षियों को कर्म सम्बन्धी ज्ञान था या नहीं ? इस पर विज्ञों के दो मत हैं। कितने ही विज्ञों का यह स्पष्ट अभिमत है कि वेदों-संहिता ग्रन्थों में कर्मवाद का वर्णन नहीं आया है, तो कितने ही विद्वान् यह कहते हैं कि वेदों के रचयिता ऋषिगण कर्मवाद के ज्ञाता थे।

जो विद्वान् यह मानते हैं कि वेदों में कर्मवाद की चर्चा नहीं है उनका कहना है कि वैदिक काल के ऋषियों ने प्राणियों में रहे हुए वैविध्य और वैचित्र्य का अनुभव तो गहराई से किया पर उन्होंने उसके मूल की अन्वेषणा अन्तरात्मा में न कर बाह्य जगत् में की। किसी ने कर्मनीय कल्पना के गगन में विहरण करते हुए कहा कि सृष्टि की उत्पत्ति का कारण एक भौतिक तत्त्व है तो दूसरे ऋषि ने अनेक भौतिक तत्त्वों को सृष्टि की उत्पत्ति का कारण माना। तीसरे ऋषि ने प्रजापति ब्रह्मा को ही सृष्टि की उत्पत्ति का कारण माना। इस तरह वैदिक युग का सम्पूर्ण तत्त्व चिन्तन देव और यज्ञ की परिधि में ही विकसित हुआ। पहले विविध देवों की कल्पना की गई और उसके पश्चात् एक देव की महत्ता स्थापित की गई। जीवन में सुख और वैभव की उपलब्धि हो, शत्रुजन पराजित हों अतः देवों की प्रार्थनाएँ की गईं और सजीव व निर्जीव पदार्थों की आहूतियाँ प्रदान की गईं। यज्ञ कर्म का शनैः शनैः विकास हुआ। इस प्रकार यह विचारधारा संहिता काल से लेकर ब्राह्मण काल तक क्रमशः विकसित हुई।

आरण्यक व उपनिषद् युग में देववाद व यज्ञवाद का महत्त्व कम होने लगा और ऐसे नये विचार सामने आये जिनका संहिताकाल व ब्राह्मणकाल में अभाव था। उपनिषदों से पूर्व के वैदिक साहित्य में कर्म विषयक चिन्तन का अभाव है पर आरण्यक व उपनिषदकाल में अदृष्ट रूप कर्म का वर्णन मिलता है। यह सत्य है कि कर्म को विश्व-वैचित्र्य का कारण मानने में उपनिषदों का भी एकमत नहीं रहा है। श्वेताश्वतर-उपनिषद् के प्रारम्भ में काल, स्वभाव,



नियति, यहृच्छा, भूत और पुरुष को ही विश्व-वैचित्र्य का कारण माना है, कर्म को नहीं ।

जो विद्वान् यह मानते हैं कि वेदों-संहिता ग्रंथों में कर्मवाद का वर्णन है, उनका कहना है कि वेदों में “कर्मवाद या कर्मगति” आदि शब्द भले ही न हों किन्तु उनमें कर्मवाद का उल्लेख अवश्य हुआ है । ऋग्वेद संहिता के निम्न मंत्र इस बात के ज्वलन्त प्रमाण हैं—**शुभस्पतिः** (शुभकर्मों के रक्षक), **धियस्पतिः** (सत्कार्यों के रक्षक), **विचर्षणिः** तथा **विश्वचर्षणिः** (शुभ और अशुभ कर्मों के द्रष्टा), **“विश्वस्य कर्मणो धर्ता”** (सभी कर्मों के आधार) आदि पद देवों के विशेषणों के रूप में व्यवहृत हुए हैं । कितने ही मंत्रों में स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया गया है कि शुभ कर्म करने से अमरत्व की उपलब्धि होती है । कर्मों के अनुसार ही जीव अनेक बार संसार में जन्म लेता है और मरता है । वामदेव ने अपने अनेक पूर्वभवों का वर्णन किया है । पूर्वजन्म के दुष्कृत्यों से ही लोग पाप कर्म में प्रवृत्त होते हैं—आदि उल्लेख वेदों के मंत्रों में हैं । पूर्वजन्म के पाप कृत्यों से मुक्त होने के लिए ही मानव देवों की अभ्यर्थना करता है । वेदमंत्रों में संचित और प्रारब्ध कर्मों का भी वर्णन है । साथ ही देवयान और पितृयान का वर्णन करते हुए कहा गया है कि श्रेष्ठ कर्म करने वाले लोग देवयान से ब्रह्मलोक को जाते हैं और साधारण कर्म करने वाले पितृयान से चन्द्रलोक जाते हैं । ऋग्वेद में पूर्वजन्म के निकृष्ट कर्मों के भोग के लिए जीव किस प्रकार वृक्ष, लता आदि स्थावर शरीरों में प्रविष्ट होता है, इसका वर्णन है । **“मा वो भुजेमान्य-जातमेनो”**, **“मा वा एनो अयकृतं भुजेम”** आदि मंत्रों से यह भी ज्ञात होता है कि एक जीव दूसरे जीव के द्वारा किये गये कर्मों को भी भोग सकता है और उससे बचने के लिए साधक ने इन मंत्रों में प्रार्थना की है । मुख्य रूप से जो जीव कर्म करता है वही उसके फल का उपभोग भी करता है, पर विशिष्ट शक्ति के प्रभाव से एक जीव के कर्मफल को दूसरा भी भोग सकता है ।

उपर्युक्त दोनों मतों का गहराई से अनुचिन्तन करने पर ऐसा स्पष्ट ज्ञात होता है कि वेदों में कर्म सम्बन्धी मान्यताओं का पूर्ण रूप से अभाव तो नहीं है, पर देववाद और यज्ञवाद के प्रभुत्व से कर्मवाद का विश्लेषण एकदम गौण हो गया है । यह सत्य है कि कर्म बया है, वे किस प्रकार बंधते हैं और किस प्रकार प्राणी उनसे मुक्त होते हैं आदि जिज्ञासाओं का समाधान वैदिक संहिताओं में नहीं है । वहाँ पर मुख्य रूप से, यज्ञकर्म को ही कर्म माना है और कदम-कदम पर देवों से सहायता के लिए याचना की है । जब यज्ञ और देव की अपेक्षा कर्मवाद का महत्त्व अधिक बढ़ने लगा, तब उसके समर्थकों ने उक्त दोनों वादों का कर्मवाद के साथ समन्वय करने का प्रयास किया और यज्ञ से ही समस्त फलों की प्राप्ति स्वीकार की । इस मन्तव्य का दार्शनिक रूप मीमांसा दर्शन है । यज्ञ विषयक विचारणा के साथ देव विषयक विचारणा का भी विकास हुआ ।

ब्राह्मणकाल में अनेक देवों के स्थान पर एक प्रजापति देव की प्रतिष्ठा हुई, उन्होंने भी कर्म के साथ प्रजापति का समन्वय कर कहा—प्राणी अपने कर्म के अनुसार फल अवश्य प्राप्त करता है परन्तु फल प्राप्ति अपने आप न होकर प्रजापति के द्वारा होती है। प्रजापति (ईश्वर) जीवों को अपने-अपने कर्म के अनुसार फल प्रदान करता है। वह न्यायाधीश की तरह है। इस विचारधारा का दार्शनिक रूप न्याय, वैशेषिक, शेष्वरसांख्य और वेदान्त दर्शन में हुआ है।

यज्ञ आदि अनुष्ठानों को वैदिक परम्परा में कर्म कहा गया है, वे अस्थायी हैं, उसी समय समाप्त हो जाते हैं, अतः वे किस प्रकार फल प्रदान कर सकते हैं? इसलिए फल प्रदान करने वाले एक अदृष्ट पदार्थ की कल्पना की, उसे मीमांसा दर्शन ने “अपूर्व” कहा। वैशेषिक दर्शन में “अदृष्ट” एक गुण माना गया है, जिसके धर्म-अधर्म रूप ये दो भेद हैं। न्यायदर्शन में धर्म और अधर्म को संस्कार कहा है। अच्छे बुरे कर्मों का आत्मा पर संस्कार पड़ता है, वह अदृष्ट है। अदृष्ट आत्मा का गुण है। जब तक उसका फल नहीं मिल जाता तब तक वह आत्मा के साथ रहता है। उसका फल ईश्वर के माध्यम से मिलता है। चूँकि यदि ईश्वर कर्मफल की व्यवस्था न करे तो कर्म निष्फल हो जाएँ। सांख्य कर्म को प्रकृति का विकार कहता है। श्रेष्ठ और कनिष्ठ प्रवृत्तियों का प्रकृति पर संस्कार पड़ता है। उस प्रकृतिगत संस्कार से ही कर्मों के फल प्राप्त होते हैं। इस प्रकार वैदिक परम्परा में कर्मवाद का विकास हुआ है।

### बौद्धदर्शन में कर्म :

बौद्ध और जैन ये दोनों कर्म-प्रधान श्रमण-संस्कृति की धाराएँ हैं। बौद्ध परम्परा ने भी कर्म की अदृष्ट शक्ति पर चिन्तन किया है। उसका अभिमत है कि जीवों में जो विचित्रता दृष्टिगोचर होती है वह कर्मकृत है। लोभ (राग), द्वेष और मोह से कर्म की उत्पत्ति होती है। रागद्वेष और मोहयुक्त होकर प्राणी, मन, वचन और काय की प्रवृत्तियाँ करता है और राग-द्वेष और मोह को उत्पन्न करता है। इस तरह संसार-चक्र निरन्तर चलता रहता है। जिस चक्र का न आदि है न अन्त है, किन्तु वह अनादि है।

एक बार राजा मिलिन्द ने आचार्य नागसेन से जिज्ञासा प्रस्तुत की कि जीव द्वारा किये गये कर्मों की स्थिति कहाँ है? समाधान करते हुए आचार्य ने कहा—यह दिखलाया नहीं जा सकता कि कर्म कहाँ रहते हैं।

‘विसुद्धिमग’ में कर्म को अरूपी कहा है। अभिधम्म कोष में उसे अविज्ञप्ति का रूप कहा है। यह रूप सप्रतिघ न होकर अप्रतिघ है। सौत्रांतिक मत की दृष्टि से कर्म का समावेश अरूप में है, वे अविज्ञप्ति को नहीं मानते। बौद्धों ने कर्म को सूक्ष्म माना है। मन, वचन और काय की जो प्रवृत्ति है वह कर्म

कहलाती है पर वह विज्ञप्ति रूप है, प्रत्यक्ष है। यहाँ पर कर्म का तात्पर्य मात्र प्रत्यक्ष प्रवृत्ति नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष कर्मजन्य संस्कार है। बौद्ध परिभाषा में इसे वासना और अविज्ञप्ति कहा है। मानसिक क्रियाजन्य संस्कार कर्म को वासना कहा है और वचन एवं कायजन्य संस्कार कर्म को अविज्ञप्ति कहा है।

विज्ञानवादी बौद्ध कर्म को वासना शब्द से पुकारते हैं। प्रज्ञाकर का अभिमत है कि—जितने भी कार्य हैं वे सभी वासनाजन्य हैं। ईश्वर हो या कर्म (क्रिया) प्रधान (प्रकृति) हो या अन्य कुछ, इन सभी का मूल वासना है। ईश्वर को न्यायाधीश मानकर यदि विश्व की विचित्रता की उपपत्ति की जाए तो भी वासना को माने बिना कार्य नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में कहें तो ईश्वर, प्रधान, कर्म इन सभी सरिताओं का प्रवाह वासना-समुद्र में मिलकर एक हो जाता है।

शून्यवादी मत के मन्तव्य के अनुसार अनादि अविद्या का अपर नाम ही वासना है।

### विलक्षण वर्णन :

जैन साहित्य में कर्मवाद के सम्बन्ध में पर्याप्त विश्लेषण किया गया है। जैन दर्शन में प्रतिपादित कर्म-व्यवस्था का जो वैज्ञानिक रूप है उसका किसी भी भारतीय परम्परा में दर्शन नहीं होता। जैन परम्परा इस दृष्टि से सर्वथा विलक्षण है।

### कर्म का अर्थ :

कर्म का शाब्दिक अर्थ कार्य, प्रवृत्ति या क्रिया है। जो कुछ भी किया जाता है वह कर्म है। सोना, बैठना, खाना, पीना आदि। जीवन व्यवहार में जो कुछ भी कार्य किया जाता है वह कर्म कहलाता है। व्याकरण शास्त्र के कर्ता पाणिनी ने 'कर्म' की व्याख्या करते हुए कहा—जो कर्ता के लिए अत्यन्त इष्ट हो वह कर्म है। वैशेषिक दर्शन में कर्म की परिभाषा इस प्रकार है—जो एक द्रव्य में समवाय से रहता हो, जिसमें कोई गुण न हो, और जो संयोग या विभाग में कारणान्तर की अपेक्षा न करे। सांख्य दर्शन में संस्कार के अर्थ में कर्म शब्द का प्रयोग मिलता है। गीता में कर्मशीलता को कर्म कहा है। न्याय शास्त्र में उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण तथा गमन रूप पाँच प्रकार की क्रियाओं के लिए कर्म शब्द व्यवहृत हुआ है। स्मार्त विद्वान् चार वर्णों और चार आश्रमों के कर्तव्यों को कर्म की संज्ञा प्रदान करते हैं। पौराणिक लोग व्रत-नियम आदि धार्मिक क्रियाओं को कर्म रूप कहते हैं। बौद्ध दर्शन जीवों की विचित्रता के कारण को कर्म कहता है जो वासना रूप है। जैन परम्परा में कर्म दो प्रकार का माना गया है—भावकर्म और द्रव्यकर्म। रागद्वेषात्मक परिणाम अर्थात्

कषाय भावकर्म कहलाता है। कार्मण जाति का पुद्गल-जड़तत्त्व विशेष जो कि कषाय के कारण आत्मा-चेतन तत्त्व के साथ मिल जाता है द्रव्यकर्म कहलाता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है—आत्मा के द्वारा प्राप्त होने से क्रिया को कर्म कहते हैं। उस क्रिया के निमित्त से परिणमत-विशेष प्राप्त पुद्गल भी कर्म है। कर्म जो पुद्गल का ही एक विशेष रूप है, आत्मा से भिन्न एक विजातीय तत्त्व है। जब तक आत्मा के साथ इस विजातीय तत्त्व कर्म का संयोग है, तभी तक संसार है और इस संयोग के नाश होने पर आत्मा मुक्त हो जाती है।

### विभिन्न परम्पराओं में कर्म :

जैन परम्परा में जिस अर्थ में 'कर्म' शब्द व्यवहृत हुआ है, उस या उससे मिलते-जुलते अर्थ में भारत के विभिन्न दर्शनों में माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट, संस्कार, दैव, भाग्य आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। वेदान्त दर्शन में माया, अविद्या और प्रकृति शब्दों का प्रयोग हुआ है। मीमांसा दर्शन में अपूर्व शब्द प्रयुक्त हुआ है। बौद्ध दर्शन में वासना और अविज्ञप्ति शब्दों का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। सांख्यदर्शन में 'आशय' शब्द विशेष रूप से मिलता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में अदृष्ट, संस्कार और धर्माधर्म शब्द विशेष रूप से प्रचलित हैं। दैव, भाग्य, पुण्य-पाप आदि ऐसे अनेक शब्द हैं जिनका प्रयोग सामान्य रूप से सभी दर्शनों में हुआ है। भारतीय दर्शनों में एक चार्वाक दर्शन ही ऐसा दर्शन है जिसका कर्मवाद में विश्वास नहीं है, क्योंकि वह आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं मानता इसलिए कर्म और उसके द्वारा होने वाले पुनर्भव, परलोक आदि को भी वह नहीं मानता है, किन्तु शेष सभी भारतीय दर्शन किसी न किसी रूप में कर्म की सत्ता मानते ही हैं।

न्याय दर्शन के अभिमतानुसार राग, द्वेष और मोह इन तीन दोषों से प्रेरणा संप्राप्त कर जीवों में मन, वचन और काय की प्रवृत्तियाँ होती हैं और उससे धर्म और अधर्म की उत्पत्ति होती है। ये धर्म और अधर्म संस्कार कहलाते हैं।

वैशेषिक दर्शन में चौबीस गुण माने गये हैं उनमें एक अदृष्ट भी है। यह गुण संस्कार से पृथक् है और धर्म-अधर्म ये दो उसके भेद हैं। इस तरह न्याय-दर्शन में धर्म-अधर्म का समावेश संस्कार में किया गया है। उन्हीं धर्म-अधर्म को वैशेषिक दर्शन में अदृष्ट के अन्तर्गत लिया गया है। राग आदि दोषों से संस्कार होता है, संस्कार से जन्म, जन्म से राग आदि दोष और उन दोषों से पुनः संस्कार उत्पन्न होते हैं। इस तरह जीवों की संसार-परम्परा बीजांकुरवत् अनादि है।

सांख्य योग दर्शन के अभिमतानुसार अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और

अभिनिवेश इन पाँच क्लेशों से क्लिष्टवृत्ति उत्पन्न होती है। प्रस्तुत क्लिष्टवृत्ति से घर्माघर्म रूपी संस्कार पैदा होता है। संस्कार को आशय, वासना, कर्म और अपूर्व भी कहा जाता है। क्लेश और संस्कार को बीजांकुरवत् अनादि माना है।

मीमांसा दर्शन का अभिमत है कि मानव द्वारा किया जाने वाला यज्ञ आदि अनुष्ठान अपूर्व नामक पदार्थ को उत्पन्न करता है और वह अपूर्व ही यज्ञ आदि जितने भी अनुष्ठान किये जाते हैं उन सभी कर्मों का फल देता है। दूसरे शब्दों में कहें तो वेद द्वारा प्ररूपित कर्म से उत्पन्न होने वाली योग्यता या शक्ति का नाम अपूर्व है। वहाँ पर अन्य कर्मजन्य सामर्थ्य को अपूर्व नहीं कहा है।

वेदान्त दर्शन का मन्तव्य है कि अनादि अविद्या या माया ही विश्व-वैचित्र्य का कारण है। ईश्वर कर्म के अनुसार जीव को फल प्रदान करता है, इसलिए फल प्राप्ति कर्म से नहीं अपितु ईश्वर से होती है।

बौद्ध दर्शन का अभिमत है कि मनोजन्य संस्कार वासना है और वचन और कायजन्य संस्कार अविज्ञप्ति है। लोभ, द्वेष और मोह से कर्मों की उत्पत्ति होती है। लोभ, द्वेष और मोह से ही प्राणी मन, वचन और काय की प्रवृत्तियाँ करता है और उससे पुनः लोभ, द्वेष और मोह पैदा करता है, इस तरह अनादि काल से यह संसार चक्र चल रहा है।

### जैन दर्शन में कर्म का स्वरूप :

अन्य दर्शनकार कर्म को जहाँ संस्कार या वासना रूप मानते हैं वहाँ जैन-दर्शन उसे पौद्गलिक मानता है। यह एक परखा हुआ सिद्धान्त है कि जिस वस्तु का जो गुण होता है वह उसका विघातक नहीं होता। आत्मा का गुण उसके लिए आवरण, पारतन्त्र्य और दुःख का हेतु नहीं हो सकता। कर्म आत्मा के आवरण, पारतन्त्र्य और दुःखों का कारण है, गुणों का विघातक है, अतः वह आत्मा का गुण नहीं हो सकता।

बेड़ी से मानव बंधता है, मदिरापान से पागल होता है और क्लोरोफार्म से बेभान। ये सभी पौद्गलिक वस्तुएँ हैं। ठीक इसी तरह कर्म के संयोग से आत्मा की भी ये दशाएँ होती हैं, अतः कर्म भी पौद्गलिक हैं। बेड़ी आदि का बन्धन बाहरी है, अल्प सामर्थ्य वाला है किन्तु कर्म आत्मा के साथ चिपके हुए हैं, अधिक सामर्थ्य वाले सूक्ष्म स्कन्ध हैं एतदर्थ ही बेड़ी आदि की अपेक्षा कर्म-परमाणुओं का जीवात्मा पर बहुत गहरा और आन्तरिक प्रभाव पड़ता है।

जो पुद्गल-परमाणु कर्म रूप में परिणत होते हैं उन्हें कर्म वर्गणा कहते हैं और जो शरीर रूप में परिणत होते हैं उन्हें नोकर्म वर्गणा कहते हैं। लोक

इन दोनों प्रकार के परमाणुओं से पूर्ण है। शरीर पौद्गलिक है, उसका कारण कर्म है, अतः वह भी पौद्गलिक है। पौद्गलिक कार्य का समवायी कारण पौद्गलिक है। मिट्टी आदि भौतिक हैं और उनसे निर्मित होने वाला पदार्थ भी भौतिक ही होगा।

अनुकूल आहार आदि से सुख की अनुभूति होती है और शस्त्रादि के प्रहार से दुःखानुभूति होती है। आहार और शस्त्र जैसे पौद्गलिक हैं वैसे ही सुख-दुःख के प्रदाता कर्म भी पौद्गलिक हैं।

बन्ध की दृष्टि से जीव और पुद्गल दोनों भिन्न नहीं हैं किन्तु एकमेक हैं, पर लक्षणा की दृष्टि से दोनों पृथक्-पृथक् हैं। जीव अमूर्त व चेतना युक्त है जबकि पुद्गल मूर्त और अचेतन है।

इन्द्रियों के विषय-स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द ये मूर्त हैं और उनका उपभोग करने वाली इन्द्रियाँ भी मूर्त हैं। उनसे उत्पन्न होने वाला सुख-दुःख भी मूर्त है, अतः उनके कारणभूत कर्म भी मूर्त हैं।

मूर्त ही मूर्त को स्पर्श करता है। मूर्त ही मूर्त से बंधता है। अमूर्त जीव मूर्त कर्मों को अवकाश देता है। वह उन कर्मों से अवकाशरूप हो जाता है।

गीता, उपनिषद् आदि में श्रेष्ठ और कनिष्ठ कार्यों के अर्थ में “कर्म” शब्द व्यवहृत हुआ है। वैसे जैन दर्शन में कर्म शब्द क्रिया का वाचक नहीं रहा है। उसके मन्तव्यानुसार वह आत्मा पर लगे हुए सूक्ष्म पौद्गलिक पदार्थ का वाचक है।

जीव अपने मन, वचन और काय को प्रवृत्तियों से कर्म-वर्गणा के पुद्गलों को आकर्षित करता है। मन, वचन और काय की प्रवृत्ति तभी होती है जब जीव के साथ कर्म का सम्बद्ध हो। जीव के साथ कर्म तभी सम्बद्ध होता है जब मन, वचन, काय की प्रवृत्ति हो। इस तरह प्रवृत्ति से कर्म और कर्म से प्रवृत्ति की परम्परा अनादि काल से चल रही है। कर्म और प्रवृत्ति के कार्य और कारण भाव को लक्ष्य में रखते हुए पुद्गल परमाणुओं के पिण्डरूप कर्म को द्रव्यकर्म कहा है और राग-द्वेषादि रूप प्रवृत्तियों को भावकर्म कहा है। इस तरह कर्म के मुख्य रूप से दो भेद हुए— द्रव्यकर्म और भावकर्म। द्रव्यकर्म के होने में भावकर्म और भावकर्म के होने में द्रव्यकर्म कारण है। जैसे वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष की परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है, इसी प्रकार द्रव्यकर्म से भावकर्म और भावकर्म से द्रव्यकर्म का सिलसिला भी अनादि है।

कर्म पर चिन्तन करते समय यह स्मरण रखना चाहिए कि जड़ और

चेतन तत्त्वों के सम्मिश्रण से ही कर्म का निर्माण होता है। द्रव्यकर्म ही या भावकर्म उसमें जड़ और चेतन नामक दोनों प्रकार के तत्त्व मिले रहते हैं। जड़ और चेतन के मिश्रण हुए बिना कर्म की रचना नहीं हो सकती। द्रव्य और भावकर्म में पुद्गल और आत्मा की प्रधानता और अप्रधानता मुख्य है, किन्तु एक दूसरे के सद्भाव और असद्भाव का कारण मुख्य नहीं है। द्रव्यकर्म में पौद्गलिक तत्त्व की मुख्यता होती है और आत्मिक तत्त्व गौण होता है। भावकर्म में आत्मिक तत्त्व की प्रधानता होती है और पौद्गलिक तत्त्व गौण होता है। प्रश्न है द्रव्यकर्म को पुद्गल परमाणुओं को शुद्ध पिण्ड मानें तो कर्म और पुद्गल में अन्तर ही क्या रहेगा ? इसी तरह भावकर्म को आत्मा की शुद्ध प्रवृत्ति मानी जाय तो आत्मा और कर्म में भेद क्या रहेगा ?

उत्तर में निवेदन है कि कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व पर चिन्तन करते समय संसारी आत्मा और मुक्त आत्मा का अन्तर स्मरण रखना चाहिए। कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का सम्बन्ध संसारी आत्मा से है, मुक्त आत्मा से नहीं है। संसारी आत्मा कर्मों से बंधा है, उसमें चैतन्य और जड़त्व का मिश्रण है। मुक्त आत्मा कर्मों से रहित होता है और उसमें विशुद्ध चैतन्य ही होता है। बद्ध आत्मा की मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति के कारण जो पुद्गल परमाणु आकृष्ट होकर परस्पर एक-दूसरे के साथ मिल जाते हैं, नीरक्षीरवत् एक हो जाते हैं, वे कर्म कहलाते हैं। इस तरह कर्म भी जड़ और चेतन का मिश्रण है। प्रश्न हो सकता है कि संसारी आत्मा भी जड़ और चेतन का मिश्रण है और कर्म में भी वही बात है, तब दोनों में अन्तर क्या है ? उत्तर है कि संसारी आत्मा का चेतन अंश जीव कहलाता है और जड़ अंश कर्म कहलाता है। वे चेतन और जड़ अंश इस प्रकार के नहीं हैं जिनका संसार-अवस्था में अलग-अलग रूप से अनुभव किया जा सके। इनका पृथक्करण मुक्तावस्था में ही होता है। संसारी आत्मा सदैव कर्म युक्त ही होती है। जब वह कर्म से मुक्त हो जाती है तब वह संसारी आत्मा नहीं, मुक्त आत्मा कहलाती है। कर्म जब आत्मा से पृथक् हो जाता है तब वह कर्म नहीं शुद्ध पुद्गल कहलाता है। आत्मा से सम्बद्ध पुद्गल द्रव्यकर्म है और द्रव्यकर्म युक्त आत्मा की प्रवृत्ति भावकर्म है। गहराई से चिन्तन करने पर आत्मा और पुद्गल के तीन रूप होते हैं—(१) शुद्ध आत्मा— जो मुक्तावस्था में है, (२) शुद्ध पुद्गल, (३) आत्मा और पुद्गल का सम्मिश्रण— जो संसारी आत्मा में है। कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का सम्बन्ध आत्मा और पुद्गल की सम्मिश्रण अवस्था में है।



जैनदर्शन या कई अन्य दर्शन आत्मा को अपने शुद्ध मूल स्वभाव की दृष्टि से समान मानते हैं। मूलतः आत्माओं के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। परन्तु विश्व के विशाल मंच पर सभी धर्मों और दर्शनों के व्यक्तियों से लेकर साधारण जनता तक सभी का यह प्रत्यक्ष अनुभव है कि सभी आत्माएं एक-सी नहीं हैं, एकरूप नहीं हैं। जिधर दृष्टि दौड़ाते हैं, उधर ही विविधता, विचित्रता और विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। इन विभिन्नताओं की दृष्टि से ही धर्मशास्त्रों में ४ गतियां और ८४ लाख जीव-योनियां मानी गई हैं। सभी गतियों और योनियों की परिस्थिति भी एक-सी नहीं है। कोई पशु-पक्षी रूप में है तो कोई मनुष्य रूप में है, कोई देवता रूप में है तो कोई नारकजीव के रूप में है। इतना ही नहीं, एक ही तरह के प्राणियों में भी हजारों-लाखों भेद की रेखाएं हैं। एक मनुष्य जाति को ही ले लें; उसमें भी कोई क्रूर है, तो कोई दयालु है, कोई सरलता की मूर्ति है तो कोई कुटिलता की प्रतिमूर्ति, कोई संयमी है तो कोई परले दर्जे का असंयमी; कोई लोभी-लालची है तो कोई सन्तोषी उदार है; कोई राग-द्वेष से अत्यन्त लिप्त है, तो कोई वीतराग है। मनुष्यों में भी शरीर, मन, बुद्धि, धन आदि को लेकर भी असंख्य भिन्नताएं हैं। कोई शरीर से दुबला-पतला है तो कोई हट्टा-कट्टा, मोटा-ताजा, कोई सुन्दर सुरूप है तो कोई काला कुरूप है, कोई जन्म से ही रोगी है, तो कोई बिलकुल स्वस्थ एवं नीरोगी है; किसी का शरीर बिलकुल बेडोल, बौना, अंगहीन है, तो किसी का सुडोल, कदावर एवं पूर्णांग है। कोई अल्पायु है तो कोई चिरायु, कोई रोब वाला है, तो कोई सर्वथा प्रभावहीन। कोई अहंकार का पुतला है तो कोई नम्र एवं निरभिमान। कोई मायावी एवं कपटी है तो दूसरा बिलकुल सरल, निश्छल एवं निष्कपट। कोई दुःख की भट्टी में बुरी तरह तप रहा है, जबकि कोई सुख चैन की बंसी बजा रहा है। कोई निपट मूर्ख, निरक्षर भट्टाचार्य है, तो कोई बुद्धिमान और प्रतिभाशाली है। किसी के पास धन का ढेर लगा हुआ है तो कोई पैसे-पैसे के लिए मुहताज हो रहा है। कोई छोटा है तो कोई बड़ा। कोई बालक है, कोई युवक है, कोई वृद्ध है।

प्रश्न है कि यह विभिन्नता क्यों ? 'एगे आया'<sup>१</sup> (आत्मा समान है) के



सूत्रानुसार आत्मा जब आत्मा है तो उसका रूप एक-सा होना चाहिए। इतनी विरूपता और विचित्रता क्यों? एक ही तत्त्व में दो विरोधी रूप नहीं होने चाहिए। यदि हैं तो उनमें से कोई एक ही रूप मौलिक एवं वास्तविक होना चाहिए। दोनों तो वास्तविक एवं मौलिक नहीं हो सकते। अतः आत्मा के किस रूप को वास्तविक माना जाए? अन्धकार और प्रकाश दोनों एक नहीं हो सकते।

इसका समाधान जैनदर्शन ने इस प्रकार किया है—आत्माओं की यह विभिन्नता, विविधता या विरूपता उनकी अपनी नहीं है, स्वरूपगत नहीं है। आत्मा तो शुद्ध सोना है। मूलतः उसमें कोई भेद नहीं है, किसी भी प्रकार की विविधता या विरूपता नहीं है। जो आत्मा का स्वरूप निगोद के जीव में है, वही स्वरूप नारकी, तिर्यचो, देवों और मनुष्यों की आत्मा का है, वही स्वरूप मोक्षगत मुक्त आत्माओं का है, इसमें तिलमात्र भी भेद नहीं है। अघ्यात्म जगत् के विश्लेषणकार जैन कवि द्यानतरायजी कह रहे हैं :—

जो निगोद में सो मुझ मांही, सोई है शिवथाना ।  
 'द्यानत' निहचे रंचभेद नहीं, जाने सो मतिवाना ॥  
 आपा प्रभु जाना, मैं जाना ।

अतः यह निश्चित सिद्धान्त है कि द्रव्य दृष्टि से, अर्थात् अपने मूल स्वरूप से सभी आत्माएं शुद्ध हैं,<sup>१</sup> एक स्वरूप हैं,<sup>२</sup> अशुद्ध कोई नहीं है। जो अशुद्धता है, विरूपता है, भेद है, विभिन्नता है, वह सब विभाव से—पर्याय दृष्टि से है। जिस प्रकार जल में उष्णता बाहर के तेजस् पदार्थों के संयोग से उत्पन्न होती है, उसी प्रकार आत्मा में भी काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, सुख-दुःख आदि की विरूपता-विभिन्नता बाहर से आती है, अन्दर से नहीं। अन्दर में हर आत्मा में चैतन्य का प्रकाश जगमगा रहा है।

प्रश्न होता है, आत्माओं में विभिन्नता, विरूपता या अशुद्धि अहेतुक या आकस्मिक है या सहेतुक-सकारणक? यदि अशुद्धता को अहेतुक माना जाए तो फिर वह कभी दूर नहीं हो सकेगी, क्योंकि वह फिर सदा के लिए रहेगी। ऐसी स्थिति में आत्मा में सुषुप्त परमात्म तत्त्व को जगाने, आत्मा के अनन्त प्रकाश को आवृत्त करने वाले आवरणों से मुक्ति पाने की साधना का कोई अर्थ नहीं रह जाता। इसलिए जल में आई हुई उष्णता की तरह आत्मा में आई हुई अशुद्धता सहेतुक है, अहेतुक नहीं।

१. सब्बे सुद्धा ह् सुद्धणया'—द्रव्य संग्रह ।

२. एगे आया—स्थानांग सू० १ ।

इस दृश्यमान विश्व में दो प्रकार के पदार्थ दिखाई देते हैं—चेतन (जीव) और अचेतन (जड़ या अजीव)। दोनों के गुण-धर्म, अस्तित्व और क्रियाएं पृथक्-पृथक् हैं। तब फिर इनमें विकार, विभिन्नता और अशुद्धता दिखने का क्या कारण है? कारण है—विजातीय पदार्थ का संयोग।

प्रत्येक पदार्थ के समान गुण-धर्म, निजी स्वभाव तथा उससे मेल खाने वाली क्रिया से सम्बन्धित पदार्थ सजातीय कहलाता है। तथा उस पदार्थ के स्वभाव, गुण धर्म तथा क्रिया से विपरीत स्वभाव, गुणधर्म या क्रिया वाला पदार्थ कहलाता है—विजातीय। सजातीय पदार्थों के संयोग से विकार पैदा नहीं होता, विकार पैदा होता है—सजातीय के साथ विजातीय पदार्थों के संयोग के कारण। जीव के लिए अजीव विजातीय पदार्थ है। जब जीव के साथ अजीव का संयोग होता है तो जीव (आत्मा) में विकार उत्पन्न होता है। निष्कर्ष यह है—कर्म नाम का यह अजीव ही एक विजातीय पदार्थ है, जो आत्माओं की शुद्धता को भंग करके उनकी स्थिति में भेद डालता है, विरूपता या विभिन्नता पैदा करता है। जैसे सौ टंची सोना शुद्ध है, सभी सोना स्वर्ण दृष्टि से समान है, लेकिन उसमें विजातीय तत्त्व 'खोट' मिल जाने पर विविधता या विरूपता पैदा हो जाती है। इसी प्रकार शुद्ध आत्माओं के साथ कर्म नामक विजातीय अजीव पुद्गल मिल जाने से आत्माओं में विरूपता या विभिन्नता पैदा हो जाती है। विश्व की आत्माओं (जीवों) में अशुद्धता, विभिन्नता या विषमताओं का भी एक बीज है—विजातीय कारण है—जिसका स्वभाव आत्मा से अलग है, वह बीज (कारण) है—कर्म। इसीलिए आचारांग सूत्र में कहा गया है—

'कम्मुणा उवाही जायह'।<sup>१</sup>

कर्म बीज के कारण ही जीवों की नाना उपाधियां हैं, विविध अवस्थाएं हैं।

आत्मा की विभिन्न सांसारिक परिणतियों—अवस्थाओं के लिए सभी आत्मवादी दार्शनिकों ने कर्म को ही कारण माना है।

भगवती सूत्र में भगवान् महावीर ने इस प्रश्न का इसी प्रकार का उत्तर दिया है :—

'कम्मओणं भंते ! जीवे, नो-अकम्मओ विमत्तिभावं परिणमई ?

कम्मओणं, जओ णो अकम्म ओ विमत्तिभावं परिणमई।<sup>२</sup>

१. आचारांग सूत्र १।३।१।

२. भगवती सूत्र १२।५।

प्रत्येक जीव के सुखःदुःख तथा तत्सम्बन्धी नानाविध स्थितियां क्या कर्म की विविधता-विक्रमता पर अवलम्बित हैं, अकर्म पर तो नहीं हैं? गौतम ! समस्त संसारी जीवों के कर्मबीज भिन्न-भिन्न होने के कारण ही उनकी स्थिति और दशा में अन्तर है, विभिन्नता है, अकर्म के कारण नहीं ।

आचार्य देवेन्द्र सूरि इसे और अधिक स्पष्टता के साथ कहते हैं :—

‘क्ष्माभृद्-रंकयोर्मनीषिजडयोः सद्रूप-निरूपयोः,  
श्रीमद् - दुर्गतयोर्बलाबलवतानीरोगरोमात्तयोः ।  
सौभाग्याऽसुभगत्वसंगमजुषोस्तुल्येऽति नृत्वेऽन्तरं,  
यत्तत्कर्मनिबन्धनं तदपि नो जीव विना युक्तिम् ॥’

राजा-रंक, बुद्धिमान-मूर्ख, सुरूप-कुरूप, धनिक-निर्धन, सबल-निर्बल, रोगी-निरोगी, भाग्यशाली-अभागा, इन सब में मनुष्यत्व समान होने पर भी जो अन्तर दिखाई देता है, वह सब कर्मकृत है और वह कर्म जीव (आत्मा) के बिना हो नहीं सकता । कर्म के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है ?

कई लोग, जिनमें मुख्य रूप से नास्तिक, चार्वाक आदि हैं, कहते हैं— कर्म सिद्धान्त को मानने की क्या आवश्यकता है, इसी लोक में पांच भूतों के संयोग से अच्छा-बुरा जो कुछ मिलता है, मिल जाता है, इससे आगे कुछ नहीं होता, शरीर जलकर यहीं खाक हो जाता है, फिर कहीं आना है, न जाना है । परन्तु चार्वाक के इस कथन का खण्डन इस बात से हो जाता है । एक सरीखी मिट्टी और एक ही कुम्हार द्वारा बनाये जाने वाले घड़ों में पंचभूत समान होते हुए भी अन्तर क्यों दिखाई देता है ? इसी प्रकार एक ही माता-पिता के दो, एक साथ उत्पन्न हुए बालकों में साधन और पंचभूत एक से होने पर भी उनकी बुद्धि, शक्ति आदि में अन्तर पाया जाता है, इस अन्तर का कारण कर्म को— पूर्वकृत कर्म को माने बिना कोई चारा नहीं । यही बात जिन भद्र गणि क्षमा-श्रमण कर रहे हैं—

जो तुल्लसाहणाराणं फले विसेसो ण सो विणा हेउं ।  
कज्जतणओ गोयमा ! घडोव्व हेऊ य सो कम्म ॥<sup>२</sup>

एक सरीखे साधन होने पर भी फल (परिणाम) में जो तारतम्य या अन्तर मानव जगत में दिखाई दे रहा है, बिना कारण के नहीं हो सकता । जैसे

१. कर्मग्रंथ, प्रथम टीका ।

२. विशेषावश्यक भाष्य ।

एक सरीखी मिट्टी और एक ही कुम्हार द्वारा बनाये जाने वाले घड़ों में विभिन्नता पाई जाती है, वैसे ही एक सरीखे साधन होने पर भी मानवों में जो अन्तर पाया जाता है, उसका कोई न कोई कारण होना चाहिए, गौतम ! विविधता का वह कारण कर्म ही है ।

पंचाध्यायी में इसी सिद्धान्त का समर्थन किया गया है—

एको दरिद्र एको हि श्रीमानिति च कर्मणः ।<sup>१</sup>

कर्म की सिद्धि में यही अकाट्य प्रमाण है—इस संसार में कोई दरिद्र है तो कोई धनी (यह कर्म के ही कारण है) ।

आत्मा को मणि की उपमा देते हुए तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक में इसी तथ्य का उद्घाटन किया गया है—

‘मलावृतमणेव्यक्तिर्यथानेकविचेक्ष्यते ।

कर्मावृतात्मनस्तद्वत् योग्यता विविधा न किम् !’<sup>२</sup>

जिस प्रकार मल से आवृत मणि की अभिव्यक्ति विविध रूपों में होती है, उसी प्रकार कर्म-मल से आवृत आत्मा की विविध अवस्थाएँ या योग्यताएँ दृष्टिगोचर होती हैं ।

दूसरी बात यह है कि अगर कर्म को नहीं माना जाएगा तो जन्म-जन्मान्तर एवं इहलोक-परलोक का सम्बन्ध घटित नहीं हो सकेगा । अगर संसारी आत्मा के साथ कर्म नाम की किसी चीज का संयोग नहीं है, और सभी आत्माएँ समान हैं, तब तो सबका शरीरादि एक सरीखा होना चाहिए, सबको मन, बुद्धि, इन्द्रिय तथा भौतिक सम्पदाएँ एवं वातावरण आदि एक सरीखे मिलने चाहिए, परन्तु ऐसा कदापि सम्भव नहीं होता, इसलिए कर्म को उसका कारण मानना अनिवार्य है । इसी दृष्टि से ‘आचारांग सूत्र’ में आत्मा को मानने वाले के लिए तीन बातें और मानना आवश्यक बताया है—

‘से आयावादी लोगावादी कम्मावादी किरियावादी’<sup>३</sup>

जो आत्मवादी (आत्मा को जानने-मानने वाला) होता है वह लोकवादी (इहलोक-परलोक आदि मानने वाला) अवश्य होता है । जो लोकवादी होता है, उसे शुभ-अशुभ कर्म को अवश्य मानना होता है, इसलिए वह कर्मवादी अवश्य

१. पंचाध्यायी २।५० ।

२. तत्त्वार्थ श्लोक वा० १११ ।

३. आचारांग सूत्र १, सूत्र ३ ।

होता है और जो कर्मवादी होता है, उसे क्रियावादी अवश्य ही होना पड़ता है, क्योंकि क्रिया से कर्म होते हैं ।

आत्मा की विभिन्न अवस्थाओं, गतियों और योनियों को तथा पुनर्जन्म सम्बन्धी कई घटनाओं को देखते हुए यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि कर्मत्व को माने बिना ये सब सिद्ध नहीं होते ।

माता के गर्भ में आने से लेकर जन्म होने तक बालक को जो दुःख भोगने पड़ते हैं, उन्हें बालक के इस जन्म के कर्मफल तो नहीं कह सकते, क्योंकि गर्भावस्था में तो बालक ने कोई भी अच्छा या बुरा काम नहीं किया है और न ही उन दुःखों को माता-पिता के कर्मों का फल कह सकते हैं, क्योंकि माता-पिता जो भी अच्छे-बुरे कार्य करें, उसका फल बालक को अकारण ही क्यों भोगना पड़े ? और बालक जो भी दुःख गर्भावस्था में भोगता है, उसे अकारण मानना तो न्यायोचित नहीं है, कारण के बिना कोई भी कार्य हो नहीं सकता, यह अकाट्य सिद्धान्त है । यदि यों कहा जाए कि गर्भावस्था में ही माता-पिता के आचार-विचार, आहार-विहार और शारीरिक-मानसिक अवस्थाओं का प्रभाव बालक पर पड़ने लगता है । ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि बालक को ऐसे माता-पिता क्यों मिले ? अन्ततोगत्वा, इसका उत्तर यही होगा कि गर्भस्थ शिशु के पूर्वजन्मकृत जैसे कर्म थे, तदनुसार उसे वैसे माता-पिता, सुख-दुःख एवं अनुकूल-प्रतिकूल संयोग मिले ।

कई बार यह देखने में आता है कि माता-पिता बिलकुल अनपढ़ हैं, और उनका बालक प्रतिभाशाली विद्वान् है । बालक का शरीर तो माता-पिता के रज-वीर्य से बना है, फिर उनमें अविद्यमान ज्ञानतंतु बालक के मस्तिष्क में आए कहां से ? कहीं-कहीं इससे बिलकुल विपरीत देखा जाता है कि माता-पिता की योग्यता बहुत ही बड़ी-चढ़ी है, लेकिन उनका लड़का हज़ार प्रयत्न करने पर भी विद्वान् एवं योग्य न बन सका, मूर्खराज ही रहा । कहीं-कहीं माता-पिता की सी ज्ञानशक्ति बालक में देखी जाती है । एक छात्रावास में एक ही कक्षा के छात्रों को एक-सी साधन-सुविधा, देखरेख, परिस्थिति और अध्यापक मंडली मिलने पर तथा समय भी एक-सरीखा मिलने पर कई छात्रों की बौद्धिक क्षमता, प्रतिभा-शक्ति और स्फुरणा गजब की होती है, जबकि कई छात्र मन्द बुद्धि, पढ़ने में सुस्त, बौद्धिक क्षमता में बहुत कमजोर होते हैं । इसके अतिरिक्त एक-एक साथ जन्मे हुए दो बालकों की एक-सी परवरिश एवं देखभाल होने पर भी समान नहीं होते । एक स्थूल बुद्धि एवं साधारण-सा रहता है, दूसरा विलक्षण, कुशल और योग्य बन जाता है, एक का रोग से पीछा नहीं छूटता, दूसरा मस्त पहलवान-सा है । एक दीर्घायु बनता है, जबकि दूसरा असमय में ही मौत का मेहमान बन जाता है । यह तो इतिहासविद् जानते हैं कि जितनी शक्ति

महाराणा प्रताप, शिवाजी आदि में थी, उतनी उनकी सन्तानों में नहीं थी। जो बौद्धिक शक्ति हेमचन्द्राचार्य में थी, वह उनके माता-पिता में नहीं थी। कर्म सिद्धान्त को माने बिना इन सबका यथोचित समाधान नहीं हो सकता। क्योंकि इस जन्म में दिखाई देने वाली विलक्षणताएं न तो वर्तमान जन्म के कार्यों का फल है, और न ही माता-पिता की कृति का, न सिर्फ परिस्थिति का है। इसके लिए पूर्वजन्म के शुभाशुभ कर्मों को मानना पड़ता है, इस प्रकार एक पूर्वजन्म सिद्ध होते ही अनेक पूर्वजन्मों की शृंखला सिद्ध हो जाती है, क्योंकि असाधारण ज्ञानशक्ति किसी एक ही जन्म के अभ्यास का फल नहीं हो सकती। गीता में भी इसका समर्थन किया गया है—

‘अनेक जन्म संसिद्धिस्ततो यान्ति परां गतिम् ।’

अनेक जन्मों में जाकर अन्तःकरण शुद्धिरूप सिद्धि प्राप्त होती है, उसके पश्चात् साधक परा (मोक्ष) गति को प्राप्त कर लेता है।

बालक जन्म लेते ही माता का स्तनपान करता है, भूख-प्यास लगने पर रोता है, डरता है, अपनी मां को पहचानने लगता है, ये सब प्रवृत्तियां बिना ही सिखाए बालक को स्वतः सूझ जाती हैं, इसके पीछे पूर्वजन्मकृत कर्म ही कारण हैं।

अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ ।

—आचारांग १।३।१

जो कर्म में से अकर्म की स्थिति में पहुँच गया है, वह तत्त्वदर्शी लोक व्यवहार को सीमा से परे हो गया है।

सव्वे सयकम्मकप्पिया

—सूत्रकृतांग १।२।६।१८

सभी प्राणी अपने कृत-कर्मों के कारण नाना योनियों में भ्रमण करते हैं।

जहा कड कम्म, तहासि भारे ।

—सूत्रकृतांग १।५।१।२६

जैसा किया हुआ कर्म, वैसा ही उसका भोग।

कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ।

—उत्तराध्ययनं १३।२३

कर्म सदा कर्ता के पीछे-पीछे (साथ) चलते हैं।

कर्म के मुख्य भेद दो हैं—द्रव्य कर्म और भाव कर्म । कर्म और प्रवृत्ति के कार्य और कारण भाव को संलक्ष्य में लेकर पुद्गल परमाणुओं के पिण्ड रूप कर्म को द्रव्य-कर्म कहा है और राग-द्वेष रूप प्रवृत्तियों को भाव कर्म कहा जाता है । जैसे वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष की परम्परा अनादि काल से चलती आ रही है, ठीक उसी प्रकार द्रव्यकर्म से भावकर्म और भावकर्म से द्रव्यकर्म की परम्परा अर्थात् सिलसिला भी अनादि है । इस सन्दर्भ में यह भी कहा जा सकता है कि आत्मा से सम्बन्ध जो कार्मणवर्गणा है, पुद्गल है—वह द्रव्यकर्म है । द्रव्यकर्म युक्त आत्मा की जो प्रवृत्ति है, 'रागद्वेषात्मक जो भाव है वह भावकर्म है ।

द्रव्यकर्म की मूलभूत प्रवृत्तियाँ आठ हैं<sup>१</sup>—जो सांसारिक-आत्मा को अनुकूल और प्रतिकूल फल प्रदान करती हैं । उनके नाम इस प्रकार हैं—

१—ज्ञानावरणीय	५—आयु
२—दर्शनावरणीय	६—नाम
३—वेदनीय	७—गोत्र
४—मोहनीय	८—अन्तराय

१. (क) नाणस्सावरणिज्जं दंसणावरणं तथा ।  
वेयणिज्जं तद्वा मोहं आउकम्मं तद्देव य ॥  
नामकम्मं च गोयं च, अन्तरायं तद्देव य ।  
एवमेयाइं कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३३/२-३ ॥

(ख) स्थानाङ्ग सूत्र ८/३/५६६ ॥

(ग) भगवती सूत्र शतक-६ उद्देशा ६

(घ) प्रज्ञापना सूत्र २३/१ ॥

(ङ) प्रथम कर्म ग्रन्थ गाथा-३ ॥

इन आठ कर्म प्रवृत्तियों के संक्षिप्त रूप से दो अवान्तर भेद हैं—चार घाती कर्म<sup>१</sup> और चार अघाती<sup>२</sup> कर्म ।

घातीकर्म	अघातीकर्म
१—ज्ञानावरणीय	१—वेदनीय
२—दर्शनावरणीय	२—आयु
३—मोहनीय	३—नाम
४—अन्तराय	४—गोत्र

जो कर्म आत्मा के स्वाभाविक गुणों को आच्छादित करते हैं, उन्हें विकसित नहीं होने देते हैं, वे कर्म घाती कर्म हैं । इन घाती कर्मों की अनुभाग-शक्ति का असर आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदि गुणों पर होता है । जिससे आत्मिक-गुणों का विकास अवरुद्ध हो जाता है । घाती कर्म आत्मा के मुख्य गुण अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त-वीर्य गुणों का घात करता है । जिससे आत्मा अपना विकास नहीं कर पाती है । जो अघाती कर्म आत्मा के निज-गुणों का प्रतिघात तो नहीं करता है, किन्तु आत्मा के जो प्रतिजीवी गुण हैं उनका घात करता है अतः वह अघाती कर्म है । इन अघाती-कर्मों की अनुभाग शक्ति का असर जीव के गुणों पर तो नहीं होता, किन्तु अघाती कर्मों के उदय से आत्मा का पौद्गलिक-द्रव्यों से सम्बन्ध जुड़ जाता है । जिससे आत्मा 'अमूर्तोऽपि मूर्त इव' प्रतीत होती है । यही कारण है कि अघाती-कर्म के कारण आत्मा शरीर के कारागृह में আবদ্ধ रहती है जिससे आत्मा के अव्यावाध सुख, अटल अवगाहना, अमूर्तिकत्व और अगुरुलघु गुण प्रकट नहीं होते हैं ।

### १. ज्ञानावरणीय कर्म :

जीव का लक्षण उपयोग है ।<sup>३</sup> उपयोग शब्द ज्ञान और दर्शन इन दोनों का संग्राहक है ।<sup>४</sup> ज्ञान साकारोपयोग है और दर्शन निराकारोपयोग है ।<sup>५</sup>

१. (क) गोम्मटसार कर्मकाण्ड ६ ॥  
(ख) पंचाध्यायी २/६६८ ॥
२. (क) पंचाध्यायी २/६६६ ॥  
(ख) गोम्मटसार-कर्मकाण्ड-६ ॥
३. (क) उवओगलक्खणेण जीवे—भगवती सूत्र १३/४/४/८० ॥  
(ख) उवओगलक्खणे जीवे —भगवती सूत्र २/१० ॥  
(ग) गुणओ उवओगगुणे —स्थानांग सूत्र ५/३/५३० ॥  
(घ) जीवो उवओगलक्खणो—उत्तराध्ययन सूत्र २८/१० ॥  
(ङ) द्रव्यसंग्रह गाथा-१  
(च) तत्त्वार्थ सूत्र-२/८ ॥
४. जीवो उवओगमओ, उवओगो णाणदंसणो होई ॥  
नियमसार-१० ॥
५. तत्त्वार्थ सूत्र भाष्य २/६ ॥



इस कर्म के प्रभाव से ज्ञानोपयोग आच्छादित रहता है। आत्मा का जो ज्योतिर्मय स्वभाव है, वह इस कर्म से आवृत्त हो जाता है। प्रस्तुत कर्म की परितुलना कपड़े की पट्टी से की गई है। जिस प्रकार नेत्रों पर कपड़े की पट्टी लगाने पर नेत्र-ज्योति या नेत्र ज्ञान अवरुद्ध हो जाता है उसी प्रकार इस ज्ञानावरण-कर्म के कारण आत्मा की समस्त वस्तुओं को यथार्थ रूप से जानने की ज्ञान-शक्ति आच्छन्न हो जाती है।<sup>१</sup> ज्ञानावरण कर्म की उत्तर-प्रकृतियाँ पाँच प्रकार की हैं<sup>२</sup>—

१—मतिज्ञानावरण

३—अवधिज्ञानावरण

२—श्रुतज्ञानावरण

४—मनःपर्याय ज्ञानावरण

५—केवल ज्ञानावरण ।

इस कर्म की उत्तर प्रकृतियों का वर्गीकरण देशघाती और सर्वघाती इन दो भेदों के रूप में भी हुआ है। जो प्रकृति-स्वघात्य ज्ञानगुण का पूर्णरूपेण घात करती है वह सर्वघाती है और जो ज्ञानगुण का आंशिक रूप से घात करती है वह प्रकृति देश-घाती कहलाती है। देश-घाती प्रकृतियाँ चार हैं, वे ये हैं—मति ज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण और मनःपर्याय ज्ञानावरण और सर्वघाती प्रकृति केवलज्ञानावरणीय है। सर्वघाती प्रकृति का अभिप्राय यह है कि केवलज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञान गुण को सर्वथा रूप से आच्छादित नहीं करता है। परन्तु यह केवल “केवलज्ञान” का ही सर्वथा निरोध करता है। निगोद-अवस्था में भी जीवों के उत्कट-ज्ञानावरणीय कर्म-उदित रहता है। जिस प्रकार दीप्तिमान्-सूर्य घनघोर घटाओं से आच्छादित होने पर भी उसका प्रखर-प्रकाश आंशिक रूप से अनावृत्त रहता है। जिसके कारण ही दिन और रात का भेद भी ज्ञात हो जाता है। उसी प्रकार ज्ञान का जो अनंतवां भाग है वह भी

१. (क) सरउगयससिनिम्मलयरस्स जीवस्स छायाणं जमिहं ।

राणावरणं कम्मं पडोवमं होइ एवं तु ॥

स्थानांग टीका—२/४/१०५ ॥

(ख) प्रथम कर्मग्रन्थ—गाथा—६

२. (क) नाणावरणं पंचविहं, सुयं आभिशिबोहियं ।

ओहिनाणं च तइयं, मणानाणं च केवलं ॥

उत्तराध्ययन सूत्र—३३/४ ॥

(ख) तत्त्वार्थ सूत्र—८/६—७ ॥

(ग) प्रज्ञापना सूत्र—२३/२

सदा-सर्वदा अनावृत्त रहता है ।<sup>१</sup> जैसे घनघोर-घटाओं को विदीर्ण करता हुआ सूर्य प्रकाशमान् हो उठता है, उसकी स्वर्णिम-प्रभा भूमण्डल पर आती है पर सभी भवनों पर उसकी दिव्य किरणें एक समान नहीं गिरतीं । भवनों की बनावटों के अनुसार मन्द, मन्दतर और मन्दतम गिरती हैं, वैसे ही ज्ञान का दिव्य आलोक मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण आदि कर्म-प्रकृतियों के उदय के तारतम्य के अनुसार मन्द, मन्दतर और मन्दतम हो जाता है । ज्ञान आत्मा का एक मौलिक गुण है । वह पूर्णरूपेण कभी भी तिरोहित नहीं हो सकता । यदि वह दिव्य गुण तिरोहित हो जाय तो जीव अजीव हो जाएगा । इस कर्म की न्यूनतम स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटा-कोटि सागरोपम की है ।<sup>२</sup>

## २. दर्शनावरणीय कर्म :

वस्तुओं की विशेषता को ग्रहण किये बिना उनके सामान्य धर्म का बोध करना दर्शनोपयोग है ।<sup>३</sup> इस कर्म के कारण दर्शनोपयोग आच्छादित होता है । जब दर्शन गुण परिसीमित होता है, तब ज्ञानोपलब्धि का द्वार भी अवरुद्ध हो जाता है । प्रस्तुत कर्म की परितुलना अनुशास्ता के उस द्वारपाल के साथ की गई है जो अनुशासक से किसी व्यक्ति को मिलने में बाधा पहुँचाता है, उसी

१. (क) सन्वजीवाणं पि य एणं अक्खरस्स  
अणंतभागे णिच्चु षाड्ढिओ हवइ ।  
जइ पुणं सो वि आवरिज्जा तेणं जीवा अजीवत्तं पावेज्जा ।  
सुट्ठवि मेहसमुदये होइ पभा चन्दसुराणं ।

नन्दीसूत्र—४३ ॥

- (ख) देशः-ज्ञानास्याऽऽभिनिबोधिकादिभावृणोतीति देशज्ञानावरणीयम्, सर्वं ज्ञानं केवलाख्यमावृणोतीति सर्वज्ञानावरणीयं केवलावरणं हि आदित्य कल्पस्य केवलज्ञानरूपस्य । जीवस्याच्छादकतया सान्द्रमेघवृन्दकल्पमितितत्सर्वज्ञानावरणं । मत्याद्यावरणं तु घनातिच्छादितादित्येषत्प्रभाकल्पस्य केवलज्ञानदेशस्य कटकृत्वादिरूपावरणसुत्यमिति देशावरणमिति ।

स्थानांग सूत्र—२/४/१०५ टीका

२. (क) तस्वार्थं सूत्र—८/१५

- (ख) पंचम कर्म ग्रन्थ गाथा—२६

उत्तराध्ययन सूत्र—३३/१६—२० ॥

३. जं सामन्नगहणं भाङ्गाणं नेव कट्टु आगारं ।  
अविसेसिज्जाण अत्थे, उंसणमिह वुच्चए समये ॥

प्रकार दर्शनावरण कर्म भी पदार्थों के सामान्य धर्म के बोध को रोकता है,<sup>१</sup> तात्पर्य यह है कि इसके प्रभाव से वस्तु-तत्त्व के सामान्य धर्म का बोध नहीं हो सकता ।

दर्शनावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ निम्नलिखित हैं—

१—चक्षुदर्शनावरण	५—निद्रा
२—अचक्षुदर्शनावरण	६—निद्रानिद्रा
३—अवधिदर्शनावरण	७—प्रचला
४—केवलदर्शनावरण	८—प्रचलाप्रचला
९—स्त्यानद्धि	

दर्शनावरणीय कर्म भी देशघाती और सर्वघाती के भेद से दो प्रकार का है । चक्षु, अचक्षु और अवधिदर्शनावरण ये तीन प्रकृतियाँ देशघाती हैं और इनके अतिरिक्त छह प्रकृतियाँ सर्वघाती हैं । सर्वघाती प्रकृतियों में केवल दर्शनावरण प्रमुख हैं । दर्शनावरण का पूर्णतः क्षय होने पर जीव की अनन्त दर्शन-शक्ति प्रगट हो जाती है, जब उसका क्षयोपशम होता है तब चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन का प्रगटन होता है । इस कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटा-कोटि सागरोपम की और न्यूनतम स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है ।<sup>३</sup>

### ३. वेदनीय कर्म :

वेदनीय कर्म आत्मा के अव्याबाध गुण को आवृत्त करता है । इसके उदय से आत्मा को सुख-दुःख की अनुभूति होती है, यह दो प्रकार का है<sup>४</sup>—साता-वेदनीय और असाता वेदनीय । सातावेदनीय कर्म के प्रभाव से जीव को भौतिक सुखों की उपलब्धि होती है और असातावेदनीय कर्म के उदय होने पर दुःख

- 
१. (क) प्रथम कर्मग्रन्थ—९ (ख) गोम्मटसार कर्मकाण्ड—२१  
(ग) स्थानांग सूत्र २/४/१०५ ॥ टीका
२. (क) समवायाङ्ग सूत्र—९ (ख) स्थानांग सूत्र ८/३/६६८  
(ग) प्रज्ञापना सूत्र—२३/१ ॥ (घ) उत्तराध्ययन सूत्र ३३/५-८
३. (क) उत्तराध्ययन सूत्र—३३/१९—२०  
(ख) प्रज्ञापना सूत्र पद—२९ उ० २ सूत्र—२९३  
(ग) तत्त्वार्थसूत्र—८/१५ ।  
(घ) पंचम कर्मग्रन्थ गाथा—२६
४. (क) स्थानांग सूत्र २/१०५ ॥  
(ख) वेदनीयं पि बुद्धिं सायमसायं च आहियं ॥  
उत्तराध्ययन सूत्र—३३/७

प्राप्त होता है ।<sup>१</sup> इस कर्म की परितुलना मधु से लिप्त तलवार की धार से की गई है । तलवार की धार पर परिलिप्त मधु का आस्वादन करने के समान सातावेदनीय कर्म है और जीभ के कट जाने के सदृश असातावेदनीय है ।

सातावेदनीय के आठ प्रकार इस प्रकार से प्रतिपादित हैं—<sup>२</sup>

१—मनोज्ञ शब्द	५—मनोज्ञ स्पर्श
२—मनोज्ञ रूप	६—सुखित मन
३—मनोज्ञ गन्ध	७—सुखित वाणी
४—मनोज्ञ रस	८—सुखित काय

असातावेदनीय कर्म के आठ प्रकार हैं, उनके नाम इस प्रकार से प्रतिपादित हैं ।<sup>३</sup>

१—अमनोज्ञ शब्द	५—अमनोज्ञ स्पर्श
२—अमनोज्ञ रूप	६—दुःखित मन
३—अमनोज्ञ गन्ध	७—दुःखित वाणी
४—अमनोज्ञ रस	८—दुःखित काय

वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम की है ।<sup>४</sup> भगवती सूत्र में उल्लेख मिलता है कि वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति दो समय की है ।<sup>५</sup> यहाँ यह सहज ही प्रश्न

१. तत्त्वार्थ सूत्र ८/८ सर्वार्थसिद्धि ॥ टीका ।

२. (क) प्रज्ञापना सूत्र—२३/३ ॥

(ख) स्थानाङ्ग सूत्र—८/४८८ ॥

३. (क) असायावेदणज्जे रां भंते ! कम्मे कतिविधे पण्णत्ते ? गोयमा ! अट्ठविधे पन्नत्ते तं जहा अमणुष्णा सद्दा, जाव कायदुहया ॥

प्रज्ञापना सूत्र—२३/३/१५

(ख) स्थानाङ्ग सूत्र ८/४८८

४. (क) उदही सरिसनामाणं तीसई कोडिकोडीओ ।

उक्कोसिया ठिई होइ अन्तोमुहूर्तं जहसिया ॥

आवरणिज्जाण दुण्हं पि, वेयणिज्जे तहेव य ।

अन्तराण य कम्मम्मि, ठिई एसा वियाहिया ॥

उत्तराध्ययन सूत्र—३३/१६—२०

(ख) प्रज्ञापना सूत्र—२३/२/२१—२६ ॥

५. वेदणज्जं जह दो समया ॥

भगवती सूत्र ६/३ ॥

उद्बुद्ध हो सकता है कि—प्रज्ञापना, उत्तराध्ययन इन दोनों आगमों में इस कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की बताई है और भगवती सूत्र में दो समय की कही गई है। इन दोनों कथनों में विरोध लगता है पर ऐसा है नहीं कारण कि मुहूर्त के अन्तर्गत जितना भी समय आता है वह अन्तर्मुहूर्त कहलाता है। दो समय को अन्तर्मुहूर्त कहने में कोई बाधा या विसंगति नहीं है। वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त है, ऐसा कथन सर्वथा-संगत है।

#### ४. मोहनीय कर्म :

जो कर्म आत्मा में मूढ़ता उत्पन्न करता है वह मोहनीय कर्म कहलाता है। अष्टविध कर्मों में यह कर्म सबसे अधिक शक्तिशाली है, सातकर्म प्रजा हैं तो मोहनीय कर्म राजा है। इसके प्रभाव से वीतराग भाव भी प्रगट नहीं होता है। वह आत्मा के परम-शुद्ध भाव को विकृत कर देता है। इसके कारण ही आत्मा राग-द्वेषात्मक-विकारों से ग्रसित हो जाता है।

इस कर्म की परितुलना मदिरापान से की गई है। जैसे व्यक्ति मदिरापान से परवश हो जाता है उसे किञ्चित् मात्र भी स्व तथा पर के स्वरूप का भान नहीं होता है।<sup>१</sup> वह स्व-पर के विवेक से विहीन हो जाता है। वैसे ही मोहनीय-कर्म के उदय-काल में जीव को हिताहित का, तत्त्व-अतत्त्व का भेद-विज्ञान नहीं हो सकता, वह संसार के ताने-बाने में उलझा हुआ रहता है।

मोहनीय-कर्म का वर्गीकरण दो प्रकार से किया गया है<sup>२</sup>—

१—दर्शन मोहनीय

२—चारित्र्य मोहनीय

जो व्यक्ति मदिरापान करता है, उसकी बुद्धि कुण्ठित हो जाती, मूर्च्छित हो जाती है। ठीक इसी प्रकार दर्शन मोहनीय-कर्म के उदय पर आत्मा का विवेक भी विलुप्त हो जाता है, यही कारण है कि वह अनात्मोप-पदार्थों को आत्मीय समझने लगता है।<sup>३</sup>

१. (क) मज्जं व मोहणीयं

प्रथम कर्मग्रन्थ—गाथा—१३

(ख) गोम्मटसार कर्मकाण्ड—२१

(ग) जह मज्जपाणमूढो, लोए पुरिसो परव्वसो होइ ।

तह मोहेणविमूढो, जीवो उ परव्वसो होइ ॥

स्थानांग सूत्र २/४/१०५ टीका

२. (क) मोहणिज्जं पि दुबिहं, दंसरो चरणे तथा ।

उत्तराध्ययन सूत्र ३३/८ ॥

(ख) मोहणिज्जे कम्मे दुबिहे पणणत्ते तं जहा-दंसण मोहणिज्जे चेव चरित्तमोहणिज्जे चेव ॥

स्थानांग सूत्र २/४/१०५ ॥

(ग) प्रज्ञापना सूत्र २३/२ ॥

३. पंचाध्यायी २/६८-६-७ ॥

दर्शन-मोहनीय के तीन प्रकार हैं—<sup>१</sup> १. सम्यक्त्व-मोहनीय, २. मिथ्यात्व मोहनीय, ३. मिश्र मोहनीय । इन तीनों में मिथ्यात्व मोहनीय सर्वघाती है, सम्यक्त्व मोहनीय देशघाती है<sup>२</sup> और मिश्रमोहनीय जात्यन्तर सर्वघाती है । मोहनीय कर्म का दूसरा प्रकार चारित्रमोह है । इस प्रकृति के प्रभाव से आत्मा का चरित्र गुण विकसित नहीं होता है ।<sup>३</sup>

चारित्र मोहनीय के दो प्रकार प्रतिपादित हैं<sup>४</sup>—१. कषाय मोहनीय, २. नोकषाय मोहनीय । कषायमोहनीय का वर्गीकरण सोलह प्रकार से हुआ है और नोकषाय के नौ या सात प्रकार हैं ।<sup>५</sup> कषाय मोहनीय के सोलह प्रकार इस रूप में वर्णित हैं—

१-अनन्तानुबन्धी क्रोध	६-प्रत्याख्यानावरण क्रोध
२-अनन्तानुबन्धी मान	१०-प्रत्याख्यानावरण मान
३-अनन्तानुबन्धी माया	११-प्रत्याख्यानावरण माया
४-अनन्तानुबन्धी लोभ	१२-प्रत्याख्यानावरण लोभ
५-अप्रत्याख्यानावरण क्रोध	१३-संज्वलन क्रोध
६-अप्रत्याख्यानावरण मान	१४-संज्वलन मान
७-अप्रत्याख्यानावरण माया	१५-संज्वलन माया
८-अप्रत्याख्यानावरण लोभ	१६-संज्वलन लोभ ।

- 
१. सम्मत्तं चेव मिच्छत्तं, सम्मामिच्छन्तमेव य ।  
एयाओ तिसि पवडीओ, मोहरिणज्जस्स दंसरो ॥  
उत्तराध्ययन सूत्र ३३/६ ॥
२. (क) केवलाणाणावरणं दंसराछक्कं च मोहबारसगं ।  
ता सव्वघाइसन्ना, भवंति मिच्छत्तवीसइमं ॥  
स्थानांग सूत्र २/४/१०५ टीका  
(ख) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) ३६ ॥
३. पंचाध्यायी-२१/६ ॥
४. (क) प्रज्ञापना सूत्र-२३/२ ॥  
(ख) चारित्तमोहणं कम्मं दुविहं तं वियाहियं ।  
कसायमोहरिणज्जं तु नोकसायं तहेव य ॥  
उत्तराध्ययन सूत्र-३१/१० ॥
५. (क) सोलसविहभेएणं, कम्मं तु कसायजं ।  
सत्तविहं नवविहं वा, कम्मं च नोकसायजं ॥  
उत्तराध्ययन सूत्र-३३/११ ॥  
(ख) प्रज्ञापना सूत्र २३/२ ॥  
(ग) समवायांग सूत्र-समवाय-१६

इस प्रकार कषायमोहनीय के सोलह भेद हुए । इसके उदय से सांसारिक प्राणियों में क्रोधादि कषाय उत्पन्न होते हैं । कषाय शब्द कष और आय इन दो शब्दों से निष्पन्न हुआ है । कष का अर्थ है—संसार और आय का अर्थ है—लाभ । तात्पर्य यह है कि जिससे संसार अर्थात् भव-भ्रमण की अभिवृद्धि होती है वह कषाय कहलाता है ।<sup>१</sup>

अनन्तानुबन्धी चतुष्क के उदय से आत्मा अनन्तकाल-पर्यन्त संसार में परिभ्रमणशील रहता है, यह कषाय सम्यक्त्व का प्रतिघात करता है<sup>२</sup> अप्रत्याख्यानावरणाय चतुष्क के प्रभाव से श्रावक धर्म अर्थात् देश-विरति की प्राप्ति नहीं होती है ।<sup>३</sup> प्रत्याख्यानावरण चतुष्क के प्रभाव से श्रमण धर्म<sup>४</sup> की प्राप्ति नहीं हो सकती ।<sup>५</sup> संज्वलन कषाय के उदय से यथाख्यात चारित्र्य अर्थात् उत्कृष्ट चारित्र्य धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती ।<sup>६</sup>

अनन्तानुबन्धी चतुष्क की स्थिति यावज्जीवन की है । अप्रत्याख्यानी चतुष्क की एक वर्ष की है, प्रत्याख्यानी कषाय की चार भास की है और संज्वलन कषाय की स्थिति एक पक्ष की है ।<sup>७</sup>

नोकषाय मोहनीय—जिन का उदय कषायों के साथ होता रहता है, अथवा जो कषायों को उत्तेजित करते हैं, वे नोकषाय कहलाते हैं ।<sup>८</sup> इसका दूसरा

१. कम्मं कसो भवो वा, कसमातो सि कसाया वो ।

कसमाययति व जतो, गमयति कसं कसायत्ति ॥

विशेषावश्यक भाष्य गाथा—१२२७ ॥

२. तत्त्वार्थं सूत्र भाष्य—अ० ८ सूत्र—१० ॥

३. अप्रत्याख्यान कषायोदयाद्विरतिर्न भवति ।

तत्त्वार्थं भाष्य—८/१० ॥

४. तत्त्वार्थं सूत्र—८/१० ॥ भाष्य ॥

५. तत्त्वार्थं सूत्र ८/१० भाष्य

६. (क) गोम्मटसार, जीवकाण्ड—२८३ ॥

(ख) संज्वलनकषायोदयाद्यथाख्यातचारित्र्यलाभो न भवति

तत्त्वार्थं सूत्र ८/१० भाष्य

७. (क) जाजीववरिसच्चउमासपक्खगानरयतिरयनर अमरा ।

सम्माणुसव्वविरई अहखायचरित्तधायकरा ॥

—प्रथम कर्मग्रन्थ—गाथा १८

(ख) अंतो मुहुत्तपक्खं छम्भासं संरवणंतं भवं ।

संजलसामादियाणं वासणकालो हु बोद्धव्वो ॥

गोम्मटसार कर्म काण्ड ॥

८. कषायसहवृत्तित्वात्, कषायप्रेरणादपि ।

हास्यादिनवकस्योक्ता, नोकषायकषायता ॥

नाम अकाषाय भी है ।<sup>१</sup> अकषाय का अर्थ कषाय का अभाव नहीं, किन्तु ईसत् कषाय, अल्प कषाय है । इसके नव प्रकार हैं—

१—हास्य	५—शोक
२—रति	६—जुगुप्सा
३—अरति	७—स्त्रीवेद
४—भय	८—पुरुषवेद

९—नपुंसकवेद

इस प्रकार चारित्र्य मोहनीय की इन पच्चीस प्रकृतियों में से संज्वलन-कषाय चतुष्क और नोकषाय ये देशघाती हैं, और अवशेष जो बारह प्रकृतियाँ हैं वे सर्वघाती कहलाती हैं ।<sup>२</sup> इस कर्म की जघन्य-स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटाकोटि सागरोपम की है ।<sup>३</sup>

#### ५. आयुष्य कर्म :

आयुष्यकर्म के प्रभाव से प्राणी जीवित रहता है और इस का क्षय होने पर मृत्यु का वरण करता है ।<sup>४</sup> यह जीवन अवधि का नियामक तत्त्व है । इसकी परितुलना कारागृह से की गई है । जिस प्रकार न्यायाधीश अपराधी के अपराध को संलक्ष्य में रखकर उसे नियतकाल तक कारागृह में डाल देता है, जब तक अवधि पूर्ण नहीं होती है तब तक वह कारागृह से विमुक्त नहीं हो सकता । उसी प्रकार आयुष्य-कर्म के कारण ही सांसारिक जीव रस, देह-पिण्ड से मुक्त नहीं हो सकता ।<sup>५</sup> इस कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ चार हैं—<sup>६</sup>

१—नरकायु	३—मनुष्यायु
२—तिर्यञ्चायु	४—देवायु ।

१. तत्त्वार्थराजवार्तिक—८/६-१० ॥

२. स्थानांग सूत्र-टीका-२/४/१०५ ॥

३. (क) उत्तराध्ययन सूत्र-३३/२१

(ख) सप्ततिर्मोहनीयस्य ।

४. प्रज्ञापना सूत्र २३/१ ॥

५. (क) जीवस्य अवद्वानं करेदि आऊ हडिन्व रांरं ।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड-११

(ख) सुरनरतिरिनरथाऊ हडिसरिसं

प्रथम कर्म ग्रन्थ-२३ ॥

६. नेरइयतिरिक्खाउं मणुस्साउं तहेव य ।

देवाउयं चउत्थं तु आउकम्मं चउत्थिहं ॥

उत्तराध्ययन सूत्र ३३/१२ ॥



आयुष्क कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम वर्ष की है ।<sup>१</sup>

### ६. नाम कर्म :

जिस कर्म के कारण आत्मा गति, जाति, शरीर आदि पर्यायों के अनुभव करने के लिये बाध्य होती है वह नाम कर्म है ।<sup>२</sup> इस कर्म की तुलना चित्रकार से की गई है । जिस प्रकार एक चित्रकार अपनी कमनीय कल्पना में मानव, पशु-पक्षी आदि विविध प्रकारों के चित्र चित्रित कर देता है, उसी प्रकार नाम-कर्म भी नारक-तियँच, मनुष्य और देव के शरीर आदि को संरचना करता है । तात्पर्य यह है कि यह कर्म शरीर, इन्द्रिय, आकृति, यश-अपयश आदि का निर्माण करता है ।<sup>३</sup>

नामकर्म के प्रमुख प्रकार दो हैं—शुभ और अशुभ ।<sup>४</sup> अशुभ नामकर्म पापरूप हैं और शुभ नामकर्म पुण्यरूप हैं ।

नामकर्म की उत्तर प्रकृतियों की संख्या के सम्बन्ध में अनेक विचार-धाराएँ हैं । मुख्य रूप से नामकर्म की प्रकृतियों का उल्लेख इस प्रकार से मिलता है—नामकर्म की बयालीस उत्तर प्रकृतियाँ भी होती हैं ।<sup>५</sup> जैन आगम-साहित्य में व अन्य ग्रन्थों में नामकर्म के तिरानवे भेदों का भी उल्लेख प्राप्त होता है ।<sup>६</sup>

१. उत्तराध्ययन सूत्र—३३/२२ ।

२. नामयति—गत्यादिपर्यायानुभवनं प्रति प्रवणायति जीवमिति नाम ।

प्रज्ञापना सूत्र २३/१/२८८ टीका

३. जह चित्तयदो निउणो अणोणरुवाइं कुणइं रुवाइं ।

सोहणमसोहणाइं चोक्खमचोक्खेहिं वणोहिं ॥

तह नामंपि तु कम्मं अणोणरुवाइं कुणइं जीवस्स ।

सोहणमसोहणाइं इट्ठाणिट्ठाइं लोयस्स ॥

स्थानांग सूत्र—२/४ ॥ १०५ टीका

४. नामं कम्मं तु दुविहं, सुहमसुहं व आहियं ॥

उत्तराध्ययन ३३/१३ ॥

५. (क) प्रज्ञापना सूत्र—२३/२—२६३

(ख) तत्त्वार्थ सूत्र—८/१२ ॥

(ग) नामकम्मे बायालीसविहे पण्णत्ते !

समवायांग सूत्र—समवाय—४२

६. (क) प्रज्ञापना सूत्र—२३/२/२६३ ॥

(ख) गोम्मटसार—कर्मकाण्ड—२२ ॥

कर्म-विपाक ग्रन्थ में एक सौ तीन भेदों का प्रतिपादन मिलता है।<sup>१</sup> अन्यत्र इकहत्तर उत्तर प्रकृतियों का उल्लेख मिलता है, जिनमें शुभ नामकर्म की सैंतीस प्रकृतियाँ मानी गई हैं।<sup>२</sup>

बयालीस प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं—

१. गतिनाम	२२. स्थावरनाम
२. जातिनाम	२३. सूक्ष्मनाम
३. शरीरनाम	२४. बादरनाम
४. शरीर अंगोपाङ्गनाम	२५. पर्याप्तनाम
५. शरीर बन्धननाम	२६. अपर्याप्तनाम
६. शरीर संघातननाम	२७. साधारण शरीरनाम
७. संहनननाम	२८. प्रत्येक शरीरनाम
८. संस्थाननाम	२९. स्थिरनाम
९. वर्णनाम	३०. अस्थिरनाम
१०. गन्धनाम	३१. शुभनाम
११. रसनाम	३२. अशुभनाम
१२. स्पर्शनाम	३३. सुभगनाम
१३. अगुरुलघुनाम	३४. दुर्भगनाम
१४. उपघातनाम	३५. सुस्वरनाम
१५. परघातनाम	३६. दुःस्वरनाम
१६. आनुपूर्वीनाम	३७. आदेय नाम
१७. उच्छ्वासनाम	३८. अनादेय नाम
१८. घ्रातपनाम	३९. यशः कीर्तिनाम
१९. उद्योतनाम	४०. अयशः कीर्तिनाम
२०. विहायोगतिनाम	४१. निर्माणनाम
२१. त्रसनाम	४२. तीर्थकर नाम

नामकर्म की जघन्यस्थिति आठ मुहूर्त की है और उत्कृष्ट-स्थिति बीस कोटाकोटि सागरोपम की है।<sup>३</sup>

१. कर्मग्रन्थ प्रथम-भाग गाथा-३

२. सत्तत्तीसं नासस्स पयई ओ पुन्नमाह (हु) ता य इमो ॥

नघतस्वप्रकरणम्-७ भाष्य-३७ ॥

३. (क) उदहीत्तरिसनामाणं बीसई कोडिकोडीओ ।

नामगोत्ताणं उक्कोसा, अट्टमुहुत्ता जहन्निया ॥

उत्तराध्ययन सूत्र-३३/२३

(ख) तत्त्वार्थ सूत्र-८/१७-२० ॥

## ७. गोत्र कर्म :

जिस कर्म के उदय से जीव उच्च अथवा नीच कुल में जन्म लेता है, उसे गोत्र कर्म कहते हैं।<sup>१</sup> गोत्र कर्म दो प्रकार का<sup>२</sup> है—१—उच्चगोत्र कर्म, २—नीच गोत्र कर्म ।

जिस कर्म के उदय से जीव उत्तम कुल में जन्म लेता है वह उच्च गोत्र कहलाता है । जिस कर्म के उदय से जीव नीच कुल में जन्मता है, वह नीच गोत्र है । धर्म और नीति के सम्बन्ध से जिस कुल ने अतीतकाल से ख्याति अर्जित की है, वह उच्चकुल कहलाता है जैसे हरिवंश, इक्ष्वाकुवंश, चन्द्रवंश इत्यादि । अधर्म एवं अनैति क करने से जिस कुल ने अतीतकाल से अपकीर्ति प्राप्त की हो वह नीचकुल है । उदाहरण के लिये—मद्यविकेता, वधक इत्यादि ।<sup>३</sup>

उच्चगोत्र की उत्तर प्रकृतियाँ आठ हैं<sup>४</sup>—

१—जाति उच्चगोत्र	५—तप उच्चगोत्र
२—कुल उच्चगोत्र	६—श्रुत उच्चगोत्र
३—बल उच्चगोत्र	७—लाभ उच्चगोत्र
४—रूप उच्चगोत्र	८—ऐश्वर्य उच्चगोत्र

नीच गोत्रकर्म के आठ प्रकार प्रतिपादित हैं ।<sup>५</sup>

१—जाति नीचगोत्र	५—तप नीचगोत्र
२—कुल नीचगोत्र	६—श्रुत नीचगोत्र
३—बल नीचगोत्र	७—लाभ नीचगोत्र
४—रूप नीचगोत्र	८—ऐश्वर्य नीचगोत्र

जाति और कुल के सम्बन्ध में यह बात ज्ञातव्य है कि—मातृपक्ष को जाति और पितृपक्ष को कुल कहा जाता है । गोत्रकर्म कुम्भकार के सदृश है । जैसे कुम्हार छोटे-बड़े अनेक प्रकार के घड़ों का निर्माण करता है, उनमें से कुछ घड़े ऐसे होते हैं जिन्हें लोग कलश बनाकर, चन्दन, अक्षत, आदि से चर्चित

१. प्रज्ञापना सूत्र २३/१/२८८ टीका ॥

२. (क) गोयं कम्मं तु दुविहं, उच्चं नीयं च आहियं ॥

उत्तराध्ययन सूत्र—३३/१४ ॥

(ख) प्रज्ञापना सूत्र पद—२३/उ० सू० २६३ ॥

(ग) तत्त्वार्थ सूत्र—अ० ८ सूत्र—१२ ॥

३. तत्त्वार्थ सूत्र ८/१३ ॥ भाष्य ॥

४. उच्च अट्ठविहं होइ ।

उत्तराध्ययन सूत्र—३३/१४

५. प्रज्ञापना सूत्र २३/१/२६२

करते हैं, अर्थात् वे घड़े कलश रूप होते हैं अतः वे पूजा योग्य हैं। और कितने ही घड़े ऐसे होते हैं, जिनमें निन्दनीय पदार्थ रखे जाते हैं और इस कारण वे निम्न माने जाते हैं। इसी प्रकार इस कर्म के प्रभाव से जीव उच्च और नीच कुल में उत्पन्न होता है।<sup>१</sup> इस कर्म की अल्पतम स्थिति आठ मुहूर्त की है और उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटि सागरोपम की बताई गई है।<sup>२</sup>

#### ८. अन्तराय कर्म :

जिस कर्म के प्रभाव से एक बार अथवा अनेक बार सामर्थ्य सम्प्राप्त करने और भोगने में अवरोध उपस्थित होता है, वह अन्तराय कर्म कहलाता है।<sup>३</sup> इस कर्म की उत्तर-प्रकृतियाँ पाँच प्रकार की हैं—<sup>४</sup>

- |                     |                     |
|---------------------|---------------------|
| १-दान अन्तराय कर्म  | २-लाभ अन्तरायकर्म   |
| ३-भोग अन्तराय कर्म  | ४-उपभोग अन्तरायकर्म |
| ५-वीर्य अन्तरायकर्म |                     |

यह कर्म दो प्रकार का है—१-प्रत्युत्पन्न विनाशी अन्तरायकर्म २-पिहित आगामिपथ अन्तरायकर्म।<sup>५</sup> इसकी न्यूनतम स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम की बताई गई है।<sup>६</sup>

अन्तराय कर्म राजा के भण्डारी के सदृश है। राजा का भण्डारी राजा के द्वारा आदेश दिये जाने पर दान देने में विघ्न डालता है, आनाकानी करता है, उसी प्रकार प्रस्तुत कर्म भी दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में विघ्न-बाधाएँ उपस्थित कर देता है।<sup>७</sup>

इस प्रकार कर्म परमाणु कार्य-भेद की विवक्षा के अनुसार आठ विभागों में बँट जाते हैं। कर्म की प्रधान अवस्थाएँ दो हैं—बन्ध और उदय। इस तथ्य

१. जह कुंभारो भंडाई कुणइ पुज्जेयराइ लोयस्स ।

इय भोयं कुणइ जियं, लोए पुज्जेयरानत्थं ॥

स्थानांग सूत्र-२/४/१०५ टीका

२. उत्तराध्ययन सूत्र-अ० ३३/२३ ॥

३. पंचाध्यायी २/१००७ ॥

४. दासो, लाभे य भोगे य, उपभोगे वीरिए तहा ।

पंचविहमंतरायं समासेण विद्याहियं ॥

उत्तराध्ययन सूत्र-३३/१५

५. स्थानांग सूत्र २/४/१०५

६. उत्तराध्ययन सूत्र-अध्ययन-३३ गाथा-१६

७. स्थानांग सूत्र-**श्री. श्री. कै. प्रसागर** ३

को यों भी अभिव्यक्त किया जा सकता है कि—ग्रहण और फल ! कर्म-संग्रहण में जीव परतन्त्र नहीं है और उस कर्म का फल भोगने में वह स्वतन्त्र नहीं है, कल्पना कीजिये—एक व्यक्ति वृक्ष पर चढ़ जाता है, चढ़ने में वह अवश्य स्वतन्त्र है । वह स्वेच्छा से वृक्ष पर चढ़ता है । प्रमाद के कारण वह वृक्ष से गिर जाय ! गिरने में वह स्वतन्त्र नहीं है । इच्छा से वह गिरना नहीं चाहता है तथापि वह गिर पड़ता है । निष्कर्ष यह है कि वह गिरने में परतन्त्र है ।

वस्तुतः कर्मशास्त्र के गुरु गम्भीर रहस्यों का परिज्ञान होना अतीव आवश्यक है । रहस्यों के परिबोध के बिना आध्यात्मिक-चेतना का विकास-पथ प्रशस्त नहीं हो सकता । इसलिये कर्मशास्त्र की जितनी भी गहराइयाँ हैं, उनमें उतरकर उनके सूक्ष्म रहस्यों को पकड़ने का प्रयत्न किया जाय । उद्घाटित करने की दिशा में अग्रसर होने का उपक्रम करना होगा ।

हमारी जो आध्यात्मिक चेतना है, उसका सारा का सारा विकास क्रम मोह के विलय पर आधारित है । मोह का आवेग जितना प्रबल होता जाता है, मूर्च्छा भी प्रबल और सघन हो जाती है, परिणामतः हमारा आचार व विचार पक्ष भी विकृत एवं निर्बल होता चला जाता है । उसके जीवन-प्राङ्गण में विपर्यय ही विपर्यय का चक्र घूमता है । जब मोह के आवेग की तीव्रता में मन्दता आती है, तब स्पष्ट है कि उसकी आध्यात्मिक चेतना का विकास-क्रम भी बढ़ता जाता है । उसको भेद-विज्ञान की उपलब्धि होती है । मैं इस क्षयमाण शरीर से भिन्न हूँ, मैं स्वयं शरीर रूप नहीं हूँ । इस स्वर्णिम समय में अन्तर्दृष्टि उद्घाटित होती है । वह दिव्य दृष्टि के द्वारा अपने आप में विद्यमान परमात्म-तत्त्व से साक्षात्कार करता है ।

इस प्रकार प्रस्तुत निबन्ध की परिधि को संलक्ष्य में रखकर जैन कर्म-सिद्धान्त के सम्बन्ध में शोध-प्रधान आयामों को उद्घाटित करने की दिशा में विनम्र उपक्रम किया गया है । यह एक ध्रुव-सत्य है कि जैन-साहित्य के अगाध-अपार महासागर में कर्म-वाद-विषयक बहुआयामी सन्दर्भों की रत्नराशि जगमगा रही है । जिससे जैन-वाङ्मय का विश्व-साहित्य में शिरसि-शेखराय-माण स्थान है ।



कर्म सिद्धान्त भारत के आस्तिक दर्शनों का नवनीत है। उसकी आधार-शिला है। कर्म की नींव पर ही उसका भव्य महल खड़ा हुआ है। कर्म के स्वरूप निर्याय में विचारों की, मतों की विभिन्नता होगी पर अध्यात्म सिद्धि कर्म मुक्ति के केन्द्र स्थान पर फलित होती है, इसमें दो मत नहीं हो सकते। प्रत्येक दर्शन ने किसी न किसी रूप में कर्म की मीमांसा को है। चूँकि जगत् की विभक्ति, विचित्रता व साधनों की समानता होने पर भी फल के तारतम्य या अन्तर को सहेतुक माना है।

लौकिक भाषा में कर्म कर्त्तव्य है। कारक की परिभाषा से कर्ता का व्याप्य कर्म है। वेदान्ती अविद्या, बौद्ध वासना, सांख्य क्लेश और न्याय वैशेषिक अदृष्ट तथा ईसा, मोहम्मद, और मूसा शैतान एवं जैन कर्म कहते हैं। कई दर्शन कर्म का सामान्य निर्देशन करते हैं तो कई उसके विभिन्न पहलुओं पर सामान्य दृष्टिक्षेप कर आगे बढ़ जाते हैं। न्याय दर्शनानुसार अदृष्ट आत्मा का गुण है। अच्छे और बुरे कर्मों का आत्मा पर संस्कार जिसके द्वारा पड़ता है वह अदृष्ट कहलाता है। सद्-असद् प्रवृत्ति से प्रकम्पित आत्म प्रदेश द्वारा पुद्गल स्कन्ध को अपनी ओर आकर्षित करने में कुछ पुद्गल स्कन्ध तो विसर्जित हो जाते हैं तो शेष चिपक जाते हैं। चिपकने वाले पुद्गल स्कन्धों का नाम ही कर्म है। जब तक कर्म का फल नहीं मिलेगा, तब तक कर्म आत्मा के साथ ही रहता है। उसका फल ईश्वर के माध्यम से मिलता है। यथा—

ईश्वरः कारणं पुरुष कर्माफलस्य दर्शनात्

—न्यायसूत्र ४/१/

चूँकि यदि ईश्वर कर्म फल की व्यवस्था न करे तो कर्म फल निष्फल हो जायेंगे। सांख्य सूत्र के मतानुसार कर्म तो प्रकृति का विकार है। यथा—

अन्तःकरण धर्मत्वं धर्मादीनाम्

—सांख्य सूत्र ५/२५

सुन्दर व असुन्दर प्रवृत्तियों का प्रकृति पर संस्कार पड़ता है। उस प्रकृतिगत संस्कारों से ही कर्मों के फल मिलते हैं। जैन दर्शन ने कर्म को स्वतन्त्र

तत्त्व माना है। कर्म अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध हैं जो समग्र लोक में जीवात्मा की अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों के द्वारा उसके साथ आवद्ध हो जाते हैं। यह उनको बध्यमान अवस्था है। बन्ध के बाद उसका परिपाक होता है। वह सत् अवस्था है। परिपाक के पश्चात् उनसे सुख-दुःख रूप तथा आवरण रूप फल प्राप्त होता है। यह उदयमान अवस्था है। अन्य दर्शनों में भी कर्मों की क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध ये तीन अवस्थाएं निर्देशित हैं। वे क्रमशः बन्ध, सत् और उदय की समानार्थक परिभाषाएँ हैं। कर्म की प्रथम अवस्था बन्ध है। अन्तिम अवस्था वेदना है। इसके मध्य में कर्म की विभिन्न अवस्थाएं बनती हैं। उनमें प्रमुख अवस्थाएँ, बंध, उद्वर्तन, अपवर्तन, सत्ता, उदय, उदीरणा, संक्रमण, उपशम, निधत्त और निकाचन है। कर्म और आत्मा के सम्बन्ध से एक नवीन अवस्था उत्पन्न होती है। यह बंध है। आत्मा की बध्यमान स्थिति है। बंधकालीन अवस्था के पञ्चवणा सूत्रानुसार तीन भेद हैं। अन्य स्थानों पर चार भेद भी निर्देशित हैं। बद्ध, स्पृष्ट, बद्ध स्पर्श स्पृष्ट और चौथा निधत्त।

कर्म प्रायोग्य पुद्गलों की कर्म रूप में परिणति बद्ध अवस्था है। आत्म प्रवेशों से कर्म पुद्गलों का मिलन स्पृष्ट अवस्था है। आत्मा और कर्म पुद्गल का दूध व पानी की भाँति सम्बन्ध होता है। दोनों में गहरा सम्बन्ध स्थापित होना निधत्त है। सुइयों को एकत्रित करना, धागे से बांधना, लोहे के तार से बाँधना और कूट पीट कर एक कर देना अनुक्रमेण बद्ध आदि अवस्थाओं के प्रतीक हैं।

आत्मा की आन्तरिक योग्यता के तारतम्य का कारण ही कर्म है। कर्मों की स्थिति और अनुभाग बन्ध में वृद्धि उद्वर्तन अवस्था है। स्थिति और अनुभाग बंध में ह्रास होना अपवर्तन अवस्था है। पुद्गल स्कन्ध कर्म रूप में परिणत होने के बाद जब तक आत्मा से दूर होकर कर्म अकर्म नहीं बन जाते, तब तक की अवस्था सत्ता के नाम से पुकारी जाती है। कर्मों का संवेदनाकाल उदयावस्था है। अनागत कर्म दलिकों का स्थिति घात कर उदय प्राप्त कर्म-दलिकों के साथ उन्हें भोग लेना उदीरणा है।

किसी के द्वारा उभरते हुए क्रोध को अभिव्यक्त करने के लिये भी आगमों में उदीरणा शब्द का प्रयोग परिलक्षित है। पर दोनों उदीरणा शब्द समानार्थक नहीं, अलग-अलग अर्थ वाले हैं। उक्त उदीरणा में निश्चित अपवर्तन होता है। अपवर्तन में स्थितिघात और रसघात होता है। स्थिति और रसघात कदापि शुभ भोग के बिना नहीं होता। कषाय की उदीरणा में क्रोध स्वयं अशुभ है। अशुभ योगों में कर्मों की स्थिति अधिक वृद्धि को प्राप्त करती है, कम नहीं होती। यदि अशुभ योगों से स्थिति ह्रास होती तो अधर्म से निर्जरा धर्म भी होता, पर ऐसा होना असम्भव है। अतः कषाय की उदीरणा का अर्थ हुआ

प्रदेशों में जो उदीयमान कषाय थी, उसका बाह्य निमित्त मिलने पर विपाकीकरण होता है। उस विपाकीकरण को ही कषाय में उदीरणा कहा जाता है।

आयुष्य कर्म की उदीरणा शुभ-अशुभ दोनों योगों से होती है। अनशन, संलेखना आदि शुभ योग से आत्मघात, अपमृत्यु आदि के अवसरों पर अशुभ योग की उदीरणा है पर इससे उक्त कथन पर किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं होती। क्योंकि आयुष्य कर्म की प्रक्रिया में सात कर्मों की काफी भिन्नता है। प्रयत्न विशेष से सजातीय प्रकृतियों में परस्पर परिवर्तित होना संक्रमण है। कर्मों का अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त तक सर्वथा अनुदय अवस्था का नाम उपशम है। निवृत्त अवस्था कर्मों की सघन अवस्था है। इस अवस्था में कर्म और आत्मा का ऐसा सम्बन्ध जुड़ता है जिसमें उदवर्त्तन, अपवर्त्तन के अलावा और कोई प्रयत्न नहीं होता। निकाचित कर्मों का सम्बन्ध आत्मा के साथ बहुत ही गाढ़ है। इसमें भी किसी भी प्रकार का परिवर्त्तन कदापि नहीं होता। सर्वं करण अयोग्य हो जाते हैं। निकाचित के सम्बन्ध में एक मान्यता है कि इसको विपाकोदय में भोगना अनिवार्य है। एक धारणा यह है कि निकाचित भी बहुधा प्रदेशोदय से क्षीण करते हैं। चूंकि सैद्धान्तिक मान्यता है कि नरक गति की स्थिति कम से कम १००० सागर के सातिय दो भाग २०५ सागर के करीब है। नरकायु की उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागरोपम है। यदि नरक का निकाचित बन्धन है तो २०५ सागर की स्थिति को विपाकोदय में कहाँ कैसे भोगेंगे ? जबकि नरकायु अधिकतम ३३ सागर का ही है। जहां विपाकोदय भोगा जा सकता है। इससे सहज ही यह सिद्ध हो जाता है कि निकाचित से भी हम विना विपाकोदय में मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। प्रदेशोदय के भोग से निर्भरण हो सकता है।

निकाचित और दलिक कर्मों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि दलिक में उदवर्त्तन, अपवर्त्तन आदि अवस्थाएं बन सकती हैं पर निकाचित में ऐसा परिवर्त्तन नहीं होता।

शुभ परिणामों की तीव्रता से दलिक कर्म प्रकृतियों का ह्रास होता है और तपोबल से निकाचित का भी।

—सर्व्व पगई भेवं परिणाम वासाद वक्कमो होज्जापापम निकाईयाणं निकाइमाणापि।

**आत्मा का आन्तरिक वातावरण :**

आत्मा की आन्तरिक योग्यता के तारतम्य का कारण कर्म ही है। कर्म संयोग से वह (आन्तरिक योग्यता) आवृत्त होती है या विकृत होती है। कर्म नष्ट होने पर ही उसका शुभ स्वरूप प्रकट होता है। कर्ममुक्त आत्मा पर बाहरी वस्तु का प्रभाव कदापि नहीं पड़ता। कर्मबद्ध आत्मा पर ही बाहरी परिस्थिति



का असर पड़ता है और वह भी अशुद्धि की मात्रा के अनुपात से। ज्यों-ज्यों शुद्धता की मात्रा वृद्धिगत होती है त्यों-त्यों ही बाहरी वातावरण का प्रभाव समाप्त सा होता जाता है। यदि शुद्धि की मात्रा कम होती है तो बाहरी प्रभाव उस पर छा जाता है। विजातीय सम्बन्ध—विचारणा की दृष्टि से आत्मा के साथ सर्वाधिक घनिष्ठ सम्बन्ध कर्म पुद्गलों का है। समीपवर्ती का जो प्रभाव पड़ता है वह दूरवर्ती का नहीं पड़ता। परिस्थिति दूरवर्ती घटना है। वह कर्म की उपेक्षा कर आत्मा को प्रभावित नहीं कर सकती। उसकी पहुँच कर्म संघटना पर्यन्त ही है। उससे कर्म संघटना प्रभावित होती है। फिर उससे आत्मा। जो परिस्थिति कर्म संस्थान को प्रभावित न कर सके उसका आत्मा पर प्रभाव किंचित भी नहीं पड़ता। बाहरी परिस्थितियाँ सामूहिक होती हैं। कर्म को वैयक्तिक परिस्थिति कहा जा सकता है।

### परिस्थिति :

काल, क्षेत्र, स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति और कर्म की सहस्थिति का नाम ही परिस्थिति है। एकान्त, काल, क्षेत्र, स्वभाव पुरुषार्थ, नियति और कर्म से ही सब कुछ होता है। यह एकान्त असत्य मिथ्या है। काल, क्षेत्र, स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति और कर्म से भी कुछ बनता है यह सापेक्ष दृष्टि सत्य है। वर्तमान की जैन विचार धारा में काल मर्यादा, क्षेत्र मर्यादा, स्वभाव मर्यादा, पुरुषार्थ मर्यादा और नियति मर्यादा का जैसा स्पष्ट विवेक या अनेकान्त दृष्टि है, वैसा कर्म मर्यादा का नहीं रहा। जो कुछ होता है वह कर्म से ही होता है ऐसा घोष साधारण हो गया है। यह एकान्तवाद है जो सत्य से दूर है। आत्म गुण का विकास कर्म से नहीं कर्म विलय से होता है। परिस्थितिवाद के एकान्त आग्रह के प्रति जैन दृष्टिकोण यह है कि रोग देशकाल की स्थिति से ही पैदा नहीं होता किन्तु देश काल की स्थिति से कर्म की उदीरणा होती है। उत्तेजित कर्म पुद्गल रोग उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार की जितनी भी बाहरी परिस्थितियाँ हैं वे सर्व कर्म पुद्गलों में उत्तेजना लाती हैं। उत्तेजित कर्म पुद्गल आत्मा में भिन्न-भिन्न परिवर्तन लाते हैं। परिवर्तन पदार्थ का स्वभाव सिद्ध धर्म है। जब वह संयोग-कृत होता है तब विभाव रूप होता है। दूसरों के संयोग से नहीं होता। उसकी परिणति स्वाभाविक हो जाती है।

### कर्म की भौतिकता :

अन्य दर्शन जहाँ कर्म को संस्कार या वासना रूप मानते हैं वहाँ जैन दर्शन उसे पौद्गलिक भी मानता है। जिस वस्तु का जो गुण होता है वह उसका विघातक नहीं होता। आत्मा का गुण उसके लिये आवरण, पारतन्त्र्य और दुःखों का हेतु कैसे बन सकता है? कर्म जीवात्मा के आवरण, पारतन्त्र्य और दुःखों का हेतु है। गुणों का विघातक है। अतः वह आत्मा का गुण नहीं हो

सकता । अतः कर्म पुद्गल है । कर्म भौतिक है; जड़ है । चूँकि वह एक प्रकार का बन्धन है । जो बन्धन होता है वह भौतिक होता है । बेड़ी मानव को आबद्ध करती है । कूल (किनारा) नदी को घेरते हैं । बड़े-बड़े बाँध पानी को बाँध देते हैं । महाद्वीप समुद्र से आबद्ध हैं । ये सर्व भौतिक हैं अतः बन्धन हैं ।

आत्मा की वैकारिक अवस्थाएँ अभौतिक होती हुई भी बन्धन की भाँति प्रतीत होती हैं । पर वास्तविकता यह है कि बंधन नहीं, बंध जनित अवस्थाएँ हैं । पुष्टकारक भोजन से शक्ति संचित होती है । पर दोनों में समानता नहीं है । शक्ति भोजन जनित अवस्था है । एक भौतिक है, अन्य अभौतिक है ।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव ये पाँच द्रव्य अभौतिक हैं । अतः किसी के बन्धन नहीं है । भारतीयतर दर्शनों में कर्म को अभौतिक माना है ।

कर्म सिद्धान्त यदि तात्त्विक है तो पाप करने वाले सुखी और पुण्य करने वाले दुःखी क्यों देखे जाते हैं ? यह प्रश्न भी समस्या मूलक नहीं है । क्योंकि बन्धन और फल की प्रक्रिया भी कई प्रकार से होती है । जैन दर्शनानुसार चार भंग हैं । यथा—

पुण्यानुबंधी पाप, पापानुबंधी पुण्य, पुण्यानुबंधी पुण्य व पापानुबंधी पाप । भोगी मनुष्य पूर्वकृत पुण्य का उपभोग करते हुए पाप का सर्जन करते हैं । वेदनीय कर्म को समभाव से सहनकर्त्ता पाप का भोग करते हुए पुण्यार्जन करते हैं । सर्व सामग्री से सम्पन्न होते हुये भी धर्मरत प्राणी पुण्य का भोग करते हुए पुण्य-संचयन करते हैं । हिंसक प्राणी पाप भोगते हुए पाप को जन्म देते हैं ।

उपर्युक्त भंगों से यह स्पष्ट है कि जो कर्म मनुष्य आज करता है उसका प्रतिफल तत्काल नहीं मिलता । बीज वपन करने वाले को कहीं शीघ्रता से फल प्राप्त नहीं होता । लम्बे समय के बाद ही फल मिलता है । इस प्रकार कृत कर्मों का कितने समय पर्यंत परिपाक होता है, फिर फल की प्रक्रिया बनती है । पाप करने वाले दुःखी और पुण्य करने वाले सुखी इसीलिए हैं कि वे पूर्व कृत पाप-पुण्य का फल भोग रहे हैं ।

### अमूर्त पर मूर्त का प्रभाव :

कर्म मूर्त है जबकि आत्मा अमूर्त है । अमूर्त आत्मा पर मूर्त का उपघात और अनुग्रह कैसे हो सकता है जबकि अमूर्त आकाश पर चन्दन का लेप नहीं हो सकता । न मुष्टि का प्रहार भी । यह तर्क समीचीन है पर एकांत नहीं है । चूँकि ब्राह्मी आदि पौष्टिक तत्त्वों के आसेवन से अमूर्त ज्ञान शक्ति में स्फुरणा देखते हैं । मदिरा आदि के सेवन से समूर्च्छना भी । यह मूर्त का अमूर्त पर स्पष्ट प्रभाव है । यथार्थ में संसारी आत्मा कथंचित मूर्त भी है । मल्लिषेण सूरि के शब्दों में—

संसारि आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्म परमाणु चिपके हुये हैं। अग्नि के तपने और घन से पीटने पर सुइयों का समूह एकीभूत हो जाता है। इसी भाँति आत्मा और कर्म का सम्बन्ध संश्लिष्ट है। यह सम्बन्ध जड़ चेतन को एक करने वाला तादात्म्य सम्बन्ध नहीं किन्तु क्षीर-नीर का सम्बन्ध है। अतः आत्मा अमूर्त है यह एकान्त नहीं है। कर्म बंध की अपेक्षा से आत्मा कथंचित् मूर्त भी है।

### कर्म बंध के कारण :

कर्म संबन्ध के अनुकूल आत्मा की परिणति या योग्यता ही बंध का कारण है। भगवान् महावीर से गौतम स्वामी ने पूछा—भगवन् ! क्या जीव कांक्षा मोहनीय कर्म का बन्धन करता है ?

भगवान्—गौतम ! हाँ, बन्धन करता है।

गौतम —वह किन कारणों से बंधन करता है ?

भगवान्—गौतम ! उसके दो कारण हैं। प्रमाद व योग।

गौतम —भगवन् ! प्रमाद किससे उत्पन्न होता है ?

भगवान्—योग से।

गौतम —योग किससे उत्पन्न होता है ?

भगवान्—वीर्य से।

गौतम —वीर्य किससे उत्पन्न होता है ?

भगवान्—वीर्य शरीर से उत्पन्न होता है।

गौतम —शरीर किससे उत्पन्न होता है ?

भगवान्—जीव से।

अर्थात् जीव शरीर का निर्माता है। क्रियात्मक वीर्य का साधन शरीर है। शरीरधारी जीव ही प्रमाद और योग के द्वारा कर्म (कांक्षा मोह) का बंधन करता है। 'स्थानांग' सूत्र और 'पञ्चवणा' सूत्र में कर्म बंध के क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कारण बताये हैं।

गौतम—भगवन् ! जीव कर्म बंध कैसे करता है ?

भगवान् ने प्रत्युत्तर में कहा कि गौतम ! ज्ञानावरणीय कर्म के तीव्र उदय से दर्शनावरणीय कर्म का तीव्र उदय होता है। दर्शनावरणीय कर्म के तीव्र उदय से दर्शन मोह का उदय होता है। दर्शन मोह के तीव्र उदय से मिथ्यात्व का उदय होता है और मिथ्यात्व के उदय से जीव आठ प्रकार के कर्मों का बंधन करता है।

‘स्थानांग सूत्र’ ४१८, समवायांग ५ एवं उमा स्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में कर्म बंध के पाँच कारण निर्देशित किये हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योग । यथा—

मिथ्यादर्शनाविरति प्रमाद कषाय योगा बंध हेतवः ।

—तत्त्वार्थ ८/१

कषाय और योग के समवाय संबंध से कर्मों का बंध होता है—

“जोग बन्धे कषाय बन्धे” ।

—समवायांग

कर्म बन्ध के चार भेद हैं । कर्म की चार प्रक्रियाएं हैं—१. प्रकृति बन्ध, २. स्थिति बन्ध, ३. अनुभाग बन्ध और ४. प्रदेश बन्ध । ग्रहण के समय कर्म पुद्गल एकरूप होते हैं किन्तु बंध काल में आत्मा का ज्ञान, दर्शन आदि भिन्न-भिन्न गुणों को अवरोद्ध करने का भिन्न-भिन्न स्वभाव हो जाना प्रकृति बंध है । उनमें काल का निर्णय स्थिति बंध है । आत्म परिणामों की तीव्रता और मंदता के अनुरूप कर्म बंध में तीव्र और मंदरस का होना अनुभाग बंध है । कर्म पुद्गलों की संख्या निर्णयित या आत्मा और कर्म का एकीभाव प्रदेशबंध है ।

कर्म बंध की यह प्रक्रिया मोदक के उदाहरण से प्रदर्शित है । मोदक पित्त-नाशक है या कफ वर्धक, यह उसके स्वभाव पर निर्भर है । उसकी कालावधि कितनी है । उसकी मधुरता का तारतम्य रस पर अवलम्बित हैं । मोदक कितने दानों से बना है यह संख्या पर निर्भर करता है । मोदक की यह प्रक्रिया कर्म बंध की सुन्दर प्रक्रिया है ।

जोगा पयडिपएसं ठिई अणुभागं कसाय ओ कुणइ

कषाय के अभाव में साम्परायिक कर्म का बंध नहीं होता । दसवें गुरु-स्थान पर्यंत योग और कषाय का उदय रहता है अतः वहाँ तक साम्परायिक बंध होता है । कषाय और योग से होने वाला बंध साम्परायिक कहलाता है । गमनागमन आदि क्रियाओं से जो कर्म बंध होता है, वह ईर्यापथिक कर्म कहलाता है । ईर्यापथिकी कर्म की स्थिति उत्तराध्ययन सूत्रानुसार दो समय की है ।

राग में माया और लोभ का तथा द्वेष में क्रोध और मान का समावेश हो जाता है । राग और द्वेष द्वारा ही अष्ट विध कर्मों का बन्ध होता है । राग-द्वेष ही भाव कर्म है । राग व द्वेष का मूल मोह है । आचार्य हरिभद्र सूरि के शब्दों में—

स्नेहासिक्त शरीरस्य रेगुनाश्लेष्यते यथा गात्रम् ।  
राग द्वेषाकिलन्नस्य कर्म बन्धो भवत्येवम् ॥

—आवश्यक टीका

जिस मानव के शरीर पर तेल का लेपन किया हुआ है, उसका शरीर उड़ने वाली धूल से लिप्त हो जाता है। उसी भाँति राग-द्वेष के भाव से आकिलन्न हुए मानव पर कर्म रज का बंध होता है। राग-द्वेष की तीव्रता से ही ज्ञान में विपरीतता आती है। जैन दर्शन की भाँति बौद्ध दर्शन ने भी कर्म बंध का कारण मिथ्या ज्ञान अथवा मोह को स्वीकार किया है।

**सम्बन्ध का अनादित्व :**

जैन दर्शन में आत्मा निर्मल तत्त्व हैं। वैदिक दर्शन में ब्रह्म तत्त्व विशुद्ध है। कर्म के साहचर्य से वह मलिन होता है। पर इन दोनों का संयोग कब हुआ? इस प्रश्न का प्रत्युत्तर अनादित्व की भाषा से दिया है। चूँकि आदि मानने पर अनेक विसंगतियाँ उपस्थित हो जाती हैं जैसे कि सम्बन्ध यदि सादि है तो पहले कौन? आत्मा या कर्म या दोनों का सम्बन्ध है? प्रथम प्रकारेण पवित्र आत्मा कर्म बंध नहीं करती। द्वितीय भंग में कर्म कर्ता के अभाव में बनते नहीं। तृतीय भंग में युगपत् जन्म लेने वाले कोई भी पदार्थ परस्पर कर्ता, कर्म नहीं बन सकते। अतः कर्म और आत्मा का अनादि सम्बन्ध का सिद्धांत अक्राट्य है।

इस सम्बन्ध में एक सुन्दर उदाहरण प्रसिद्ध विद्वान् हरिभद्र सूरि का है। वर्तमान समय का अनुभव होता है। फिर भी वर्तमान अनादि है क्योंकि अतीत अनन्त है। और कोई भी अतीत वर्तमान के बिना नहीं बना। फिर भी वर्तमान का प्रवाह कब से चला, इस प्रश्न के प्रत्युत्तर में अनादित्व ही अभिव्यक्त होता है। इसी भाँति आत्मा और कर्म का सम्बन्ध वैयक्तिक दृष्टया सादि होते हुए भी प्रवाह की दृष्टि से अनादि है। आकाश और आत्मा का सम्बन्ध अनादि अनन्त है। पर कर्म और आत्मा का सम्बन्ध स्वर्ण मृत्तिका की भाँति अनादि सान्त है। अग्नि प्रयोग से स्वर्ण-मिट्टी को पृथक्-पृथक् किया जाता है तो शुभ अनुष्ठानों से कर्म के अनादि सम्बन्ध को खण्डित कर आत्मा को शुद्ध किया जा सकता है।

जैन दर्शन की मान्यतानुसार जीव जैसा कर्म करता है वैसा ही उसे फल मिलता है। 'अप्पा कत्ता विकत्ताय दुहाणय सुहाणय ।'

कर्म फल का नियंता ईश्वर है। यह जैन दर्शन स्वीकार नहीं करता। जैन दर्शन यह स्वीकार करता है कि कर्म परमाणुओं में जीवात्मा के सम्बन्ध से एक विशिष्ट परिणाम उत्पन्न होता है जिससे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भवगति, स्थिति प्रभृति उदय के अनुकूल सामग्री से विपाक प्रदर्शन में समर्थ होकर आत्मा

के संस्कार को मलीन-कलुषित करता है। उससे उनका फलायोग होता है। अमृत और विष पथ्य और अपथ्य में कुछ भी ज्ञान नहीं होता तथापि आत्मा का संयोग पाकर वे अपनी प्रकृत्यानुसार प्रभाव डालते हैं। जिस प्रकार गणित करने वाली मशीन जड़ होने पर भी अंक गणना में भूल नहीं करती वैसे ही कर्म जड़ होने पर भी फल देने में भूल नहीं करते। अतः ईश्वर को नियंता मानने की आवश्यकता नहीं। कर्म के विपरीत वह कुछ भी देने में समर्थ नहीं होगा।

एक तरफ ईश्वर को सर्व शक्तिमान मानना दूसरी तरफ अंश मात्र भी परिवर्तन का अधिकार नहीं देना ईश्वर का उपहास है। इससे तो अच्छा है कि कर्म को ही फल प्रदाता मान लिया जाये।

### कर्म बन्ध और उसके भेद :

माकन्दी ने अपनी जिज्ञासा के शमनार्थ प्रश्न किया कि भगवन् ! भाव-बन्ध के भेद कितने हैं ?

भगवान्—माकन्दी पुत्र, भाव बन्ध दो प्रकार का है—

मूल प्रकृति बन्ध और उत्तर प्रकृति बन्ध।

बन्ध आत्मा और कर्म के सम्बन्ध की पहली अवस्था है। वह चतुर्रूप है। यथा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश। बन्ध का अर्थ है आत्मा और कर्म का संयोग। और कर्म का निर्मापणा व्यवस्थाकरण—बन्धनम निर्मापणम्। (स्था० ८/५९६) ग्रहण के समय कर्म पुद्गल अविभक्त होते हैं। ग्रहण के पश्चात् वे आत्म प्रदेशों के साथ एकीभूत हो जाते हैं। इसके पश्चात् कर्म परमाणु कार्य-भेद के अनुसार आठ वर्गों में बंट जाते हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय।

कर्म दो प्रकार के हैं घाती कर्म और अघाती कर्म। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घनघाती, आत्म शक्ति के घातक, आवरणक, विकारक और प्रतिरोधक हैं। इनके दूर हो जाने पर ही आत्म गुण प्रकट होकर निज स्वरूप में आत्मा आ जाती है। शेष चार अघाती कर्म हैं। ये मुख्यतः आत्म गुणों का घात नहीं करते हैं। ये शुभ-अशुभ पौद्गलिक दशा के निमित्त हैं। ये अघाती कर्म बाह्यार्थपेक्षी हैं। भौतिक तत्त्वों की इनसे प्राप्ति होती है। जीवन का अर्थ है—आत्मा और शरीर का सहभाव। शुभ-अशुभ शरीर निर्माणकारी कर्म वर्गणाएं नाम कर्म। शुभ-अशुभ जीवन को बनाये रखने वाली कर्म वर्गणाएं आयुष्य कर्म। व्यक्ति को सम्माननीय-असम्माननीय बनाने वाली कर्म वर्गणाएं गोत्र कर्म और सुख-दुःखानुभूतिकारक कर्म वर्गणाएं वेदनीय कर्म कहलाती हैं।

तीसरी अवस्था काल मर्यादा की है। प्रत्येक कर्म प्रत्येक आत्मा के साथ निश्चित समय पर्यन्त रह सकता है। स्थिति परिपक्व होने पर वह आत्मा से अलग हो जाता है। चौथी अवस्था फल दान शक्ति की है। तदनुसार पुद्गलों में इसकी मन्दता व तीव्रता का अनुभव होता है।

### आत्मा का स्वातन्त्र्य व पारतन्त्र्य :

सामान्यतः यह कहा जाता है कि आत्मा कर्तृत्वापेक्षा से स्वतन्त्र है पर भोगने के समय परतन्त्र। उदाहरणार्थ विष को खा लेना अपने हाथ की बात है पर मृत्यु से विमुख होना स्वयं के हाथ में नहीं है। चूँकि विष को भी विष से निर्विष किया जा सकता है। मृत्यु टल सकती है। आत्मा का भी कर्तेपन में व भोगतेपन में स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य दोनों फलित होते हैं।

सहजतया आत्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है। इच्छानुसार कर्म कर सकती है। कर्म विजेता बन पूर्ण उज्ज्वल बन सकती है। पर कभी-कभी पूर्वजनित कर्म और बाह्य निमित्त को पाकर ऐसी परतन्त्र बन जाती है कि वह इच्छानुसार कुछ भी नहीं कर सकती। जैसे कोई आत्मा सन्मार्ग पर चलना चाहती हुई भी चल नहीं सकती। यह है आत्मा का स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य।

कर्म करने के पश्चात् भी आत्मा कर्माधीन हो जाती है, यह भी नहीं कहा सकता। उसमें भी आत्मा का स्वातन्त्र्य सुरक्षित रहता है, उसमें भी अशुभ को शुभ में परिवर्तित करने की क्षमता निहित है।

### कर्म का नाना रूपों में दिग्दर्शन :

कर्म बद्ध आत्मा के द्वारा आठ प्रकार की पुद्गल वर्गणाएँ मृहीत होती हैं। औदारिक वर्गणा, वैक्रिय वर्गणा, आहारक वर्गणा, तेजस् वर्गणा, कार्मण वर्गणा, भाषा वर्गणा, श्वासोच्छ्वास वर्गणा और मनोवर्गणा। इनमें कार्मण वर्गणा के जो पुद्गल होते हैं वे कर्म बनने के योग्य होते हैं। उनके तीन लक्षण हैं—

१. अनन्त प्रदेशी स्कन्धत्व।
२. चतुःस्पर्शित्व।
३. सत् असत् परिणाम ग्रहण योग्यत्व।

संख्यात्-असंख्यात् प्रदेशी स्कन्ध कर्म रूप में परिणत नहीं हो सकते। दो, तीन, चार, पाँच, छह, सात और आठ स्पर्श वाले पुद्गल स्कन्ध कर्मरूप में परिणत नहीं हो सकते। आत्मा की शुभ अशुभ प्रवृत्ति (आस्रव) के बिना सहज

प्रवृत्ति से ग्रहण किये जाने वाले पुद्गल स्कन्ध कर्म रूप में परिणित नहीं हो सकते । कर्म योग्य पुद्गल ही आत्मा की सत्-असत् प्रवृत्ति द्वारा गृहीत होकर कर्म बनते हैं । कर्म की प्रथम अवस्था बन्ध है तो अन्तिम अवस्था वेदना है । कर्म की विसम्बन्धी निर्जरा है किन्तु वह कर्म की नहीं अकर्म की है । वेदना कर्म की और निर्जरा अकर्म की ।

कम्म वेयणा जो कम्म निज्जरा ।

—भग० ७/३

अतः व्यवहार में कर्म की अन्तिम दशा निर्जरा और निश्चय में वह वेदना मानी गई है । बन्ध और वेदना या निर्जरा के मध्य में भी अनेक अवस्थाएं हैं जो उपर्युक्त बद्धादि हैं ।

**कर्म-क्षय की प्रक्रिया :**

कर्म क्षय की प्रक्रिया जैन दर्शन में गहराई लिये हुए है । स्थिति का परिपाक होने पर कर्म उदय में आते हैं और भङ्ग जाते हैं । कर्मों को विशेषरूपेण क्षय करने के लिये विशेष साधना का मार्ग अवलम्बन करना पड़ता है । वह साधना स्वाध्याय, ध्यान, तप आदि मार्ग से होती है । इन मार्गों से सप्तम गुण-स्थान पर्यन्त कर्म क्षय विशेष रूप से होते हैं । अष्टम गुणस्थान के आगे कर्म क्षय की प्रक्रिया परिवर्तित हो जाती है । १. अपूर्व स्थिति ज्ञात, २. अपूर्व रसघात, ३. गुण श्रेणी, ४. गुण संक्रमण, ५. अपूर्व स्थिति बन्ध । सर्व प्रथम आत्मा अपवर्तन करण के माध्यम से कर्मों को अन्तर्मुहूर्त्त में स्थापित कर गुण श्रेणी का निर्माण करती है । स्थापना का यह क्रम उदयकालीन समय को लेकर अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त एक उदयात्मक समय का परित्याग कर शेष जितना समय है, उनमें कर्म दलिकों को स्थापित किया जाता है । प्रथम समय में कर्म दलिक बहुत कम होते हैं । दूसरे समय में स्थापित कर्म दलिक उससे असंख्यात गुण अधिक होते हैं । तृतीय समय में उससे भी असंख्यात गुण अधिक होने से इसे गुण श्रेणी कहा जाता है ।

गुण संक्रमण अशुभ कर्मों की शुभ में परिणति होती जाती है । स्थापना का क्रम गुण श्रेणी की भाँति ही है । अष्टम गुणस्थान से चतुर्दश गुणस्थान पर्यन्त ज्यों-ज्यों आत्मा आगे बढ़ती जाती है त्यों-त्यों समय स्वल्प और कर्मदलिक अधिक मात्रा में क्षय हो जाते हैं । इस समय आत्मा अतीव स्वल्प स्थिति कर्मों का बन्धन करती है जैसा उसने पहले कभी नहीं किया है । अतः इस अवस्था का नाम अपूर्व स्थिति बन्ध कहलाता है । स्थितिघात और रसघात भी इस समय में अपूर्व ही होता है, अतः यह अपूर्व शब्द के साथ संलग्न हो गया ।



इस उत्क्रान्ति के समय में बढ़ती हुई आत्मा जब परमात्म शक्ति को जागृत करने के लिए अत्यन्त उग्र हो जाती है, आयुष्य स्वल्प रहता है, कर्म अधिक रहते हैं तब आत्मा और कर्मों के मध्य भयंकर संघर्ष होता है। आत्म प्रदेश कर्मों से लोहा लेने के लिये देह की सीमा का परित्याग करके रणस्थली में उतर जाते हैं। आत्मा ताकत के साथ संघर्ष करती है। यह युद्ध कुछ भील पर्यन्त ही नहीं रहता, सम्पूर्ण लोक क्षेत्र को अपने दायरे में लाता है। इस महायुद्ध में बहुसंख्यक कर्म क्षय हो जाते हैं। अवशेष कर्म अल्प मात्रा में रहते हैं। वे भी इतने दुर्बल और शिथिल हो जाते हैं कि अधिक समय पर्यन्त ठहरने की शक्ति उनमें नहीं रहती। अतः इसको उखाड़ फेंकने के लिए छोटा सा हवा का भौका भी काफी है।

## कर्म-गीतिका

कर्म तणी गत न्यारी, प्रभुजी कर्म तणी गत न्यारी ।  
अलख निरंजन सिद्ध स्वरूपी, पिण होय रयो संसारी ॥१॥

कबहुक राज करे यही मण्डल, कबहुक रंक भिखारी ।  
कबहुक हाथी समचक डोला, कबहुक खर असवारी ॥२॥

कबहुक नरक निगोद बसावत, कबहुक मुर अवतारी ।  
कबहुक रूप कुरूप को दरसन, कबहुक सूरत प्यारी ॥३॥

बड़े-बड़े वृक्ष ने छोटे-छोटे पतवा, बेलड़ियांरी छवि न्यारी ।  
पतिव्रता तरसे सुत कारण, फुहड़ जण-जण हारी ॥४॥

मूर्ख राजा राज करत है, पंडित भए भिखारी ।  
कुरंग नेण सुरंग बने अति, चूँधी पदमण नारी ॥५॥

‘रतनचन्द’ कर्मन की गत को, लख न सके नर नारी ।  
आपो खोज करे आतम वश, तो शिवपुर छै त्यारी ॥६॥

— आचार्य श्री रतनचन्द्रजी म. सा.

□ पं० केलाशचन्द्र शास्त्री

कर्म सिद्धान्त के बारे में ईश्वरवादियों और अनिश्चरवादियों में एक सत्य होते हुए भी कर्म के स्वरूप और उसके फलदान के सम्बन्ध में मौलिक मतभेद हैं। साधारण तौर से जो कुछ किया जाता है उसे कर्म कहते हैं। जैसे—खाना, पीना, चलना, फिरना, हँसना, बोलना, सोचना, विचारना वगैरह। परलोकवादी दार्शनिकों का मत है कि हमारा प्रत्येक अच्छा या बुरा कार्य अपना संस्कार छोड़ जाता है। उस संस्कार को नैयायिक और वैशेषिक धर्म या अधर्म के नाम से पुकारते हैं। योग उसे कर्माणय कहते हैं, बौद्ध उसे अनुशय आदि नामों से पुकारते हैं।

आशय यह है कि जन्म, जरा-मरण रूप संसार के चक्र में पड़े हुए प्राणी अज्ञान, अविद्या या मिथ्यात्व संलिप्त हैं। इस अज्ञान, अविद्या या मिथ्यात्व के कारण वे संसार के वास्तविक स्वरूप को समझने में असमर्थ हैं, अतः उनका जो कुछ भी कार्य होता है वह अज्ञानमूलक होता है, उसमें राग-द्वेष का अभिनिवेश लगा होता है। इसलिये उनका प्रत्येक कार्य आत्मा के बन्धन का ही कारण होता है। जैसा कि विभिन्न दार्शनिकों के निम्न मन्तव्यों से स्पष्ट है :—

बौद्ध ग्रन्थ 'मिलिन्द प्रश्न' में लिखा है—

“भरने के बाद कौन जन्म ग्रहण करते हैं और कौन नहीं? जिनमें क्लेश (चित्त का मैल) लगा है वे जन्म ग्रहण करते हैं और जो क्लेश से रहित हो गये हैं वे जन्म नहीं ग्रहण करते हैं। भन्ते! आप जन्म ग्रहण करेंगे या नहीं?”

महाराज, यदि संसार की ओर आसक्ति लगी रहेगी तो जन्म ग्रहण करूँगा और यदि आसक्ति छूट पायेगी तो नहीं करूँगा।”

और भी—“अविद्या के होने से संस्कार, संस्कार के होने से विज्ञान, विज्ञान के होने से नाम और रूप, नाम और रूप के होने से छः आयतन, छः आयतन के होने से स्पर्श, स्पर्श के होने से वेदना, वेदना के होने से तृष्णा, तृष्णा के होने से उपादान, उपादान के होने से भव, भव के होने से जन्म और जन्म के

होने से बुढ़ापा, मरना, शोक, रोना-पीटना, दुःख, बेचैनी और परेशानी होती है। इस प्रकार इन दुःखों के सिलसिले का आरम्भ कहां से हुआ इसका पता नहीं।<sup>१</sup>

योग दर्शन में लिखा है—

वृत्तयः पञ्चतथ्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥१-५॥

क्लेशहेतुकाः कर्माशयप्रचयक्षेत्रीभूताः क्लिष्टाः । व्या० भा० ।

प्रतिपत्ताग्रथंभवसाय तत्र सक्तो द्विष्टो वा कर्माशयमाचिनोतीति भवन्ति धर्माधर्मप्रसवभूमयो वृत्तयः क्लिष्टा इति । तत्त्व वै० ।

तथा जातीयका-क्लिष्टजातीया अक्लिष्टजातीया वा संस्कारा वृत्तिभिरेव क्रियन्ते । वृत्तिभिः संस्काराः संस्कारेभ्यश्चवृत्तय इत्येवं वृत्तिसंस्कारचक्रं निरन्तरमावर्तते । भास्वति ।

अर्थात् पांच प्रकार की वृत्तियां होती हैं, जो क्लिष्ट भी होती हैं और अक्लिष्ट भी होती हैं । जिन वृत्तियों का कारण क्लेश होता है और जो कर्माशय के संचय के लिये आधारभूत होती हैं उन्हें क्लिष्ट कहते हैं । अर्थात् ज्ञाता अर्थ को जानकर उससे राग या द्वेष करता है और ऐसा करने से कर्माशय का संचय करता है । इस प्रकार धर्म और अधर्म को उत्पन्न करने वाली वृत्तियां क्लिष्ट कही जाती हैं । क्लिष्ट जातीय अथवा अक्लिष्टजातीय संस्कार वृत्तियों के ही द्वारा होते हैं और वृत्तियां संस्कार से होती हैं । इस प्रकार वृत्ति और संस्कार का चक्र सर्वदा चलता रहता है ।

सांख्यकारिका' में लिखा है—

सम्यग्ज्ञान अधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।

तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमवद् धृतशरीरः ॥६७॥

संस्कारो नाम धर्माधर्मा निमित्तं कृत्वा शरीरोत्पत्तिर्भवति ।

.....संस्कारवशात्-कर्मवशादित्यर्थः । माठ-वृ० ।

अर्थात् धर्म और अधर्म को संस्कार कहते हैं । उसी के निमित्त से शरीर बनता है । सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होने पर धर्मादिक पुनर्जन्म करने में समर्थ नहीं रहते । फिर भी संस्कार की वजह से पुरुष संसार में ठहरा रहता है । जैसे, कुलाल के दण्ड का सम्बन्ध दूर हो जाने पर भी संस्कार के वश से चाक घूमता रहता है । क्योंकि बिना फल दिये संस्कार का क्षय नहीं होता ।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय वगैरह को धर्म और हिंसा, असत्य, स्तेय वगैरह को अधर्म के साधन बतलाकर 'प्रशस्तपाद' में लिखा है—

१. मिलिन्द प्रश्न पृष्ठ ६२ ।

“अविदुषो राग द्वेषवतः प्रवर्तकाद् धर्मात् प्रकृष्टात् स्वल्पा धर्म-सहितात् ब्रह्मैन्द्रप्रजापतिपितृमनुष्यलोकेषु आशयानुरूपैरिष्ट शरीरेन्द्रियविषयसुखादि-भियोगो भवति । तथा प्रकृष्टाद् धर्माद् स्वल्पधर्मसहितात् प्रेततिर्यग्योनिस्थानेषु अलिष्ट शरीरेन्द्रियविषयदुःखादिभियोगो भवति । एवं प्रवृत्तिलक्षणाद् धर्माद् अधर्मसहिताद् देवमनुष्यतिर्यङ्-नारकेषु पुनः-पुनः संसारबन्धो भवति ।”

(पृ. २८०-२८१)

अर्थात् राग और द्वेष से युक्त अज्ञानी जीव कुछ अधर्मसहित किन्तु प्रकृष्ट धर्ममूलक कार्यों के करने से ब्रह्मलोक, इन्द्रलोक, प्रजनपतिलोक, पितृलोक और मनुष्यलोक में अपने आशय-कर्माशय के अनुरूप इष्ट शरीर, इन्द्रियविषय और सुखादिक को प्राप्त करता है तथा कुछ धर्मसहित किन्तु प्रकृष्ट अधर्ममूलक कामों के करने से प्रेतयोनि, तिर्यग्योनि वगैरह स्थानों में, अलिष्ट शरीर, इन्द्रिय विषय और दुःखादिक को प्राप्त करता है । इस प्रकार अधर्म सहित प्रवृत्तिमूलक धर्म से देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारकों में जन्म लेकर बारम्बार संसारबन्ध को करता है ।

न्याय मंजरीकार ने भी इसी मत को व्यक्त करते हुए लिखा है—“यो ह्यम् देवमनुष्यतिर्यग्भूमिषुशरीरसर्गः, यश्च प्रतिविषयं बुद्धिसर्गः, यश्चात्मना सह मनसः संसर्ग, स सर्वः प्रवृत्तेरेव परिणामविभवः । प्रवृत्तेश्च सर्वस्याः क्रिया-त्वात् क्षणिकत्वेऽपि तदुपहितो धर्माधर्मशब्दवाच्य आत्मसंस्कारः कर्मफलोप-भोगपर्यन्तस्थितिरस्त्येव न च जगति तथाविधं किमपि कार्यमस्तिवस्तु यन् धर्माधर्माभ्यामाक्षिप्त सम्भवम् ।” (पृ. ७०)

अर्थात्—देव, मनुष्य और तिर्यग्योनि में जो शरीर की उत्पत्ति देखी जाती है, प्रत्येक वस्तु को जानने के लिये जो ज्ञान की उत्पत्ति होती है, और आत्मा का मन के साथ जो सम्बन्ध होता है, वह सब प्रवृत्ति का ही परिणाम है । सभी प्रवृत्तियाँ क्रियारूप होने के कारण यद्यपि क्षणिक हैं, किन्तु उनसे होने वाला आत्मसंस्कार, जिसे धर्म या अधर्म शब्द से कहा जाता है, कर्म फल के भोगने पर्यन्त स्थित रहता है । संसार में ऐसा कोई कार्य नहीं है जो धर्म या अधर्म से व्याप्त न हो ।

इस प्रकार विभिन्न दार्शनिकों के उक्त मन्तव्यों से यह स्पष्ट है कि कर्म नाम क्रिया या प्रवृत्ति का है और उस प्रवृत्ति के मूल में राग और द्वेष रहते हैं तथा यद्यपि प्रवृत्ति, क्रिया या कर्म क्षणिक होता है तथापि उसका संस्कार फलकाल तक स्थायी रहता है । संस्कार से प्रवृत्ति और प्रवृत्ति से संस्कार की परम्परा अनादिकाल से चली आती है । इसी का नाम संसार है । किन्तु जैन दर्शन के मतानुसार कर्म का स्वरूप किसी अंश में उक्त मतों से विभिन्न है ।

### जैन दर्शनानुसार कर्म का स्वरूप :

जैन दर्शन के अनुसार कर्म के दो प्रकार होते हैं। एक द्रव्य कर्म और दूसरा भाव कर्म। यद्यपि अन्य दर्शनों में भी इस प्रकार का विभाग पाया जाता है और भाव कर्म की तुलना अन्य दर्शनों के संस्कार के साथ तथा द्रव्य कर्म की तुलना योग दर्शन की वृत्ति और न्याय दर्शन की प्रवृत्ति के साथ की जा सकती है तथापि जैन दर्शन के कर्म और अन्य दर्शनों के कर्म में बहुत अन्तर है। जैन दर्शन में कर्म केवल एक संस्कार मात्र ही नहीं है किन्तु एक वस्तुभूत पदार्थ है जो रागी-द्वेषी जीव को क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ उसी तरह घुल-मिल जाता है, जैसे दूध में पानी। वह पदार्थ है तो भौतिक, किन्तु उसका कर्म नाम इसलिये रूढ़ हो गया है क्योंकि जीव के कर्म अर्थात् क्रिया की वजह से आकृष्ट होकर वह जीव से बंध जाता है। आशय यह है कि जहाँ अन्य दर्शन राग और द्वेष से आविष्ट जीव की प्रत्येक क्रिया को कर्म कहते हैं, और उस कर्म के क्षणिक होने पर भी तज्जन्य संस्कार को स्थायी मानते हैं वहाँ जैन दर्शन का मन्तव्य है कि राग-द्वेष से आविष्ट जीव की प्रत्येक क्रिया के साथ एक प्रकार का द्रव्य आत्मा में आता है, जो उसके राग-द्वेष रूप परिणामों का निमित्त पाकर आत्मा के साथ बंध जाता है। कालान्तर में यही द्रव्य आत्मा को शुभ या अशुभ फल देता है। इसका खुलासा इस प्रकार है—

जैन दर्शन छः द्रव्य मानता है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। अपने चारों ओर जो कुछ हम चर्म चक्षुओं से देखते हैं सब पुद्गल द्रव्य है। यह पुद्गल द्रव्य २३ तरह की वर्गणाओं में विभक्त है। उन वर्गणाओं में से एक कर्मण वर्गणा भी है, जो समस्त संसार में व्याप्त है। यह कर्मण वर्गणा ही जीवों के कर्मों का निमित्त पाकर कर्मरूप परिणत हो जाती है। जैसा कि आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है—

“परिणमदि जदा अरुपा सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो।

तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहि।” (प्रवचनसार ६५)

अर्थात् जब राग-द्वेष से युक्त आत्मा अच्छे या बुरे कामों में लगती है, तब कर्मरूपी रज ज्ञानावरणीय आदि रूप से उसमें प्रवेश करती है।

इस प्रकार जैन सिद्धान्त के अनुसार कर्म एक मूर्त पदार्थ है, जो जीव के साथ बन्ध को प्राप्त हो जाता है।

जीव अमूर्तिक है और कर्म द्रव्य मूर्तिक। ऐसी दशा में उन दोनों का बन्ध ही सम्भव नहीं है। क्योंकि मूर्तिक के साथ मूर्तिक का बन्ध ही हो सकता है, किन्तु अमूर्तिक के साथ मूर्तिक का बन्ध कदापि संभव नहीं है, ऐसी आशंका की जा सकती है, जिसका समाधान निम्न प्रकार है—

अन्य दर्शनों की तरह जैन दर्शन भी जीव और कर्म के सम्बन्ध के प्रवाह को अनादि मानता है। किसी समय यह जीव सर्वथा शुद्ध था और बाद को उसके

साथ कर्मों का बन्ध हुआ, ऐसी मान्यता नहीं है। क्योंकि इस मान्यता में अनेक विप्रतिपत्तियां उत्पन्न होती हैं। 'पंचास्तिकाय' में जीव और कर्म के इस अनादि सम्बन्ध को जीव पुद्गल कर्म चक्र के नाम से अभिहित करते हुए लिखा है—

‘जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होहि परिणामो ।  
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी ॥  
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इन्द्रियाणि जायंते ।  
तेहि दु विसयगहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥ (२९)  
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्रवालम्भि ।  
इदि जिणवरेहि भणियो अणादिणिघणो सणिघणो वा ॥ (३०)

अर्थ :—जो जीवन संसार में स्थित है अर्थात् जन्म और मरण के चक्र में पड़ा हुआ है उसके राग और द्वेष रूप परिणाम होते हैं। परिणामों से नये कर्म बंधते हैं। कर्मों से गतियों में जन्म लेना पड़ता है। जन्म लेने से शरीर होता है। शरीर में इन्द्रियां होती हैं। इन्द्रियों से विषयों को ग्रहण करता है। विषयों के ज्ञान से राग और द्वेष रूप परिणाम होते हैं। इस प्रकार संसार रूपी चक्र में पड़े हुए जीव के भावों से कर्म और कर्म से भाव होते रहते हैं। यह प्रवाह अभव्य जीव की अपेक्षा से अनादि अनन्त है और भव्य जीव की अपेक्षा से अनादि सान्त है।

इससे स्पष्ट है कि जीव अनादि काल से मूर्तिक कर्मों से बंधा हुआ है। जब जीव मूर्तिक कर्मों से बंधा है, तब उसके नये कर्म बंधते हैं, वे कर्म जीव में स्थित मूर्तिक कर्मों के साथ ही बंधते हैं, क्योंकि मूर्तिक का मूर्तिक के साथ संयोग होता है और मूर्तिक का मूर्तिक के साथ बंध होता है। अतः आत्मा में स्थित पुरातन कर्मों के साथ ही नये कर्म बंध को प्राप्त होते रहते हैं। इस प्रकार परम्परा से कदाचित् मूर्तिक आत्मा के साथ मूर्तिक कर्म द्रव्य का सम्बन्ध जानना चाहिये।

सारांश यह है कि अन्य दर्शन क्रिया और तज्जन्य संस्कार को कर्म कहते हैं, किन्तु जैन दर्शन जीव से सम्बद्ध मूर्तिक द्रव्य और निमित्त से होने वाले राग-द्वेष रूप भावों को कर्म कहता है।

[ १ ]

## किण विध होवे छूट करम को

[ राग विहाग—भेष धर योंही जनम गमायो ]

किण विध होवे छूट करम को, किण विध होवे छूट ॥टे०॥  
दुष्ट हष्ट मन मुष्ट चलाकर, कियो वृक्ष ने टूट ॥  
इण भव कुष्ट, पुष्ट तन परभव, वायस रहा अंग चूट ॥१॥  
वेश्या सम छल-बल-कल करने, बनगयो स्याणो सूट ।  
आयो हाट में दई टाट में, लियो बाण्या ने लूट ॥२॥  
गुणवंता का गुण नहि कीना, अवगुण कादया भूठ ।  
इधर उधर की बात बणाकर, पापी पाडी फूट ॥३॥  
षट्-रस भोजन महल त्रिया सुख, राज करूँ चहुँ खूट ।  
पाप मांहे अग्रेसर बनियो, आयुबल गयो खूट ॥४॥  
सतसंगत को नाम न लीनो, वित्त दाव बदे मुख तूट ।  
“मुजाण” कहे सतशील धरम बिन, ज्यूँ टोला को ऊँट ॥५॥

—मुनि श्री सुजानमलजी म० सा०

[ २ ]

## प्रभु तुम सौं नाहीं परदा हो

[ राग—भंभोटी ]

इन करमौं तै मेरा डरदा हो ॥इन०॥  
इनही के परसंग तै सांई,  
भव-भव में दुःख भरदा हो ॥इन॥१॥  
निमष न संग तजत ये मेरा,  
मैं बहुतेरा ही तड़फदा हो ॥इन॥२॥  
ये मिलि बहौत दीन लखि मौंको,  
आठों ही जाम रहै लरदा हो ॥इन॥३॥  
दुःख और दरद की मैसय हीअरपदा,  
प्रभु तुम सौं नाहीं परदा हौ ॥इन॥४॥  
'बखतराम' कहे अब तौ इनका,  
फेरि न कीजिए आरजूदा हौ ॥इन॥५॥

—बखतराम

समूह और समुदाय में कर्म के अनेक अर्थ-अभिप्राय प्रचलित हैं। कर्म-कारक, क्रिया तथा जीव के साथ बंधने वाले विशेष जाति के पुद्गल-स्कन्ध आदि कर्म के रूप कहे जा सकते हैं। कर्मकारक लोक-प्रसिद्ध भाषा-परिवार में प्रयुक्त रूप प्रसिद्ध है। क्रियाएं समवदान तथा अधःकर्म आदि के भेद से अनेक प्रकार की होती हैं। जीव के साथ बंधने वाले विशेष जाति के पुद्गल स्कन्ध रूप कर्म का जैन सिद्धान्त ही विशेष प्रकार से निरूपण करता है।

कर्म का मौलिक अर्थ तो क्रिया ही है। जीव, मन, वचन तथा काय के द्वारा कुछ न कुछ करता है, वह उसकी क्रिया या कर्म है और मन, वचन तथा काय ये तीन उसके द्वार हैं। सांसारिक आत्मा के इन तीन द्वारों की क्रियाओं से प्रतिक्षण सभी आत्म-प्रदेशों में कर्म होते रहते हैं। अनादि काल से जीव का कर्म के साथ सम्बन्ध चला आ रहा है। इन दोनों का पारस्परिक अस्तित्व स्वतः सिद्ध है।

मूलतः कर्म को दो भागों में बाँटा गया है—द्रव्य कर्म और भाव कर्म। पुद्गल के कर्मकुल को द्रव्यकर्म कहते हैं और द्रव्यकर्म के निमित्त से जो आत्मा के राग-द्वेष, अज्ञान आदि भाव होते हैं, वे वस्तुतः भावकर्म कहलाते हैं। द्रव्य और भाव भेद से जो आत्मा को परतंत्र करता है, दुःख देता है, तथा संसार-चक्र में चक्रमण कराता है वह समवेत रूप में कर्म कहलाता है।

अनन्त काल से कर्म अनन्त हैं। कर्मों का एक कुल होता है। घातिया और अघातिया भेद से उन्हें दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। ये शब्द भी अपना पारिभाषिक अर्थ रखते हैं। जीव के गुणों का पूर्णतः घात करने वाले कर्म घातिया कर्म कहलाते हैं और जिनके द्वारा जीव-गुणों का पूर्णतः घात नहीं हो पाता, उन्हें अघातिया कर्म कहा जाता है। घातिया कर्म—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तथा अन्तराय और अघातिया कर्म—आयु, नाम, गोत्र तथा वेदनीय मिलकर आठ प्रकार की कर्म जातियाँ बनाते हैं। अब यहाँ प्रत्येक कर्म की प्रकृति के विषय में संक्षेप में चर्चा करना आवश्यक है।

आत्मा अनन्त ज्ञान रूप है। उसके ज्ञान गुण को प्रच्छन्न करनेवाला कर्म ज्ञानावरण कर्म कहलाता है। इसी प्रकार उसके दर्शन गुण को प्रच्छन्न



करने वाला कर्म दर्शनावरण कर्म कहलाता है। मोहनीय कर्म के जाग्रत होने से जीव अपने स्वरूप को विस्मृत कर अन्य को अपना समझने लगता है। अन्तराय का शाब्दिक अर्थ है विघ्न। जिस कर्म के द्वारा दान, लाभ, व्यापार में विघ्न उत्पन्न होता है, उसे अन्तराय कर्म कहा जाता है। नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देव विषयक विविध योनियाँ-आकार में जीव को घेरनेवाला, रोकनेवाला कर्म वस्तुतः आयु कर्म कहलाता है। नाम कर्म के द्वारा शरीर और उसके विविध मुखी अवयवों की संरचना सम्पन्न होती है। जीव ऊँच तथा नीच कुल में जन्म लेता है, उसे गोत्र कर्म कहते हैं। जिसके द्वारा आत्मा को सुख-दुःख का अनुभव होता है, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं।

आत्मिक गुणों में कर्म का कोई स्थान नहीं है। अज्ञानता से कर्म आत्म-गुणों को प्रच्छन्न करता है। आत्म-गुणों को आकर्षित और प्रभावित करने के लिए कर्म-कुल जिस मार्ग को अपनाता है, उसे आस्रव द्वार कहा जाता है। आस्रव भी एक दार्शनिक तथा पारिभाषिक शब्द है। इसके अर्थ होते हैं कर्मों के आने का द्वार। कर्म-संचार वस्तुतः आस्रव कहलाता है। पाप और पुण्य की दृष्टि से आस्रव को भी दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। यथा—

१-पुण्यास्रव

२-पापास्रव।

जिनेन्द्र भक्ति, जीवदया आदि शुभ रूप कर्म-क्रिया पुण्यास्रव कहलाती है जबकि जीव हिंसा, झूठ बोलना आदि कर्म-क्रिया पापास्रव होती है। इससे इसे शुभ और अशुभ भी कहा जाता है। अब यहां इन आठ कर्मों के आस्रव रूप को संक्षेप में प्रस्तुत करेंगे।

आस्रव मार्ग वस्तुतः बहुमुखी होता है। ज्ञान-केन्द्र तक पहुँचने के लिए आस्रव द्वार दशों-दिशाओं से संचार हेतु सर्वदा खुला रहता है। आस्रव मार्ग को बड़ी ही सावधानीपूर्वक जानना और पहिचानना आवश्यक है। ज्ञान और ज्ञानी से ईर्ष्या करना, ज्ञान-साधनों में विघ्न उत्पन्न करना, अपने ज्ञान को प्रच्छन्न करना तथा दूसरों को उससे अवगत न होने देना, गुरु का नाम छिपाना, ज्ञान का गर्व करना इत्यादिक कर्म-क्रियाएँ ज्ञानावरण कर्म का आस्रव कहलाती हैं।

जिनेन्द्र अथवा अर्हत् भगवान के दर्शनों में विघ्न डालना, किसी की आँख फोड़ना, दिन में सोना, मुनिजनों को देखकर मन में ग्लानि करना तथा अपनी दृष्टि का अभिमान करना इत्यादिक कर्म-क्रियाओं से दर्शनावरण कर्म का आस्रव प्रशस्त होता है।

अपने को तथा दूसरों को दुःख उत्पन्न करना, शोक करना, रोना, विलाप करना, जीव बध करना इत्यादिक कार्यों से वेदनीय कर्म का आस्रव होता है।

इसके साथ ही जीव दया करना, दान करना, संयम पालना, वात्सल्य भाव करना, मुनिजनों की वैध्यावृत्ति (सेवा सूश्रुषा) करना आदि से साता वेदनीय कर्म का आस्रव होता है ।

मोहनीय कर्म का दो तरह से आस्रव होता है—दर्शन और चारित्र । दर्शन मोहनीय कर्म-आस्रव हेतु सच्चे देव, शास्त्र गुरु तज्जन्य धर्म में दोष लगाना होता है और कषायों—क्रोध, मान, माया तथा लोभ की तीव्रता रखना, चारित्र में दोष लगाना तथा मलिन भाव करना चारित्र मोहनीय कर्म का आस्रव होता है ।

आयु कर्म का सीधा सम्बन्ध चतुर्गंतियों में आगत जीव से होता है । बहुत आरम्भ एवं परिग्रह करने से नरकायु का आस्रव होता है । मायाचारी (मन से कुछ, वाणी से कुछ और करनी से कुछ और) से तिर्यचगति का आयु आस्रव होता है । थोड़ा आरम्भ तथा परिग्रह से मनुष्यायु का आस्रव और सम्यक्त्व व्रत पालन, देश संयम, बालतप आदि से देव आयु का आस्रव होता है ।

नाम कर्म शुभ और अशुभ दृष्टि से दो प्रकार से आस्रव होता है । मन, वचन, काय को सरल रखना, धर्मात्मा से विसंवाद नहीं करना, षोडश कारण भावना आदि से शुभ नाम कर्म का आस्रव होता है और कुटिल भाव, भगड़ा-कलह आदि से अशुभ नाम कर्म का आस्रव होता है ।

नीच और ऊँच भेद से गोत्र कर्म का आस्रव दो प्रकार का होता है । परनिन्दा, स्वप्रशंसा करना, पर-गुणों को छिपाना और मिथ्या गुणों का बखान करना आदि से नीच गोत्र का आस्रव होता है, जबकि पर-प्रशंसा, अपनी निन्दा, पर-दोषों को ढकना और अपने दोषों को प्रकट करना, गुरुओं के प्रति नम्र वृत्ति रखना, विनय करना आदि से उच्च गोत्र कर्म का आस्रव होता है ।

दान-दातार को रोकना, आश्रितों को धर्म साधन न करने देना, देव-दर्शन, मंदिर के द्रव्य को हड़पना, दूसरों की भोगादि वस्तु या शक्ति में विघ्न डालना आदि से वस्तुतः अन्तराय कर्म का आस्रव होता है ।

इस प्रकार कर्म और उसके व्यापार परक स्थिति का संक्षेप में यहाँ विश्लेषण किया गया है । इन सभी कारणों से आए हुए कर्म पुद्गल-परमाणु आत्मा के साथ एक रूप हो जाते हैं, उसी का नाम बंध है । तीव्र-मंद आदि भावों से होने वाला आस्रव योग और कषाय आदि के निमित्त से १०८ भेद रूप भी माना जाता है । मन, वचन तथा काय समारम्भ अर्थात् हिंसादि करने का प्रयत्न अथवा संकल्प । सारंभ अर्थात् हिंसादि करने के साधन जुटाना, आरम्भ अर्थात् हिंसादि पाप शुरू करने देना, कृत अर्थात् स्वयं करना, कारित अर्थात्

दूसरों से कराना, अनुमोदना अर्थात् करते हुए दूसरों को अनुमति देना तथा कषाय अर्थात् क्रोध, मान माया तथा लोभ तथा तीव्र-मंद आदि भावों से यह एक सौ आठ भेद रूप भी माना जाता है। अर्थात् मनवचनकाया-३ × समा-रम्भादि-३ × कृतकारित-३ × क्रोधादिकषाय-४ = १०८ ।

इन कारकों से आए हुए कर्म पुद्गल परमाणु आत्मा के साथ एकमेव हो जाने से बंध तत्त्व का रूप ग्रहण हो जाता है। कर्म और उसके व्यापार विषयक संक्षेप में चर्चा करने से ज्ञात होता है कि कर्म एक महान शक्ति है। विधि, स्रष्टा, विधाता, दैव, पुराकृत कर्म और ईश्वर ये सब कर्म के पर्याय हैं। कर्मःबंध संसार का भ्रमण का कारण है। कर्म क्षय कर अर्थात् कर्म-मुक्ति होना वस्तुतः मोक्ष को प्राप्त करना है।

## कर्म के दोहे

हाई अक्षर नाम के, अंतर तू पहचान ।  
 एक देत है नर्क गति, दूजा शिव सुखधाम ॥

को मुख को दुःख देत है, देत कर्म भकभोर ।  
 उलभे-सुलभे आपही, ध्वजा पवन के जोर ॥

कर्म कमण्डलु कर लिये, तुलसी जहँ तहँ जात ।  
 सागर सरिता कूप जल, अधिक न बूँद लगात ॥

राम किसी को मारे नहीं, मारे सो नहीं राम ।  
 आपो आप मर जायेगा, कर-कर खोटा काम ॥

आड़ी न आवे मायड़ी, आड़ी न आवे बाप ।  
 क्रिया कर्म जो भोगवे, भुगते आपो आप ॥

प्लेटफार्म पर हैं खड़े, सरखे लोग हजार ।  
 किन्तु मिलेगी क्लास तो, टिकटों के अनुसार ॥

□ डॉ० आदित्य प्रचण्डिया 'दोति'

मिथ्यात्व आदि हेतुओं से निष्पन्न क्रिया कर्म है ।<sup>१</sup> कर्म आत्मा को मलिन करते हैं । उनकी गति गहन है ।<sup>२</sup> वह दुःख परम्परा का मूल है ।<sup>३</sup> कर्म मोह से उत्पन्न होता है और वह जन्म-मरण का मूल कारण भी है ।<sup>४</sup> संसारी जीव के रागद्वेष रूप परिणाम होते हैं । परिणामों से कर्मबंध के कारण जीव संसार चक्र में परिभ्रमण करता है ।<sup>५</sup> वस्तुतः कर्मबंध में आत्मपरिणाम (भाव) ही कारण है पर वस्तु बिल्कुल नहीं ।<sup>६</sup> कर्म बंध वस्तु से नहीं, राग और द्वेष के अध्यवसाय (संकल्प) से होता है ।<sup>७</sup> जो अन्दर में रागद्वेष रूप भाव कर्म नहीं करता, उसे नए कर्म का बंध नहीं होता ।<sup>८</sup> जिस समय जीव जैसे भाव करता है वह उस समय वैसे ही शुभ-अशुभ कर्मों का बंध करता है ।<sup>९</sup>

कर्म कर्ता का अनुगमन करता है ।<sup>१०</sup> जीव कर्मों का बंध करने में स्वतन्त्र है परन्तु उस कर्म का उदय होने पर भोगने में उसके अधीन हो जाता है । जैसे कोई पुरुष स्वेच्छा से वृक्ष पर तो चढ़ जाता है किन्तु प्रमादवश नीचे गिरते समय परवश हो जाता है ।<sup>११</sup> कहीं जीव कर्म के अधीन होते हैं तो कहीं कर्म जीव के अधीन होते हैं ।<sup>१२</sup> जैसे कहीं ऋण देते समय धनी बलवान होता है तो कहीं ऋण लौटाते समय कर्जदार बलवान होता है ।<sup>१३</sup> सामान्य की अपेक्षा कर्म एक है और द्रव्य तथा भाव की अपेक्षा दो प्रकार का है । कर्म पुद्गलों का पिण्ड द्रव्यकर्म है और उसमें रहने वाली शक्ति या उनके निमित्त से जीव में होने वाले रागद्वेष रूप विकार भावकर्म है ।<sup>१४</sup> जो इन्द्रिय आदि पर विजय प्राप्त कर उपयोगमय (ज्ञानदर्शनमय) आत्मा का ध्यान करता है वह कर्मों से नहीं बंधता । अतः पौद्गलिक प्राण उसका अनुसरण कैसे कर सकते हैं ? अर्थात् उसे नया जन्म धारण नहीं करना पड़ता है ।<sup>१५</sup>

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये संश्लेष में आठ कर्म हैं ।<sup>१६</sup> इन कर्मों का स्वभाव परदा, द्वारपाल, तलवार, मद्य, हलि, चित्रकार, कुम्भकार तथा भण्डारी के स्वभाव सदृश है ।<sup>१७</sup> जो आत्मा के ज्ञान गुण को प्रकट न होने दे उसे ज्ञानावरण कहते हैं । जो दर्शनगुण को

आवृत्त करे उसे दर्शनावरण कहते हैं । जो सुख-दुःख का कारण हो उसे वेदनीय कहते हैं । जिसके उदय से जीव अपने स्वरूप को भूलकर पर पदार्थों में अहंकार तथा ममकार करे उसे मोहनीय कहते हैं । जिसके उदय से जीव नरकादि योनियों में परतन्त्र हो उसे आयुर्कर्म कहते हैं । जिसके उदय से शरीरादि की रचना हो वह नाम कर्म है । जिसके उदय से उच्च-नीच कुल में जन्म हो उसे गोत्रकर्म कहते हैं और जिसके द्वारा दान, लाभ आदि में बाधा प्राप्त हो उसे अन्तराय कर्म कहते हैं ।<sup>१५</sup> ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरणी की नौ, वेदनीय की दो, मोहनीय की अट्ठाईस, आयु की चार, नाम की तिरानवे, गोत्र की दो और अन्तराय की पाँच इस प्रकार सब मिलाकर एक सौ अड़तालीस उत्तर प्रकृतियाँ हैं ।<sup>१६</sup> शुभोपयोग रूप निमित्त से जो कर्म बंधते हैं वे पुण्य कर्म तथा अशुभोपयोग रूप निमित्त से जो कर्म बंधते हैं वे पाप कर्म कहलाते हैं । इस प्रकार निमित्त की अपेक्षा कर्मों के दो भेद हैं ।<sup>१७</sup>

कर्म आत्मा का गुण नहीं है क्योंकि आत्मा का गुण होने से वह अमूर्तिक होता और अमूर्तिक का बंध नहीं हो पाता । अमूर्तिक कर्म, अमूर्तिक आत्मा का अनुग्रह और निग्रह उपकार और अपकार करने में समर्थ नहीं होता ।<sup>२१</sup> यद्यपि कर्म सूक्ष्म होने के कारण दृष्टिगोचर नहीं होता तथापि वह मूर्तिक है क्योंकि उसका कार्य जो औदारिक आदि शरीर है वह मूर्तिक है । मूर्तिक की रचना मूर्ति से ही हो सकती है इसलिए दृश्यमान औदारिकादि शरीरों से अदृश्यमान कर्म में मूर्तिपना सिद्ध होता है ।<sup>२२</sup>

निश्चय नय से आत्मा और कर्म दोनों द्रव्य स्वतन्त्र, स्वतन्त्र द्रव्य हैं इसलिए इनमें बंध नहीं है परन्तु व्यवहार नय से कर्म के अस्तित्वकाल में आत्मा स्वतन्त्र नहीं है इसलिए दोनों में बंध माना जाता है । व्यवहार नय से आत्मा और कर्मों में एकता का अनुभव होता है इसलिए आत्मा को मूर्तिक माना जाता है । मूर्तिक आत्मा का मूर्तिक कर्मों के साथ बंध होने में आपत्ति नहीं है ।<sup>२३</sup>

इस प्रकार संसार का प्रत्येक प्राणी परतन्त्र है । यह पौद्गलिक (भौतिक) शरीर ही उसकी परतन्त्रता का चोतक है । पराधीनता का कारण कर्म है जगत में अनेक प्रकार की विषमताएँ हैं । आर्थिक और सामाजिक विषमताओं के अतिरिक्त जो प्राकृतिक विषमताएँ हैं उनका हेतु मनुष्यकृत नहीं हो सकता । विषमताओं का कारण प्रत्येक आत्मा के साथ रहने वाला कोई विजातीय पदार्थ है और वह पदार्थ कर्म है । कारण के बिना कोई कार्य नहीं हो सकता । जैसे आग में तपाने की विशिष्ट प्रक्रिया से सोने का विजातीय पदार्थ उससे पृथक् हो जाता है वैसे ही तपस्या से कर्म दूर हो जाता है ।

संदर्भ संकेत—

- १—क्रियन्ते मिथ्यात्वादिहेतुभिर्जीविनेति कर्माणि ।  
—उशाटी प. ६४१
- २—गहना कर्मसो गतिः ।  
—ब्रह्मानंद गीता ४४
- ३—(क) कर्मेहि लुप्पति पाणिणो ।  
—सूत्र कृतांग २।१।४  
(ख) कम्मुरा उवाहि जायइ ।  
—आचारांग ३।१
- ४—कम्मं च मोहप्पभवं वर्यति,  
कम्मं च जाइ-भरएस्स मूलं ।  
—उत्तराध्ययन ३।१७
- ५—अउभत्थहेउं निययस्स बंधो,  
संसार हेउं च वर्यति बंध ।  
—उत्तराध्ययन सूत्र १४।१६
- ६—अणुमित्तो वि न बंधो,  
परवत्थुपच्चओ भण्णिओ ।  
—ओषनियुंक्ति, गाथा ५३
- ७—ए य वत्थुदो दु बंधो,  
अउभवसारेण बंधोत्तिम ।  
—समयसार २६५
- ८—अकुब्बओ णवं एत्थि ।  
—सूत्रकृतांग १।१५।७
- ९—जं जं समयं जीवो आविसइ जेण जेण भावेण ।  
सो तंमि तंमि समयं, सुहासुहं बंधए कम्मं ॥  
समणसुत्तं, ज्योतिमुंख, ब्र० जिनेन्द्रवर्णी,  
सर्वे सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी-१,  
प्रथम संस्करण २४ अप्रैल १९८५, श्लोकांक ५७,  
पृष्ठांक २०-२१
- १०—(क) कत्तारमेद अणुजाइ कम्मं ।  
—उत्तराध्ययन १३।२३  
(ख) शेते सह शयानेन, गच्छन्तमनु गच्छति ।  
नराणां प्राक्तनं कर्म, तिष्ठत्यथ सहात्मनः ॥  
—पंचतंत्र २।१३०

(ग) यथोद्येनुसहस्रेषु, वत्सो विन्दतिमातरम् ।  
तथैवेह कृतं कर्म, कर्तार मनुगच्छति ॥

—चाणक्यनीति १२।१५

११—कर्म चिरंति सवसा, तस्मुदयाम्भि उपरव्वसा ह्येति ।

रुक्खं दुरुहइ सवसो, विगलइ स परव्वसो तत्तो ॥

—समणसुत्तं, ज्योतिर्मुख, वही, श्लोकांक ६०,  
पृष्ठांक २०-२१

१२—कमयित्तं फलं पुंसां, बुद्धिः कर्मानुसारिणी ।

—चाणक्यनीति १३।१०

१३—कम्मवसा खलु जीवा, जीववसाइं कहिच्चि कम्माइं ।

कत्थइ धणिओ बलवं, धारणिओ कत्थई बलवं ॥

—समणसुत्तं, ज्योतिर्मुख, वही, श्लोकांक ६१,  
पृष्ठांक २०-२१

१४—(क) कम्मत्तणेण एककं, दब्बं भावोत्ति होदि दुविहं तु ।

पोग्गल पिंडो दब्बं, तस्सती भावकम्मं तु ॥

—समणसुत्तं, ज्योतिर्मुख, वही, श्लोकांक ६२,  
पृष्ठांक २०-२१

(ख) अहंत्प्रवचन, सम्पादक—चैनसुखदास न्यायतीर्थ, आत्मोदय  
ग्रंथमाला जयपुर, सितम्बर १९६२, श्लोकांक ७, पृष्ठांक १८

१५—(क) जो इंदियादि विजई, भवीय उवओग मप्यंग आदि ।

कम्मेहि सो ण रंजदि, किह तं पाणा अणुचरंति ॥

—समणसुत्तं, ज्योतिर्मुख, वही, श्लोकांक ६३,  
पृष्ठांक २०-२१

(ख) कम्मवीएसु दडढेसु, न जायति भवंकुरा ।

—दशाश्रुत स्कंध ५।१५

(ग) अकम्मस्स ववहारो न विज्जई ।

—आचारंग ३।१

१६—(क) नाणस्सावरणिज्जं दंसणावरणं तथा ।

वेयणिज्जं तथा मोहं, आउकम्मं तहेव य ॥

नाम कम्मं च गोयं च, अंतरायं तहेव य ।

एवमेयाइं कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ ॥

—समणसुत्तं, ज्योतिर्मुख, वही, श्लोकांक ६४-६५  
पृष्ठांक २२-२३

(ख) ज्ञानदर्शनयो रोधौवेद्यं मोहायुषी तथा ।

नाम गोत्रान्तरायाश्च मूल प्रकृतयः स्मृताः ॥

—तत्त्वार्थसार, पंचमाधिकार, सम्पादक पण्डित  
पन्नालाल साहित्याचार्य, श्री गणेशप्रसाद वर्मा  
ग्रंथमाला, डुमराव बाग, अस्सी, वाराणसी-५,  
प्रथम संस्करण १९ अप्रैल १९७०, श्लोकांक २२,  
पृष्ठांक १४५

(ग) अट्ठ कम्मपगडीओ पन्नत्राओ, तं जहा एणावरणिज्जं  
दंसणावरणिज्जं, वेयणिज्जं, मोहणिज्जं, आउयं, नामं, मोर्यं,  
अंतराड्यं ।

—प्रज्ञापना २१।१

१७--(क) पड-पडिहार-सि-मज्ज, हड-चित्त-कुलाल-मंडगारीणं ।

जह एससि भावा, कम्माण वि जाण तह भावा ॥

—समाणसुत्तं, ज्योतिर्मुख, वही, श्लोकांक ६६,  
पृष्ठांक २२-२३

(ख) अर्हत्प्रवचन, सम्पादक पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ, वही,  
श्लोकांक १०, पृष्ठांक १९ ।

१८—अपभ्रंश वाङ्मय में व्यवहृत पारिभाषिक शब्दावलि, डॉ. आदित्य  
प्रचण्डिया 'दीति' परामर्श, खंड ५, अंक ४, सितम्बर १९८४,  
सम्पादक सुरेन्द्र बारलिंगे आदि, पुरी विश्वविद्यालय प्रकाशन, पुरी,  
पृष्ठांक ३२४ ।

१९—अन्याः पञ्च नव द्वे च तथाष्टाविंशतिः क्रमात् ।

चतस्रश्च त्रिसंयुक्तं नवतिद्वौ च पञ्च च ॥

—तत्त्वार्थसार, पंचमाधिकार, वही, श्लोकांक २३,  
पृष्ठांक १४६-१५५ ।

२०—(क) शुभाशुभोपयोगाख्यनिमित्तो द्विविधस्तथा ।

पुण्य-पाप तथा द्वेषा सर्वं कर्म प्रभिद्यते ॥

—तत्त्वार्थसार, पंचमाधिकार, श्लोकांक ५१,  
पृष्ठांक १५८ ।

(ख) सुह परिणामो पुण्यं, असुहो एवं ति हवदि जीवस्स ।

—पंचास्तिकाय १३२



२१—न कर्मात्म गुणोऽमूर्ते स्तस्य बन्धाप्रसिद्धितः ।  
अनुग्रहोपघातो हि नामूर्तेः कर्तुमर्हति ॥

—तत्त्वार्थसार, पंचमाधिकार, श्लोकांक १४,  
पृष्ठांक १४३

२२—श्रौदारिकादि कार्याणां कारणं कर्ममूर्तिमत ।  
न ह्यमूर्तेन मूर्तानामारम्भः क्वापि दृश्यते ॥

—तत्त्वार्थसार, पंचाधिकार, श्लोकांक १५,  
पृष्ठांक १४३

२३—तत्त्वार्थसार, पंचमाधिकार, वही, श्लोकांक १६-२०, पृष्ठ १४४-१४५



## कर्म-सूक्तियाँ

सकम्मुणा किञ्चइं पावकारी,  
कडारा कम्माण ए मोवख अत्थि ।

—उत्तराध्वयन ४।३

पापात्मा अपने ही कर्मों से पीड़ित होता है, क्योंकि कृतकर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं है ।

पक्के फलमिह पडिए, जह ए फलं बज्भए पुराणे विटे ।  
जीवस्स कम्मभावे, पडिए ण पुराणेदयभुवेई ॥

—समयसार १६८

जिस प्रकार पका हुआ फल गिर जाने के बाद पुनः वृत्त से नहीं लग सकता, उसी प्रकार कर्म भी आत्मा से विमुक्त होने के बाद पुनः आत्मा (वीतराग) को नहीं लग सकते ।

रागो य दोसो वि य कम्मवीर्यं,  
कम्मं च मोहएपभवं वयंति ।  
कम्मं च जाईमरणास्स मूलं,  
दुक्खं च जाईमरणं वयंति ॥

—उत्तराध्वयन ३२।७

राग और द्वेष ये दो कर्म के बीज हैं । कर्म मोह से उत्पन्न होता है । कर्म ही जन्म-मरण का मूल है और जन्म-मरण ही वस्तुतः दुःख है ।

## करण सिद्धान्त : भाग्य-निर्माण की प्रक्रिया

□ श्री कन्हैयालाल लोढा

जैन-दर्शन की दृष्टि में कर्म भाग्य विधाता है, कर्म के नियम या सिद्धान्त विधान है। दूसरे शब्दों में कहें तो कर्म ही भाग्य है। जैन कर्म ग्रंथों में कर्म-बंध और कर्म फल भोग की प्रक्रिया का अति विशद वर्णन है। उनमें जहाँ एक ओर यह विधान है कि बंधा हुआ कर्म फल दिये बिना कदापि नहीं छूटता है, वहीं दूसरी ओर उन नियमों का भी विधान है, जिनसे बंधे हुए कर्म में अनेक प्रकार से परिवर्तन भी किया जा सकता है। कर्म बंध से लेकर फल-भोग तक की इन्हीं अवस्थाओं व उनके परिवर्तन की प्रक्रिया को शास्त्र में करण कहा गया है। कर्म बंध व उदय से मिलने वाले फल ही भाग्य कहा जाता है। कर्म में परिवर्तन होने से उसके फल में, भाग्य में भी परिवर्तन हो जाता है। अतःकरण को भाग्य परिवर्तन की प्रक्रिया भी कहा जा सकता है। महापुराण में कहा है—

विधि, स्रष्टा, विधाता, देव कर्म पुराकृतम् ।

ईश्वरेष्वेते, पर्यायकर्मवेधस् ॥४३७॥

विधि, स्रष्टा, विधाता, देव, पुराकृतम्, ईश्वर ये कर्म रूपी ब्रह्मा के पर्यायवाची शब्द हैं। अर्थात् कर्म ही वास्तव में ब्रह्म या विधाता है।

**करण आठ हैं :**

व्याकरण की दृष्टि से करण उसे कहा जाता है जिसकी सहायता से क्रिया या कार्य हो। दूसरे शब्दों में जो क्रिया या कार्य में सहायक कारण हो। उक्त आठ प्रकार की क्रिया से कर्म पर प्रभाव पड़ता है और उनकी अवस्था व फलदान की शक्ति में परिवर्तन होता है। अतः इन्हें करण कहा गया है। कर्म-शास्त्रों में आगत इन करणों का त्रिवेचन वनस्पति विज्ञान एवं चिकित्सा शास्त्र के नियमों व दृष्टान्तों द्वारा मनोविज्ञान एवं व्यावहारिक जीवन के आधार पर प्रस्तुत किया जा रहा है।

**१. बन्धन करण :**

कर्म परमाणुओं का आत्मा के साथ सम्बन्ध होने को बंध कहा जाता है। यहाँ कर्म का बंधना या संस्कार रूप बीज का पड़ना बंधन करण है। इसे मनो-विज्ञान की भाषा में ग्रंथि निर्माण भी कहा जा सकता है। इसी कर्म-बीज के

उदय या फलस्वरूप प्राणी सुख-दुःख रूप फल भोगता है। जिस प्रकार शरीर में भोजन के द्वारा ग्रहण किया गया भला पदार्थ शरीर के लिए हितकर और बुरा पदार्थ अहितकर होता है। इसी प्रकार आत्मा द्वारा ग्रहण किए गए शुभ-कर्म परमाणु आत्मा के लिए सुफल सौभाग्यदायी एवं ग्रहण किए गए अशुभ कर्म परमाणु आत्मा के लिए कुफल दुर्भाग्यदायी होते हैं। अतः जो दुर्भाग्य को दूर रखना चाहते हैं उन्हें हिंसा, भ्रूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, क्रोध, मान, माया लोभ आदि पाप प्रवृत्तियों—अशुभ कर्मों से बचना चाहिये। क्योंकि इनके फल-स्वरूप दुःख मिलता ही है और जो सौभाग्य चाहते हैं उन्हें सेवा, परोपकार, वात्सल्य भाव आदि पुण्य प्रवृत्तियों, शुभ कर्मों को अपनाना चाहिये। कारण कि जैसा बीज बोया जाता है वैसा ही फल लगता है। यह प्राकृतिक विधान है, इसे कोई नहीं टाल सकता। किसी की हिंसा या बुरा करने वाले को फलस्वरूप हिंसा ही मिलने वाली है, बुरा ही होने वाला है। भला या सेवा करने वाले का उसके फलस्वरूप भला ही होता है।

किसी विषय, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि के प्रति अनुकूलता में राग रूप प्रवृत्ति करने से और प्रतिकूलता में द्वेष रूप प्रवृत्ति करने से उसके साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यह सम्बन्ध ही बन्ध है, बन्धन है। इस प्रकार राग-द्वेष करने का प्रभाव चेतना के गुणों पर क्या उन गुणों की अभिव्यक्ति से सम्बन्धित माध्यम शरीर, इन्द्रिय, मन, वाणी आदि पर पड़ता है। अतः राग-द्वेष रूप जैसी प्रवृत्ति होती है, वैसे ही कर्म बंधते हैं तथा जितनी-जितनी राग-द्वेष की अधिकता-न्यूनता होती है उतनी-उतनी बंधन के टिकने की सबलता-निर्बलता तथा उसके फल की अधिकता-न्यूनता होती है। इसलिए जो व्यक्ति जितना राग-द्वेष कम करता है उतना ही कम कर्म बांधता है। जो समभाव रखता है, समदृष्टि रहता है, वह पाप कर्म का बंध नहीं करता है। अतः बंध से बचना है तो राग-द्वेष से बचना चाहिये।

**नियम :**

- (१) कर्म बन्ध का कारण राग-द्वेष युक्त प्रवृत्ति है।
- (२) जो जैसा अच्छा-बुरा कर्म करता है, वह वैसा ही सुख-दुःख रूप फल भोगता है।
- (३) बन्धे हुए कर्म का फल अवश्यमेव स्वयं को ही भोगना पड़ता है। कोई भी अन्य व्यक्ति व शक्ति उससे छुटकारा नहीं दिला सकती।

**२. निघत्त करण :**

कर्म बन्ध की वह दशा जिसमें कर्म इतना दृढ़तर बंध जाय कि उसमें स्थिति और रस में फेरफार तथा घट-बढ़ हो सके परन्तु उसका ग्रामूल-चूल परिवर्तन, संक्रमण और उदीरण न हो सके, उसे निघत्त करण कहते हैं।

कर्म की यह स्थिति किसी प्रकृति या क्रिया में अधिक रस लेने, प्रवृत्ति की पुनरावृत्ति करने से होती है। जिस प्रकार किसी पौधे को बार-बार उखाड़ा जाय या हानि पहुँचाई जाये तो वह सूख सा जाता है और उसमें विशेष फल देने की शक्ति नष्ट हो जाती है। अथवा जिस प्रकार बार-बार अफीम खाने से या शराब पीने से अफीम खाने या शराब पीने की आदत इतनी दृढ़तर हो जाती है कि उसका छूटना कठिन होता है भले ही मात्रा में कुछ घट-बढ़ हो जाय। अथवा इन्द्रिय सुख के आधीन हो कोई बार-बार मिथ्या आहार-बिहार करे, जिससे उसके जलंदर, भगंदर, क्षय जैसी दुसाध्य बीमारी हो जाय जो जन्म भर मिटे ही नहीं केवल उसमें कुछ उतार-चढ़ाव आ जाय। इसी प्रकार जिस क्रिया में योग अर्थात् मन-वचन-काया की प्रवृत्ति की पुनरावृत्ति की अधिकता हो एवं रस की अर्थात् राग-द्वेष आदि कषाय की अधिकता हो तो कर्म की ऐसी स्थिति का बन्ध हो जाता है कि जिसमें कुछ घट-बढ़ तो हो सके परन्तु उसका रूपांतरण व दूसरी प्रकृति रूप परिवर्तन न हो सके, उसके फल को भोगना ही पड़े।

अतः हमें किसी विषय-सुख का बार-बार भोग करने एवं अधिक रस लेने से बचना चाहिये ताकि कर्म का दृढ़तर बन्ध न हो।

**नियम :** निधत्त कर्म में संक्रमण व उदीरणा नहीं होती है।

### ३. निकाचित करण :

कर्म-बन्ध की वह दशा जिसमें कर्म इतने दृढ़तर हो जाय कि उनमें कुछ भी फेर-फार न हो सके, जिसे भोगना ही पड़े, निकाचना कहलाती है। कर्म की यह दशा निधत्तकरण से अधिक बलवान होती है। कर्म की यह स्थिति अत्यधिक गृहता से होती है। जिस प्रकार पौधे को खाद, रस आदि पूर्ण अनुकूलता मिलने से उसके फल में स्थित बीज का ऐसा पोषण होता है कि उसके उगने की शक्ति पूर्ण विकसित हो जाती है। अथवा किसी रोगी द्वारा बार-बार गलती दोहरायी जाय व परहेज इतना बिगाड़ दिया जाय कि रोग ऐसी स्थिति में पहुँच जाय कि उसमें कमी आवे ही नहीं। या कैंसर जैसे असाध्य रोग का हो जाने से उसके भोगे बिना छुटकारा नहीं होता है, वैसे ही जिस कर्म को भोगे बिना छुटकारा न हो, वह निकाचित कर्म है। जिस प्रकार कैंसर आदि असाध्य रोग से बचने, दूर रहने में ही अपना हित है कारण कि उसका एक बार हो जाने पर फिर मिटना असम्भव है, इसी प्रकार कर्म बन्ध की ऐसी दशा से बचने या दूर रहने में ही अपना हित है—जिसे बिना भोगे छुटकारा असम्भव है। इस घातक दशा से बचना तब ही सम्भव है जब किसी प्रवृत्ति में अत्यन्त गृह न हो। अत्यधिक आसक्त न हो।

निधत्त और निकाचित कर्म-बन्ध की ये दोनों दशाएँ असाध्य रोग के समान हैं परन्तु निधत्त से निकाचित कर्म अधिक प्रबल व दुःखद है। अतः इनसे बचने में ही निज हित है।

**नियम :**

निकाचित कर्म में संक्रमण व उदीरणा, उद्वर्तन, अपवर्तन करण नहीं होते हैं । कोई-कोई आचार्य सामान्य सा उद्वर्तन-अपवर्तन होना मानते हैं ।

**४. उद्वर्तना करण :**

जिस क्रिया या प्रवृत्ति से बन्धे हुए कर्म की स्थिति और रस बढ़ता है, उसे उद्वर्तना करण कहते हैं । ऐसा ही पहले बांधे हुए कर्म-प्रकृति के अनुरूप पहले से अधिक प्रवृत्ति करने तथा उसमें अधिक रस लेने से होता है । जैसे पहले किसी ने डरते-डरते किसी की छोटी सी वस्तु चुरा कर लोभ की पूर्ति की फिर वह डाकुओं के गिरोह में मिल गया तो उसकी लोभ की प्रवृत्ति का पोषण हो गया, वह बहुत बढ़ गई तथा अधिककाल तक टिकाऊ भी हो गई, वह निघड़क डाका डालने व हत्याएँ करने लगा । इस प्रकार उसकी पूर्व की लोभ की वृत्ति का पोषण होना, उसकी स्थिति व रस का बढ़ना उद्वर्तना कहा जाता है । जिस प्रकार खेत में उगे हुए पौधे को अनुकूल खाद व जल मिलने से वह हृष्ट-पुष्ट होता है, उसकी आयु व फलदान शक्ति बढ़ जाती है इसी प्रकार पूर्व में बन्धे हुए कर्मों को उससे अधिक तीव्ररस, राग-द्वेष, कषाय का निमित्त मिलने से उनकी स्थिति और फल देने की शक्ति बढ़ जाती है । अथवा जिस प्रकार किसी ने पहले साधारण सी शराब पी, इसके पश्चात् उसने उससे अधिक तेज नशे वाली शराब पी तो उसके नशे की शक्ति पहले से अधिक बढ़ जाती है या किसी मधुमेह के रोगी ने शक्कर या कुछ मीठा पदार्थ खा लिया फिर वह अधिक शक्कर वाली मिठाई खा लेता है तो उस रोग की पहले से अधिक वृद्धि होने की स्थिति हो जाती है । इसी प्रकार विषय सुख में राग की वृद्धि होने से तथा दुःख में द्वेष बढ़ने से तत्संबंधी कर्म की स्थिति व रस अधिक बढ़ जाता है । अतः हित इसी में है कि कषाय (रस) को वृद्धि कर पाप कर्मों की स्थिति व रस को न बढ़ाया जाय और पुण्य कर्म को न घटाया जाय ।

**नियम :**

- (१) सत्ता में स्थित कर्म की स्थिति व रस से वर्तमान में बध्यमान कर्म की स्थिति व रस का अधिक बन्ध होता है, तब ही उद्वर्तन करण सम्भव है ।
- (२) संक्लेश (कषाय) की वृद्धि से आयु कर्म को छोड़कर शेष कर्मों की सब प्रकृतियों की स्थिति का एवं सब पाप प्रकृतियों के अनुभाग (रस) में उद्वर्तन होता है । विगुद्धि (शुभ भावों) से पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग (रस) में उद्वर्तन होता है ।

**५. अपवर्तना करण :**

पूर्व में बन्धे हुए कर्मों की स्थिति और रस में कमी आ जाना अपवर्तना-करण है । पहले किसी अशुभ कर्म का बन्ध करने के, पश्चात् जीव यदि फिर

अच्छे कर्म (काम) करता है तो उसके पहले बाँधे हुए कर्मों की स्थिति व फलदान शक्ति घट जाती है जैसे श्रेणिक ने पहले, त्रूर कर्म करके सातवीं नरक की आयु का बंध कर लिया था परन्तु फिर भगवान् महाबोर की शरण व समवशरण में आया, उसे सम्यक्त्व हुआ जिमसे अपने कृत कर्मों पर पश्चात्ताप हुआ तो शुभ भावों के प्रभाव से उसकी बांधी हुई सातवीं नरक की आयु घटकर पहले नरक की ही रह गई । इसी प्रकार कोई अच्छे काम करे और उच्च स्तरीय देव गति का बन्ध करे फिर शुभ भावों में गिरावट आ जाय तो वह उच्च स्तरीय देवगति के बन्ध में गिरावट आकर निम्न स्तरीय देवगति का हो जाता है । अथवा जिस प्रकार खेत में स्थित पौधे को प्रतिकूल खाद, ताप व जलवायु मिले तो उसकी आयु व फलदान की शक्ति घट जाती है । इसी प्रकार सत्ता में स्थित कर्मों का बन्ध कोई प्रतिकूल काम करे तो उसकी स्थिति व फलदान शक्ति घट जाती है । अथवा जिस प्रकार पित्त का रोग नीबू व आलूबुखारा खाने से, तीव्र क्रोध का वेग जल पीने से, ज्वर का अधिक तापमान बर्फ रखने से घट जाता है इसी प्रकार पूर्व में किए गए दुष्कर्मों के प्रति संवर तथा प्रायश्चित्त आदि करने से उनकी फलदान शक्ति व स्थिति घट जाती है ।

अतः विषय-कषाय की अनुकूलता में हर्ष व रति तथा प्रतिकूलता में खेद (शोक) व अरति न करने से अर्थात् विरति (संयम) को अपनाने में ही आत्म-हित है ।

### नियम :

संक्लेश (कषाय) की कमी एवं विशुद्धि (शुभ भावों) की वृद्धि से पहले बन्धे हुए कर्मों में आयु कर्म को छोड़ कर शेष सब कर्मों की स्थिति एवं पाप प्रकृतियों के रस में अपवर्तन (कमी) होता है । संक्लेश की वृद्धि से पुण्य प्रकृतियों के रस में अपवर्तन होता है ।

### ६. संक्रमण करण :

पूर्व में बन्धे कर्म की प्रकृति का अपनी जातीय अन्य प्रकृति में रूपांतरित हो जाना संक्रमण करण कहा जाता है । वर्तमान में वनस्पति विशेषज्ञ अपने प्रयत्न विशेष से खट्टे फल देने वाले पौधे को मीठे फल देने वाले पौधे के रूप में परिवर्तित कर देते हैं । निम्न जाति के बीजों को उच्च जाति के बीजों में बदल देते हैं । इसी प्रक्रिया से गुलाब की संकड़ों जातियाँ पैदा की हैं । वर्तमान वनस्पति विज्ञान में इस संक्रमण प्रक्रिया को संकर-प्रक्रिया कहा जाता है जिसका अर्थ संक्रमण करना ही है । इसी संक्रमण करण की प्रक्रिया से संकर मक्का, संकर बाजरा, संकर गेहूँ के बीज पैदा किए गए हैं । इसी प्रकार पूर्व में बंधी हुई कर्म-प्रकृतियाँ वर्तमान में बंधने वाली कर्म प्रकृतियों में परिवर्तित हो जाती हैं, संक्रमित हो जाती हैं । अथवा जिस प्रकार चिकित्सा के द्वारा शरीर के विकार

ग्रस्त अंग हृदय, नेत्र आदि को हटाकर उनके स्थान पर स्वस्थ हृदय, नेत्र आदि स्थापित कर ग्रंथे व्यक्ति को सूक्ष्मता कर देते हैं, रुग्ण हृदय को स्वस्थ हृदय बना देते हैं तथा अपच या मंदाग्नि का रोग, सिरदर्द, ज्वर निर्बलता, कब्ज या अतिसार में बदल जाता है। इससे दुहरा लाभ होता है—(१) रोग के कष्ट से बचना एवं (२) स्वस्थ अंग की शक्ति की प्राप्ति। इसी प्रकार पूर्व की बंधी हुई अशुभ कर्म प्रकृति को अपनी सजातीय शुभ कर्म प्रकृति में बदला जाता है और उनके दुःखद फल से बचा जा सकता है।

यह संक्रमण या रूपान्तरण कर्म के मूल भेदों में परस्पर में नहीं होता है। अर्थात् ज्ञानावरण कर्म, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय आदि किसी अन्य कर्म रूप में नहीं होता है। इसी प्रकार दर्शनावरण कर्म, ज्ञानावरण, वेदनीय आदि किसी अन्य कर्म रूप में नहीं होता है। यही बात अन्य सभी कर्मों के विषय में भी जाननी चाहिये। संक्रमण किसी एक ही कर्म के अवान्तर में उत्तर प्रकृतियों में अपनी सजातीय अन्य उत्तर प्रकृतियों में होता है। जैसे वेदनीय कर्म के दो भेद हैं। सातावेदनीय और असातावेदनीय। इनका परस्पर में संक्रमण हो सकता है अर्थात् सातावेदनीय असातावेदनीय रूप हो सकता है और असातावेदनीय सातावेदनीय रूप हो सकता है परन्तु इस नियम के कुछ अपवाद हैं। जैसे दर्शन मोहनीय और चारित्र्य मोहनीय ये दोनों मोहनीय कर्म की ही अवान्तर या उप-प्रकृतियाँ हैं—परन्तु इनमें भी परस्पर में संक्रमण नहीं होता है। इसी प्रकार आयु कर्म की चार अवान्तर प्रकृतियाँ हैं उनमें भी परस्पर में संक्रमण नहीं हो सकता है अर्थात् नरकायु का बंध कर लेने पर जीव को नरक में ही जाना पड़ता है। वह तिर्यंच, मनुष्य, देव गति में नहीं जा सकता है।

कर्म-सिद्धान्त में निरूपित संक्रमण-प्रक्रिया को आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में मार्गान्तरीकरण (Sublimation of mental energy) कहा जा सकता है। यह मार्गान्तरीकरण या रूपान्तरण दो प्रकार का है—१. अशुभ प्रकृति का शुभ प्रकृति में और २. शुभ प्रकृति का अशुभ प्रकृति में। शुभ (उदात्त) प्रकृति का अशुभ (कुत्सित) प्रकृति में रूपान्तरण अनिष्टकारी है और अशुभ (कुत्सित) प्रकृति का शुभ (उदात्त) प्रकृति में रूपान्तरण हितकारी है। वर्तमान मनोविज्ञान में कुत्सित प्रकृति के उदात्त प्रकृति में रूपान्तरण को उदात्तीकरण कहा जाता है। यह उदात्तीकरण संक्रमण करण का ही एक अंग है, एक अवस्था है।

आधुनिक मनोविज्ञान में उदात्तीकरण पर विशेष अनुसंधान हुआ है तथा प्रचुर प्रकाश डाला गया है। राग या कुत्सित काम भावना का संक्रमण या उदात्तीकरण, मन की प्रवृत्ति को मोड़कर श्रेष्ठ कला, सुन्दर चित्र या महाकाव्य, भाव भक्ति में लगाकर किया जा सकता है। वर्तमान में उदात्तीकरण प्रक्रिया

का उपयोग व प्रयोग कर उद्वण्ड, अनुशासनहीन, तोड़-फोड़ करने वाले अपराधी-मनोवृत्ति के छात्रों एवं व्यक्तियों को उनकी रुचि के किसी रचनात्मक कार्य में लगा दिया जाता है। फलस्वरूप वे अपनी हानिकारक व अपराधी प्रवृत्ति का त्याग कर समाजोपयोगी कार्य में लग जाते हैं, अनुशासनप्रिय नागरिक बन जाते हैं।

कुत्सित प्रकृतियों को सद् प्रकृतियों में संक्रमण या रूपान्तरण करने के लिए आवश्यक है कि पहले व्यक्ति को इन्द्रिय-भोगों की वास्तविकता को उसके वर्तमान जीवन की दैनिक घटनाओं के आधार पर समझाया जाये। भोग का सुख क्षणिक है, नश्वर है व पराधीनता में आवद्ध करने वाला है, परिणाम में नीरसता या अभाव ही शेष रहता है। भोग जड़ता व विकार पैदा करने वाला है। नवीन कामनाओं को पैदा कर चित्त को अशांत बनाने वाला है। संघर्ष, द्वन्द्व, अन्तर्द्वन्द्व पैदा करने वाला है। सुख के भोगी को दुःख भोगना ही पड़ता है। सुख में दुःख अन्तर्गर्भित रहता ही है। भोगों के सुख के त्याग से तत्काल शान्ति, स्वाधीनता, प्रसन्नता की अनुभूति होती है। इस प्रकार भोगों के सुख क्षणिक-अस्थायी सुख के स्थान पर हृदय में स्थायी सुख प्राप्ति का भाव जागृत किया जाय। भावी दुःख से छुटकारा पाने के लिये वर्तमान के क्षणिक सुख के भोग का त्याग करने की प्रेरणा दी जाय। इससे आत्म-संयम की योग्यता पैदा होती है फिर दूसरों को सुख देने के लिए भी अपने सुख व सुख सामग्री को दूसरों की सेवा में लगाने की प्रवृत्ति होती है। दूसरों की निःस्वार्थ सेवा से जो प्रेम का रस आता है उसका आनन्द सुखभोगजनित सुख से निराला होता है। उस सुख में वे दोष या कमियाँ नहीं होतीं जो भोगजनित सुख में होती हैं। प्रेम के सुख का यह बीज उदारता में फलवित, पुष्पित तथा फलित होता है और अन्त में सर्व-हितकारी प्रवृत्ति का रूप ले लेता है।

जिस प्रकार कर्म-सिद्धान्त में संक्रमण केवल सजातीय प्रकृतियों में सम्भव है, इसी प्रकार मनोविज्ञान में भी रूपान्तरण केवल सजातीय प्रकृतियों में ही सम्भव माना है। दोनों ही विज्ञातीय प्रकृतियों के साथ संक्रमण या रूपान्तरण नहीं मानते हैं। संक्रमणकरण और रूपान्तरकरण दोनों ही में यह सैद्धान्तिक समानता आश्चर्यजनक है।

कर्म सिद्धान्त के अनुसार पाप प्रवृत्तियों से होने वाले दुःख, वेदना, अशान्ति आदि से छुटकारा, परोपकार रूप पुण्य प्रवृत्तियों से किया जा सकता है। इसी सिद्धान्त का अनुसरण वर्तमान मनोविज्ञानवेत्ता भी कर रहे हैं। उनका कथन है कि उदात्तीकरण शारीरिक एवं मानसिक रोगों के उपचार में बड़ा कारगर उपाय है। मनोवैज्ञानिक चिकित्सालयों में असाध्य प्रतीत होने वाले महारोग उदात्तीकरण से ठीक होते देखे जा सकते हैं।



जिस प्रकार अशुभ प्रवृत्तियों का शुभ प्रवृत्तियों में रूपान्तरण होना जीवन के लिए उपयोगी व सुखद होता है, इसी प्रकार शुभ प्रवृत्तियों का अशुभ प्रवृत्तियों में रूपान्तरण व संक्रमण होना जीवन के लिए अनिष्टकारी व दुःखद होता है। सज्जन भद्र व्यक्ति जब कुसंगति, कुत्सित वातावरण में पड़ जाते हैं और उसमें प्रभावित हो जाते हैं तो उनकी शुभ प्रवृत्तियाँ अशुभ प्रवृत्तियों में परिवर्तित हो जाती हैं जिससे उनका मानसिक एवं नैतिक पतन हो जाता है। परिणामस्वरूप उनको कष्ट, रोग, अशान्ति, रिक्तता, हीन भावना, निराशा, अनिद्रा आदि अनेक प्रकार के दुःख भोगना पड़ता है।

कर्म-शास्त्र के अनुसार संक्रमण पहले बंधी हुई प्रकृतियों (आदतों) का वर्तमान में बध्यमान (बंधने वाली) प्रकृतियों में होता है अर्थात् पहले प्रवृत्ति करने से जो प्रकृति (आदत) पड़ गई—बंध गई है वह प्रकृति (आदत) वर्तमान में जो प्रवृत्ति की जा रही है उससे अभी जो आदत (प्रकृति) बन रही है, उस आदत का अनुसरण-अनुगमन करती है। तथा इस नवीन बनने वाली आदतों के अनुरूप पुरानी आदतों में परिवर्तन होता है। उदाहरणार्थ—पहले किसी व्यक्ति को प्रवृत्ति-प्रकृति ईमानदारी की है परन्तु वर्तमान में वह बेईमानी की प्रवृत्ति कर रहा है तो उसकी प्रकृति (आदत) बेईमानी की प्रकृति (आदत) में बदल जाती है। इसके विपरीत किसी व्यक्ति में पहले बेईमानी की आदत पड़ी हुई है और वर्तमान में ईमानदारी की प्रवृत्ति कर रहा है, इससे ईमानदारी की आदत का निर्माण हो रहा है तो पहले की बेईमानी की आदत ईमानदारी में बदल जाती है, यह सर्वविदित है। शरीर और इन्द्रिय भीतर से अशुचि के भंडार हैं एवं नाशवान हैं। इस सत्य का ज्ञान किसी को है। परन्तु अब वह शरीर व इन्द्रिय सुख के भोग में प्रवृत्त हो, मोहित हो जाता है तो उसे शरीर व इन्द्रिय सुन्दर व स्थायी प्रतीत होने लगता है। इस प्रकार उसका पूर्व का सच्चा ज्ञान आच्छादित हो जाता है, दूसरे शब्दों में कहें तो अज्ञानरूप हो जाता है अर्थात् ज्ञान अज्ञान में रूपान्तरित, संक्रमित हो जाता है। आगे भी उसका मोह जैसे-जैसे घटता-बढ़ता जायेगा उसकी इस अज्ञान की प्रकृति में भी घट-बढ़ होती जायेगी, अपवर्तन-उद्वर्तन होता जावेगा और मिथ्यात्व रूप मोह का नाश हो जायेगा तो अज्ञान का नाश हो जायेगा और ज्ञान प्रकट हो जायेगा। वही अज्ञान, ज्ञान में बदल जायेगा। इसी प्रकार क्षोभ (क्रोध) और क्षमा, मान और विनय, माया और सरलता, लोभ और निलोभता, हिंसा और दया, हर्ष और शोक, शोषण और पोषण, करुणा और क्रूरता, प्रेम और मोह, जड़ता और चिन्मयता, परस्पर में वर्तमान प्रकृतियों के अनुरूप संक्रमित-रूपान्तरित हो जाते हैं। किसी प्रकृति की स्थिति व अनुभाग का घटना (अपवर्तन) बढ़ना (उद्वर्तन) भी स्थिति, संक्रमण व अनुभाग संक्रमण के ही रूप हैं।

संक्रमण करण का उपर्युक्त सिद्धान्त स्पष्टतः इस सत्य को उद्घाटित

करता है कि किसी ने पहले कितने ही अच्छे कर्म बांधे हों यदि वह वर्तमान में दुष्प्रवृत्तियाँ कर बुरे (पाप) कर्म बान्ध रहा है तो पहले के अच्छे (पुण्य) कर्म बुरे (पाप) कर्म में बदल जावेंगे, फिर उनका कोई अच्छा सुखद फल नहीं मिलने वाला है। इसके विपरीत किसी ने पहले दुष्कर्म (पाप) किए हैं, बांधे हैं परन्तु वर्तमान में वह सत्कर्म कर रहा है तो वह अपने बुरे कर्मों के दुःखद फल से छुटकारा पा लेता है। दूसरे शब्दों में कहें तो हम हमारे वर्तमान जीवन काल का सदुपयोग-दुरुपयोग कर अपने भाग्य को सौभाग्य या दुर्भाग्य में बदल सकते हैं। इसकी हमें पूर्ण स्वाधीनता है तथा हमारे में सामर्थ्य भी है। इसे उदाहरण से समझें—

'क' एक व्यापारी है। 'ख' उसका प्रमुख ग्राहक है। 'क' को उससे विशेष लाभ होता है। 'क' के लोभ की पूर्ति होती है तथा 'ख' 'क' के व्यवहार की बहुत प्रशंसा करता है जिससे 'क' के मान की पुष्टि होती है। अतः 'क' का 'ख' के साथ लोभ और मान रूप घनिष्ठ सम्बन्ध या बन्ध है परन्तु 'क' ने 'ख' को लोभ वश असली माल के बजाय नकली माल दे दिया। इस धोखे का जब 'ख' को पता चला तो वह रुष्ट हो गया और उस पर 'क' की जो रकम उधार थी उसने उसे देने से मना कर दिया। गाली-गलोच कर 'क' का अपमान कर दिया। इससे 'क' को क्रोध आया। अब 'क' का 'ख' के प्रति लोभ व मान रूप जो राग का सम्बन्ध था वह क्रोध व द्वेष में रूपान्तरित-संक्रामित हो गया।

**नियम :**

- (१) प्रकृति संक्रमण बध्यमान प्रकृति में ही होता है।
- (२) संक्रमण सजातीय प्रकृतियों में ही होता है।

**नोट :** १. उद्भेदना संक्रमण, २. विध्यात संक्रमण, ३. अधःस्तन संक्रमण, ४. गुण संक्रमण, ५. सर्व संक्रमण आदि संक्रमण के अनेक भेद-प्रभेद कर्म शास्त्रों में कहे गये हैं, विस्तार भय से यहाँ उसका बर्णन नहीं किया गया है।

**७. उदीरणा करण :**

बन्धे हुए कर्म का नियत काल में फल देने को उदय कहा जाता है और नियत काल के पहले कर्म के फल देने को उदीरणा कहते हैं। जैसे आम बेचने वाला आमों को जल्दी पकाने के लिए पेड़ से तोड़कर भूसे आदि में दबा देता है जिससे आम समय से पूर्व जल्दी पक जाते हैं। इसी प्रकार जो कर्म समय पाकर उदय में आने वाले हैं अर्थात् अपना फल देने वाले हैं उनका प्रयत्न विशेष से किसी निमित्त से समय से पूर्व ही फल देकर नष्ट हो जाना उदीरणा है।

जिस प्रकार शरीर में स्थित कोई विकार कालान्तर में रोग के रूप में फल देने वाला है। टीका लगवाकर या दवा आदि के प्रयत्न द्वारा पहले ही उस विकार को उभार कर फल भोग लेने से उस विकार से मुक्ति मिल जाती है। उदाहरणार्थ—चेचक का टीका लगाने से चेचक का विकार समय से पहले ही अपना फल दे देता है। भविष्य में उससे छुटकारा मिल जाता है। वमन-रेचन (उल्टी या दस्त) द्वारा किए गए उपचार में शरीर का विकार निकाल कर रोग से समय से पूर्व ही मुक्ति पाई जा सकती है।

इसी प्रकार अन्तस्तल में स्थित कर्म की ग्रंथियों (बंधनों) को भी प्रयत्न से समय के पूर्व उदय में लाकर फल भोगा जा सकता है। वैसे तो कर्मों की उदीरणा प्राणी के द्वारा किए गए प्रयत्नों से अपनाए गए निमित्तों से सहज रूप में होती रहती है परन्तु अन्तरतम में अज्ञात-अगाध गहराई में छिपे व स्थित कर्मों की उदीरणा के लिए विशेष पुरुषार्थ करने की आवश्यकता होती है, जिसे तप के द्वारा कर्मों की निर्जरा करना कहा जाता है।

वर्तमान मनोविज्ञान भी उदीरणा के उपर्युक्त तथ्य को स्वीकार करता है। मनोविज्ञान में इस प्रक्रिया से अवचेतन मन में स्थित मनोग्रंथियों का रेचन या वमन कराया जाता है। इसे मनोविश्लेषण पद्धति कहा जाता है। इस पद्धति से अज्ञात मन में छिपी हुई ग्रंथियाँ, कुंठाएँ, वासनाएँ, कामनाएँ ज्ञात मन में प्रकट होती हैं, उदय होती हैं और उनका फल भोग लिया जाता है तो वे नष्ट हो जाती हैं।

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि मानव की अधिकतर शारीरिक एवं मानसिक बीमारियों का कारण ये अज्ञात मन में छिपी हुई ग्रंथियाँ ही हैं। जिनका संचय हमारे पहले के जीवन में हुआ है। जब ये ग्रंथियाँ बाहर प्रकट होकर नष्ट हो जाती हैं तो इनसे सम्बन्धित बीमारियाँ भी मिट जाती हैं। मानसिक चिकित्सा में इस पद्धति का महत्वपूर्ण स्थान है।

अपने द्वारा पूर्व में हुए पापों या दोषों को स्मृति पटल पर लाकर गुरु के समक्ष प्रकट करना, उसकी आलोचना करना, प्रतिक्रमा करना, उदीरणा या मनोविश्लेषण पद्धति का ही रूप है। इससे साधारण दोष-दुष्कृत मिथ्या हो जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं, फल देने की शक्ति खो देते हैं। यदि दोष प्रगाढ़ हो, भारी हो तो उनके नाश के लिए प्रायश्चित्त लिया जाता है। प्रतिक्रमण कर्मों की उदीरणा में बड़ा सहायक है। हम प्रतिक्रमण के उपयोग से अपने दुष्कर्मों की उदीरणा करते रहें तो कर्मों का संचय घटता जायेगा जिससे आरोग्य में वृद्धि होगी। जो शारीरिक एवं मानसिक आरोग्य, समता, शान्ति एवं प्रसन्नता के रूप में प्रकट होगी।

### उदीरणा की प्रक्रिया :

उदीरणा के लिए पहले शुभ-भावों से अपवर्तना करण द्वारा पूर्व में संचित कर्मों की स्थिति को घटा दिया जाता है। स्थिति घट जाने पर कर्म नियत समय से पूर्व उदय में आ जाते हैं। उदाहरणार्थ जब कोई व्यक्ति किसी दुर्घटना में अपनी पूरी आयु भोगे बिना ही मर जाता है तो उसे अकाल मृत्यु कहा जाता है। इसका कारण आयु कर्म की स्थिति अपवर्तना करण द्वारा घटकर उदीरणा हो जाना ही है।

### नियम :

- (१) बिना अपवर्तन के उदीरणा नहीं होती है।
- (२) उदीरणा किये कर्म उदय में आकर फल देते हैं।
- (३) उदीरणा के उदय में आकर जितने कर्म कटते हैं (निर्जरित होते हैं) उदय में कषाय भाव की अधिकता होने से उनसे अनेक गुणो कर्म अधिक भी बन्ध सकते हैं।

### द. उपशमना करण :

कर्म का उदय में आने के अयोग्य हो जाना उपशमना करण है। जिस प्रकार भूमि में स्थित पौधे वर्षा के जल से भूमि पर पपड़ी आ जाने से दब जाते हैं, बढ़ना रुक जाता है, प्रकट नहीं होते हैं। इसी प्रकार कर्मों को ज्ञान बल या संयम से दबा देने से उनका फल देना रुक जाता है। इसे उपशमना करण कहते हैं। इससे तत्काल शान्ति मिलती है। जो आत्मशक्ति को प्रकट करने में सहायक होती है। अथवा जिस प्रकार शरीर में घाव हो जाने से या आपरेशन करने से पीड़ा या कष्ट होता है। उस कष्ट का अनुभव न हो इसके लिए इन्जेक्शन या दवाई दी जाती है जिससे पीड़ा या दर्द का शमन हो जाता है। घाव के विद्यमान रहने पर भी रोगी उसके परिणामस्वरूप उदय होने वाली वेदना से उस समय बचा रहता है। इसी प्रकार ज्ञान और क्रिया विशेष से कर्म प्रकृतियों के कुफल का शमन किया जाता है। यही उपशमना करण है। परन्तु जिस प्रकार इन्जेक्शन या दवा से दर्द का शमन रहने पर भी घाव भरता रहता है और घाव भरने का जो समय है वह घटता रहता है। इसी प्रकार कर्म-प्रकृतियों के फल-भोग का शमन होने पर भी उनकी स्थिति, अनुभाग व प्रदेश घटता रह सकता है।

**नियम :** उपशमना करण मोहनीय कर्म की प्रकृतियों में ही होता है।

करण-ज्ञान में महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि वर्तमान में जिन कर्म प्रकृतियों का बन्ध हो रहा है। पुरानी बन्धी हुई प्रकृतियों पर उनका प्रभाव

पड़ता है और वे वर्तमान में बध्यमान प्रकृतियों के अनुरूप परिवर्तित हो जाती हैं। सीधे शब्दों में कहें तो वर्तमान में हमारी जो आदत बन रही है, पुरानी आदतें बदल कर उसी के अनुरूप हो जाती हैं। यह सबका अनुभव है। उदाहरणार्थ—प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को ले सकते हैं।

प्रसन्नचन्द्र राजा थे। वे संसार को असार समझ कर राजपाट और गृहस्थाश्रम का त्याग कर साधु बन गये थे। वे एक दिन साधुवेश में ध्यान की मुद्रा में खड़े थे। उस समय श्रेणिक राजा भगवान् महावीर के दर्शनार्थ जाते हुए उधर से निकला। उसने राजर्षि को ध्यान मुद्रा में देखा। श्रेणिक ने भगवान् के दर्शन कर भगवान् से पूछा कि ध्यानस्थ राजर्षि प्रसन्नचन्द्र इस समय काल करें तो कहाँ जायें। भगवान् ने फरमाया कि सातवीं नरक में जावें। कुछ देर बाद फिर पूछा तो भगवान् ने फरमाया छठी नरक में जावें। इस प्रकार श्रेणिक राजा द्वारा बार-बार पूछने पर भगवान् ने उसी क्रम से फरमाया कि छठी नरक से पांचवी नरक में, चौथी नरक में, तीसरी नरक में, दूसरी नरक में, पहली नरक में जायें। फिर फरमाया प्रथम देवलोक में, दूसरे देवलोक में, क्रमशः बारहवें देवलोक में, नव ग्रेवयक में, अनुत्तर विमान में जावें। इतने में ही राजर्षि को केवलज्ञान हो गया।

हुआ यह था कि जहाँ राजर्षि प्रसन्नचन्द्र ध्यानस्थ खड़े थे। उधर से कुछ पथिक निकले। उन्होंने राजर्षि की ओर संकेत करके कहा कि अपने पुत्र को राज्य का भार सम्भला कर यह राजा तो साधु बन गया और यहाँ ध्यान में खड़ा है। परन्तु इसके शत्रु ने इसके राज्य पर आक्रमण कर दिया है। वहाँ भयंकर संग्राम हो रहा है, प्रजा पीड़ित हो रही है। पुत्र परेशान हो रहा है। इसे कुछ विचार ही नहीं है। यह मुनते ही राजर्षि को रोष व जोश आया। होश-ह्वाश खो गया। उसके मन में उद्वेग उठा। मैं अभी युद्ध में जाऊँगा और शत्रु सेना का संहार कर विजय पाऊँगा। उसका धर्म-ध्यान रौद्र-ध्यान में संक्रमित हो गया। अपनी इस रौद्र, घोर हिंसात्मक मानसिक स्थिति की कालिमा से वह सातवीं नरक की गति का बंध करने लगा। ज्योंही वह युद्ध करने के लिए चरण उठाने लगा त्योंही उसने अपनी वेश-भूषा को देखा तो उसे होश आया कि मैंने तो राजपाट त्याग कर संयम धारण किया है। मेरा राजपाट से अब कोई संबंध नहीं। इस प्रकार उसने अपने आपको सम्भाला। उसका जोश-रोष मन्द होने लगा। रोष या रौद्र ध्यान जैसे-जैसे मंद होता गया, घटता गया, वैसे-वैसे नारकीय बन्धन भी घटता गया और सातवीं नरक से घटकर क्रमशः पहली नरक तक पहुँच गया। इसके साथ ही पूर्व में बन्धे सातवीं आदि नरकों की बंध की स्थिति व अनुभाग घटकर पहली नरक में अपवर्तित हो गये। फिर भावों में और विशुद्धि आई। रोष-जोश शांत होकर संतोष में परिवर्तित हो गया तो राजर्षि देव गति का बन्ध करने लगा। इससे पूर्व ही में बन्धा नरक गति का बन्ध

देव गति में रूपान्तरित हो गया, संक्रमित हो गया ! फिर श्रेणीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ होने लगी तो भावों में अत्यन्त विशुद्धि आई। कषायों का उपशमन हुआ तो अनुत्तर विमान देवगति का बन्ध होने लगा। फिर भावों की विशेष विशुद्धि से पाप कर्मों का स्थितिघात और रसघात हुआ। कर्मों की तीव्र उदीरणा हुई। फिर क्षीण कषाय होने पर पूर्ण वीतरागता आ गई और केवल-ज्ञान हो गया। इस प्रकार प्रसन्नचन्द्र राजर्षि अपनी वर्तमान भावना की विशुद्धि व साधना के बल से पूर्व बन्ध कर्मों का उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उदीरणा आदि करण (क्रियाएँ) कर कृतकृत्य हुआ।

इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने पूर्व जन्म में दुष्प्रवृत्तियों से अशुभ व दुःखद पाप कर्मों की बाँधे हुए उसकी स्थिति व अनुभाग को वर्तमान में अपनी शुभ प्रवृत्तियों से शुभ कर्म बांधकर घटा सकता है तथा शुभ व सुखद पुण्य कर्मों में संक्रमित कर सकता है। इसके विपरीत वह वर्तमान में अपनी दुष्प्रवृत्तियों से अशुभ पाप कर्मों का बन्धन कर व पूर्व से बान्धे शुभ व सुखद कर्मों को अशुभ व दुःखद कर्मों के रूप में भी संक्रमित कर सकता है। अतः यह आवश्यक नहीं है कि पूर्व में बन्धे हुए कर्म उसी प्रकार भोगने पड़ें। व्यक्ति अपने वर्तमान कर्मों (प्रवृत्तियों) के द्वारा पूर्व में बन्धे कर्मों को बदलने, स्थिति, अनुभाग घटाने-बढ़ाने एवं क्षय करने में पूर्ण समर्थ व स्वाधीन है। साधक पराक्रम करे तो प्रथम गुणस्थान से ऊँचा उठकर कर्मों का क्षय करता हुआ अन्तर्मुहूर्त्त में केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है। □

## कर्म के सवैये

तारों की ज्योति में चन्द्र छिपे नहीं, सूर्य छिपे नहीं बादल छाये।  
 इन्द्र की घोर से मोर छुपे नहीं, सर्प छिपे नहीं पूंगी बजाये।  
 जंग जूड़े रजपूत छुपे नहीं, दातार छुपे नहीं मांगन आये।  
 जोगी का वेष अनेक करो पर, कर्म छुपे न भभूति रमाए ॥

कर्म-जगत् का सम्बन्ध स्थूल शरीर से नहीं होकर उस सूक्ष्म शरीर से है जो इस दृश्य शरीर के भीतर है। शरीर पाँच प्रकार के हैं—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस व कार्मण। इनमें तैजस और कार्मण शरीर अतीव सूक्ष्म हैं। आत्मा जब तक पूर्णतया कर्मों से मुक्त नहीं होती तब तक ये दोनों सूक्ष्म शरीर सदा आत्मा के साथ रहते हैं। आत्मा के कोई कर्म पुद्गल नहीं चिपकते परन्तु आत्मा के साथ जो कर्म शरीर है उससे चिपकते हैं। तैजस शरीर-कर्म शरीर और स्थूल शरीर के बीच सेतु का काम करता है। जो शरीर आहार आदि को पचाने में समर्थ है और जो तेजोमय है वह तैजस शरीर है। यह शरीर विद्युत् परमाणुओं व कर्म शरीर, वासना, संस्कार व संवेदन के सूक्ष्मतम परमाणुओं से निर्मित होता है।

कार्मण शरीर अतीव सूक्ष्म है और ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों के पुद्गल समूह से इसका निर्माण होता है। यह शरीर अत्यन्त सूक्ष्म है इसलिए सारे लोक की कोई भी वस्तु उनके प्रवेश को नहीं रोक सकती। सूक्ष्म वस्तु बिना रुकावट के सर्वत्र प्रवेश कर सकती है जैसे अति कठोर लोह पिण्ड में अग्नि।

कर्म शरीर के अतीव सूक्ष्म पुद्गल यानी अनन्त प्रदेशी स्कन्ध जो सिद्धों से अनन्त गुणा ज्यादा और अभवी से अनन्त भाग कम हैं, हमारी आत्मा से चिपके हुए हैं। शरीर विज्ञान के अनुसार हमारे भौतिक शरीर में एक वर्ग इंच स्थान में ग्यारह लाख से अधिक कोशिकाएँ होती हैं किन्तु यदि सूक्ष्म कर्म-शरीर में स्थित कर्म जगत् की कोशिकाओं का लेखा जोखा किया जाय तो मालूम होगा कि एक वर्ग इंच जगह में अरबों-खरबों कोशिकाओं का अस्तित्व है। ये कर्म पुद्गल चार स्पर्श वाले एवं अनन्त प्रदेशी होते हैं। इन सूक्ष्म पुद्गलों का स्वरूप इतना सूक्ष्म होता है कि वे केवल अतीन्द्रिय शक्तियों के द्वारा ही देखे जा सकते हैं, एवं मात्र बाह्य उपकरणों से नहीं देखे जा सकते।

शीत-उष्ण और स्निग्ध-रुक्ष ये चार मूल स्पर्श हैं और प्रत्येक पुद्गल में प्राप्त हैं। ये विरोधी हैं पर उनका सह-अवस्थान है। वे चारों हैं तभी पुद्गल स्कन्ध हमारे लिए उपयोगी होता है। दुनिया में सब कुछ युगल है, जिसके बिना

सृष्टि ही नहीं हो सकती। प्रत्येक परमाणु 'कर्म' नहीं बन सकते। सूक्ष्म एवं चतुःस्पर्शी परमाणु ही 'कर्म' बन सकते हैं। इन चतुःस्पर्शी परमाणु-स्कन्धों में भार नहीं होता, वे लघु व गुरु नहीं होते। उनमें विद्युत् आवेग नहीं होता। वे बाहर जा सकते हैं यानी दीवार के बीच में भी निकल सकते हैं। उनकी गति अप्रत्याहत और अस्खलित होती है। अन्य चार स्पर्श लघु-गुरु (हल्का-भारी) और कर्कश-मृदु (कठोर-मीठा) ये वस्तु के मूलभूत धर्म नहीं हैं परन्तु वे संयोग शक्ति के द्वारा बनते हैं। इन अष्टस्पर्शी परमाणु स्कन्धों में भार होता है, विद्युत्, आवेग व प्रस्फुटन होता है और उनका स्थूल अवगाहन भी होता है। इन अष्टस्पर्शी पुद्गलों में कर्म बनने की और अमूर्त आत्मा की शक्तियों को आवृत्त करने की क्षमता नहीं होती।

थियोसोफिस्ट्स (Theosophists) ने इन शरीरों की भिन्न संज्ञाएँ दी हैं। उन्होंने स्थूल शरीर को Physical Body, सूक्ष्म शरीर को Etheric Body और अति सूक्ष्म शरीर को Astral Body कहा है। वेदान्त के महर्षि अरविन्द ने बताया है कि स्थूल शरीर के अतिरिक्त हमारे अनेक सूक्ष्म शरीर भी हैं और हम निरे स्थूल शरीर ही नहीं, अपितु अनेक शरीरों के निर्माता भी हैं तथा उन्हें इच्छानुसार प्रभावित करने की शक्ति रखने वाले समर्थ आत्म-पुरुष भी हैं। उन्होंने आगे बताया कि इस शरीर के अतिरिक्त हमारे चार अदृश्य शरीर उन चार लोकों जो वायव्य लोक, दिव्य लोक, मानसिक लोक तथा आध्यात्मिक लोक के नाम से जाने जाते हैं, से सान्निध्य प्राप्त करते हैं। हमारा प्राणमय शरीर आकार-प्रकार में स्थूल शरीर जैसा ही होता है पर स्थूल शरीर के रहते यह जितना प्रभावशाली था, इससे अलग होने पर उससे हजार गुना अधिक शक्तिशाली और प्रभावशाली हो जाता है।

कर्म-शरीर सर्वाधिक शक्तिशाली शरीर है। यह अन्य सभी शरीरों का मूलभूत हेतु है। इसके होने पर अन्य शरीर होते हैं और न होने पर कोई शरीर नहीं होता। स्थूल शरीर का सीधा सम्पर्क तैजस शरीर से है और तैजस शरीर का सीधा सम्पर्क कर्म-शरीर से है। कर्म-शरीर से सीधा सम्पर्क चेतना का है और यह कर्म-शरीर ही चैतन्य पर आवरण डालता है। कर्म-शरीर स्थूल शरीर के द्वारा आकर्षित बाह्य जगत् के प्रभावों को ग्रहण करता है और चैतन्य के प्रभावों को बाह्य जगत् तक पहुँचाता है। सुख-दुःख का अनुभव कर्म-युक्त शरीर से होता है। घटना स्थूल शरीर में घटित होती है और उसका संवेदन कर्म-शरीर में होता है। मादक वस्तुओं का प्रयोग करने पर स्थूल-शरीर और कर्म-शरीर का सम्बन्ध ऊपरी स्तर पर विच्छिन्न हो जाता है। इससे उस दशा में स्थूल-शरीर का सर्दी, गर्मी या पीड़ा का कोई संवेदन नहीं होता। रोग भी कर्म-शरीर में उत्पन्न होता है और स्थूल-शरीर में व्यक्त होता है। वासना कर्म-शरीर में उत्पन्न होती है और व्यक्त होती है स्थूल-शरीर द्वारा। कर्म-शरीर और स्थूल-



शरीर दोनों का सम्बन्ध हमारी विभिन्न मानवीय अवस्थाओं का निर्माण करते हैं। हम समस्या और उसके समाधान को स्थूल-शरीर में खोजते हैं जबकि दोनों का मूल कर्म-शरीर में होता है। कर्म-शरीर हमारे चिंतन, भावना, संकल्प और प्रवृत्ति से प्रकम्पित होता है। प्रकम्पनकाल में वह नये परमाणुओं को ग्रहण (बन्ध) करता है और पूर्व गृहीत परमाणुओं का परित्याग (निर्जरण) करता है। हमारे श्वास और उच्छ्वास की गति का, हमारी प्रभा, हमारी इन्द्रियों की शक्ति का तथा वर्ण, गंध, रस और स्पर्श आदि अनुभवों के नियंत्रण का हेतु सूक्ष्म शरीर है। दूसरों को चोट पहुँचाने की हमारी क्षमता या दूसरों से चोट न खाने की हममें जो क्षमता है उसका नियंत्रण भी सूक्ष्म शरीर से ही होता है। इस तरह हमारी सम्पूर्ण शक्ति का नियामक है सूक्ष्म शरीर।

प्राणी के मरने पर जब आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करती है, उस अन्तराल काल में उसके साथ दो शरीर अवश्य ही होते हैं एक तैजस और दूसरा कार्मण शरीर। उन दोनों शरीरों के माध्यम से आत्मा अन्तराल की यात्रा करती है और अपने उत्पत्ति स्थान तक पहुँचती है। नये जन्म के प्रारम्भ से ही कर्म-शरीर आहार ग्रहण करता है चाहे वह ओज आहार हो या ऊर्जा आहार हो। जीव संसार में होगा तब ही कर्म-शरीर होगा। इस तरह जीव आहार का उपभोग कर शीघ्र ही उसका उपयोग भी कर लेता है। स्थूल शरीर का निर्माण शुरू हो जाता है। हमारे स्थूल शरीर का ज्यों-ज्यों विकास होता है, त्यों-त्यों नाड़ियाँ बनती हैं, हड्डियाँ बनती हैं, चक्र बनते हैं, और भी अनेक प्रकार के अवयव बनते रहते हैं व इन्द्रियों का विकास होता रहता है। इस तरह के विकास का मूल स्रोत है कर्म-शरीर। कर्म-शरीर में जितने स्रोत हैं, जितने शक्ति-विकास के केन्द्र हैं, उन सबका संवेद्य है स्थूल शरीर। यदि किसी प्राणी के कर्म-शरीर में एक इन्द्रिय का विकास होता है तो स्थूल शरीर की संरचना में केवल एक इन्द्रिय का ही विकास होगा यानी केवल स्पर्श इन्द्रिय का ही विकास होगा। यदि कर्म-शरीर में एक से अधिक इन्द्रियों का विकास होता है तो स्थूल शरीर में उतनी ही इन्द्रियों के संघटन विकसित होंगे। यदि कर्म-शरीर में मन का विकास होता है तो स्थूल शरीर में भी मस्तिष्क का निर्माण होगा। जिन जीवों के कर्म-शरीर में मन का विकास नहीं है उनके न तो मेरु रज्जु होती है और न ही मस्तिष्क क्योंकि मन के विकास के साथ ही मेरु रज्जु और मस्तिष्क बनते हैं। इस प्रकार स्थूल शरीर की रचना का सारा उपक्रम सूक्ष्म-शरीर के विकास पर आधारित है। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यदि सूक्ष्म शरीर बिम्ब है तो स्थूल शरीर उसका प्रतिबिम्ब और यदि सूक्ष्म शरीर प्रमाण है तो स्थूल शरीर उसका संवेदी प्रमाण है।

इस शरीर की रचना तब तक ही होती है जब तक आत्मा कर्मों से बन्धी

है। कर्म-बद्ध आत्मा से ही कर्म-पुद्गल सम्बन्ध जोड़ते हैं और कर्म-शरीर से चिपके हुए कर्म-पुद्गल, अच्छे या बुरे, चाहे इस जन्म के हों या पिछले जन्मों के हों, जीव के साथ चलते हैं और परिपक्व होने पर उदय में आते हैं। जब आत्मा कर्मों से मुक्त हो जाती है तो फिर कोई भी पुद्गल उस शुद्ध चैतन्यमय आत्मा से न तो सम्बन्ध जोड़ सकते हैं और न ही आवरण डाल सकते हैं।

सूक्ष्म शरीर के द्वारा जो विपाक होता है, उसका रस-स्त्राव शरीर की ग्रन्थियों के द्वारा होता है और वह हमारी सारी प्रवृत्तियों को संचालित करता है और प्रभावित भी करता है। यदि हम इस तथ्य को उचित रूप में जान लेते हैं तो हम स्थूल शरीर पर ही न रुक कर उससे आगे सूक्ष्म शरीर तक पहुँच जाएँ। हमें उन रसायनों तक पहुँचना है जो कर्मों के द्वारा निर्मित हो रहे हैं। वहाँ भी हम न रुकें, आगे बढ़ें और आत्मा के उन परिणामों तक पहुँचें, जो उन स्त्रावों को निर्मित कर रहे हैं। स्थूल या सूक्ष्म शरीर उपकरण हैं। मूल हैं आत्मा के परिणाम। हम सूक्ष्म शरीर से आगे बढ़ कर आत्म परिणाम तक पहुँचें। उपादान को समझना होगा, निमित्त को भी समझना होगा और परिणामों को भी। मन के परिणाम, आत्मा के परिणाम निरन्तर चलते रहते हैं। आत्मा के परिणाम यदि विशुद्ध चैतन्य केन्द्रों की ओर प्रवाहित होते हैं, तो परिणाम विशुद्ध होंगे और वे ही आत्म-परिणाम वासना की वृत्तियों को उत्तेजना देने वाले चैतन्य-केन्द्रों की ओर प्रवाहित होते हैं, तो परिणाम कलुषित होंगे। जो चैतन्य-केन्द्र क्रोध, मद, माया और लोभ की वृत्तियों को उत्तेजित करते हैं, जो चैतन्य केन्द्र आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा और परिग्रह संज्ञा को उत्तेजना देते हैं, यदि उन चैतन्य केन्द्रों की ओर आत्म-परिणाम की धारा प्रवाहित होगी, तो उस समय वही वृत्ति उभर आएगी, वैसे ही विचार बनेंगे। आज इस बात की आवश्यकता है कि हम निरन्तर अभ्यास द्वारा यह जानने की कोशिश करें कि शरीर के किस भाग में मन को प्रवाहित करने से अच्छे परिणाम आ सकते हैं और किस भाग में मन को प्रवाहित करने से बुरे परिणाम उभरते हैं। यदि यह अनुभूति हो जाय तो हम अपनी सारी वृत्तियों पर नियन्त्रण पा सकते हैं और तब हम अपनी इच्छानुसार शुभ लेश्याओं में प्रवेश कर सकते हैं और अशुभ लेश्याओं से छुटकारा पा सकते हैं।

इस विषय में गुजराती-मिश्रित राजस्थानी भाषा के प्राचीन ग्रन्थ में कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण तथ्य लिखे हैं जो पता नहीं लेखक के निजी अनुभवों पर आधारित हैं अथवा दूसरे ग्रन्थों के आधार पर, लेकिन बहुत ही आश्चर्यकारी और महत्त्वपूर्ण हैं। उसमें लिखा है—नाभि कमल की अनेक पंखुडियाँ हैं। जब आत्म-परिणाम अमुख पंखुड़ी पर जाता है तब क्रोध की वृत्ति जागती है, जब अमुख पंखुड़ी पर जाता है तब मान की वृत्ति जागती है, जब अमुख पंखुड़ी पर जाता है तब वासना उत्तेजित होती है और जब अमुख पंखुड़ी पर जाता है तब लोभ

की वृत्ति उभरती है। जब आत्म-परिणाम नाभि कमल से ऊपर उठकर हृदय कमल की पंखुड़ियों पर जाता है तब समता की वृत्ति जागती है, ज्ञान का विकास होता है, अच्छी वृत्तियाँ उभरती हैं। जब आत्म-परिणाम दर्शन केन्द्र पर पहुँचता है तब चौदह पूर्वों के ज्ञान को ग्रहण करने की क्षमता जागृत होती है।

यह सारा प्रतिपादन किस आधार पर किया गया है यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता किन्तु इस प्रतिपादन में एक बहुत बड़ी सच्चाई का उद्घाटन होता है कि मानव शरीर में अनेक संवादी केन्द्र हैं। इन केन्द्रों पर मन को एकाग्र कर, मन से उसकी प्रेक्षा कर, हम ऐसे द्वारों का उद्घाटन कर सकते हैं, ऐसी खिड़कियाँ खोल सकते हैं, जिनके द्वारा चेतना की रश्मियाँ बाहर निकल सकें और अघटित घटित कर सकें।

यह बहुत ही कठिन साधना है और निरन्तर लम्बे समय तक इसका अभ्यास करने पर ही व्यक्ति को कुछ उपलब्धि हो सकती है या अच्छे परिणाम निकल सकते हैं। अभ्यास किये बिना पुस्तकीय अध्ययन से कोरा ज्ञान होगा। आगमवाणी के अनुसार—

“अहिंसु विज्जा चरणं पमोक्खं।”

दुःख मुक्ति के लिए विद्या और आचार का अनुशीलन करें। पहले जानो, फिर अभ्यास करो।

निष्कर्ष यह है कि कर्म आत्मा से नहीं चिपकते परन्तु कर्म-शरीर जो आत्मा के साथ जन्म-जन्मान्तर रहता है, उससे चिपकते हैं।

संदर्भ : १—हरिमोहन गुप्ता “अरविद का सूक्ष्म शरीर”, धर्म युग २० से २८-२-८०।

२—गुवाचार्य महाप्रज्ञ—“शक्ति के जागरण सूत्र”, प्रेक्षा ध्यान, मार्च, १९८०।

### सवैया

कर्म प्रताप तुरंग नचावत, कर्म से छत्रपति सम होई ।  
कर्म से पूत कपूत कहावत, कर्म से और बड़ो नहीं कोई ॥  
कर्म फिर्यो जद रावण को, तब सोने की लंक पलक में खोई ।  
आप बढ़ाई कहा करे मूरख, कर्म करे सो करे नहीं कोई ॥

ज्ञान एक महान् निधि है। वह है भी हमारे भीतर ही। आश्चर्य तो इस बात का है कि जो हमारे भीतर है उसका हमें पता तो है किन्तु अनुभव नहीं है। इसके बीच में कोई रुकावट अवश्य है। जैन दर्शन में उसी रुकावट को, आवरणों को कर्म कहा है।

कर्म एक निर्जीव तत्त्व है। आवरण जितने भी होते हैं सभी निर्जीव होते हैं। इन आवरणों को दूर करने के लिए अनेक सन्तों, ऋषियों, महर्षियों ने प्रयत्न किए हैं। कुछ उन प्रयत्नों में सफल भी हुए हैं और कुछ सफलता की ओर अभी तक आगे बढ़ते चले आ रहे हैं। सभी का एक ही लक्ष्य है येन-केन-प्रकारेण। इन आवरणों से छुटकारा हो जाए। बन्धन से छुटकारा सब चाहते हैं किन्तु अपनी इस वास्तविक चाह के अनुरूप जब तक साधना नहीं होती छुटकारा सम्भव नहीं हो सकता। कर्मों से छुटकारा पाने के लिए यह आवश्यक है कि सबसे पहले अपने ज्ञान को सही रूप में जागृत किया जाए। जब तक ज्ञान का जागरण नहीं होगा, कौन छूटेगा, किससे छूटेगा, यह सब प्रश्न उलझे ही रह जायेंगे। इसीलिए भगवान् महावीर ने “पढमं नाणं” का सूत्र दिया है। प्रथम ज्ञान। कर्म क्या है, यह समझ लेना बहुत जरूरी है। इसी समझ को भगवान् महावीर ज्ञान कहते हैं। जिनमें यह समझ नहीं है, वे अपनी ही नासमझी के कारण अज्ञानी कहे जाते हैं। जिसका ज्ञान आवृत है, ढका हुआ है, वह अज्ञानी है। आवरण के परमाणु जब तक आत्मा से सम्बद्ध रहते हैं, तब तक वह परवश रहती है। हमारे चारों ओर जो परमाणु का जाल है, वही कर्म जाल है। इस जाल से वही निकल सकता है जो इसके मूल कारण को जानता है। आवरण के कारण को समझ लेना कर्मों से मुक्ति होने का प्रथम सूत्र है।

कर्म परमाणुओं की भी अपनी एक शक्ति होती है। जैसे-जैसे कर्म हम करते हैं, वे परमाणु कर्म क्रिया के आरम्भ से ही अपने स्वभाव के अनुसार चलने लगते हैं। अपने स्वभाव के अनुसार कार्य ही कर्म का फल है। कुछ लोग कर्म फल के विषय में ईश्वर का नाम लेते हैं। पर यह सिद्धान्त सही प्रतीत नहीं होता। जब भगवान् इनसे रहित है, फिर वह किसी के कर्म फल के भ्रमेले में क्यों पड़ेगा? गीता में इस विषय पर बड़ा ही सुन्दर विवेचन मिलता है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभु ।  
न कर्म फल संयोगं, स्वभावास्तु प्रवर्तते ॥

हे अर्जुन ! न मैं कर्म करता हूँ, न ही संसार को बनाता हूँ। जीवों को उनके कर्म का फल भी नहीं देता हूँ। इस संसार में जो भी कुछ हो रहा है, वह स्वभाव से ही हो रहा है। इससे स्पष्ट है कि न तो भगवान् संसार का निर्माण करते हैं और न ही कर्मों का फल ही देते हैं। कर्म एक प्रकार की शक्ति है। आत्मा भी अपने प्रकार की एक शक्ति है। कर्म आत्मा करता है। जो कर्म उसने किए हैं। वे अपने-अपने स्वभावानुसार उसे फल देते हैं। यहाँ किसी भी न्यायाधीश की आवश्यकता नहीं। हमारे आत्मप्रदेशों में मिथ्यात्व, अबिरति प्रमाद, कषाय और योग इन पाँच निमित्तों से हलचल होती है। जिस क्षेत्र में आत्म-प्रदेश हैं, उसी क्षेत्र में कर्म योग्य पुद्गल जीव के साथ बंध जाते। हैं कर्म का यह मेल दूध और पानी जैसा होता है। 'कर्म ग्रंथ' में कर्म का लक्षण बताते हुए कहा गया है—**कीरइ जोएण हे उँह, जोएण तो भण्णए कम्म** अर्थात् कषाय आदि कारणों से जीव के द्वारा जो किया जाता है, वह कर्म होता है। कर्म दो प्रकार के होते हैं। एक भाव कर्म और दूसरा द्रव्य कर्म। आत्मा में राग, द्वेष आदि जो विभाव हैं, वे भाव कर्म हैं। कर्म वर्गणा के पुद्गलों का सूक्ष्म विकार द्रव्य कर्म कहलाता है। भाव कर्म का कर्त्ता उपादान रूप से जीव है और द्रव्य कर्म से जीव निमित्त कारण होता है। निमित्त रूप से द्रव्य कर्म का कर्त्ता भी जीव ही है। भाव कर्म में द्रव्य कर्म निमित्त होता है और द्रव्य कर्म में भाव कर्म निमित्त होता है। इस प्रकार द्रव्य कर्म और भाव कर्म दोनों का परस्पर बीज और अंकुर की भाँति कार्य-कारण भाव सम्बन्ध है।

संसार में जितने भी जीव हैं, आत्मस्वरूप की दृष्टि से सब एक समान हैं फिर भी वे भिन्न-भिन्न अनेक योनियों में, अनेक स्थितियों में शरीर धारण किए हुए हैं। एक अमीर है, दूसरा गरीब है। एक पंडित है, दूसरा अनपढ़ है। एक सबल है दूसरा निर्बल है। एक माँ के उदर से जन्म लेने वाले दो बालकों में भी अन्तर देखा जाता है। अन्तर की इस विचित्रता में कोई न कोई कारण तो अवश्य ही है। वह कारण है कर्म। हमें सुख-दुःख का अनुभव होता है, वह तो प्रत्यक्ष दिखता है, किन्तु कर्म नहीं दिखते। जैन दर्शन में कर्म को पुद्गल रूप माना है। इसलिए वह साकार है, मूर्त्त है। कर्म के जो कार्य हैं वे भी मूर्त्त हैं। जहाँ कारण मूर्त्त होता है, वहाँ उसका कार्य भी मूर्त्त ही होगा। जैसे घड़ा है, वह मिट्टी से बनता है। इससे मिट्टी कारण है और घड़ा कार्य है। दोनों मूर्त्त हैं। जिस प्रकार मूर्त्त कारण की बात कही गई है, अमूर्त्त कार्य-कारण के लिए भी यही नियम है। जहाँ कारण अमूर्त्त होगा, वहाँ उसका कार्य भी अमूर्त्त होगा। ज्ञान का कारण आत्मा है, यहाँ ज्ञान और आत्मा दोनों अमूर्त्त हैं। आप पूछ सकते हैं कि जब अमूर्त्त से अमूर्त्त की ही उत्पत्ति होती है तो फिर मूर्त्त कर्मों से सुख-

दुःख आदि अमूर्त तत्त्वों की उत्पत्ति कैसे होती है ? सुख आदि हमारी आत्मा के धर्म हैं और आत्मा ही उनका उत्पादन कारण है । कर्म तो केवल सुख-दुःख में निमित्त कारण रूप हैं । अतः जो कुछ ऊपर कर्म के विषय में कहा गया है वह इन पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है ।

यहां यह प्रश्न अवश्य विचारणीय है कि जब कर्म तो मूर्त हैं और आत्मा अमूर्त हैं फिर दोनों का मेल कैसे खायेगा ? अमूर्त आत्मा पर कर्म कैसे प्रभावी हो सकते हैं ? आपने कभी मदिरा तो देखी होगी । मदिरा मूर्त होती है । जब मनुष्य मदिरा को पी लेता है तो जिस प्रकार आत्मा के अमूर्त ज्ञान आदि गुणों पर उसका प्रभाव होता है, ठीक उभी प्रकार मूर्त कर्मों का अमूर्त आत्मा पर प्रभाव होता है ।

भारतीय दर्शन में यह कर्मवाद सिद्धान्त अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है । चार्वाकों को छोड़कर समस्त दार्शनिक किसी न किसी रूप में कर्मवाद को अवश्य स्वीकार करते हैं । भारतीय दर्शन, धर्म, साहित्य, कला और विज्ञान आदि सब पर कर्मवाद का प्रभाव स्पष्ट रूप से दीख पड़ता है । जीव अनादि काल से कर्मों के वशीभूत होकर अनेक भवों में भ्रमण करता चला आ रहा है । जीवन और मरण दोनों की जड़ कर्म है । इस संसार में जन्म और मरण ही सबसे बड़ा दुःख है । जो जैसा करता है, वैसा ही फल भोगना पड़ता है । एक प्राणी पर दूसरे प्राणी के कर्मफल का प्रभाव नहीं होता । कर्म स्व सम्बद्ध होता है, पर सम्बद्ध नहीं । यद्यपि सभी विचारकों ने कर्मवाद को माना है फिर भी जैन शास्त्रों में इसका जितना विशद विवेचन मिलता है, उसकी तुलना अन्यत्र दुर्लभ ही है । यही कारण है कि कर्मवाद जैन दर्शन का एक आत्मीय अंग बन गया है । कर्मवाद के कुछ आधारभूत सिद्धान्त होते हैं जिन्हें हम इस प्रकार समझ सकते हैं :—

१. प्रत्येक क्रिया फलवती होती है । कोई भी क्रिया निष्फल नहीं होती ।
२. यदि किसी क्रिया का फल इस जन्म में नहीं प्राप्त होता तो उसके लिए भविष्यकालीन जीवन अनिवार्य है ।
३. कर्मों का कर्त्ता और उनके फलों का भोक्ता यह जीव, कर्मों के प्रभाव से एक भव से दूसरे भव में गमन करता रहता है । अपने किसी न किसी भव के माध्यम से ही वह एक निश्चित काल-मर्यादा में रहता हुआ अपने पूर्व कृत कर्मों का फलभोग तथा नए कर्मों का बन्धन करता है । यहां यह बात उल्लेखनीय है कि कर्म बन्धन की इस परम्परा को तोड़ना भी उसकी शक्ति के अन्तर्गत ही है ।
४. जन्मजात व्यक्ति-भेद और असमानता कर्मों के कारण ही होती है ।

आत्मा की अनन्त शक्ति पर कर्मों का आवरण आया हुआ है जिसके कारण हम अपने आपसे परिचित नहीं हो पा रहे हैं । इन कर्मों से हम तभी मुक्त हो पाएँगे, जब हमें अपनी शक्ति का पूरा परिचय और भरोसा होगा । •

हम चर्चा करते हैं स्वतंत्रता और परतंत्रता की। कौन स्वतंत्र है और कौन परतंत्र, कौन उत्तरदायी है, इन प्रश्नों का उत्तर एकान्त की भाषा में नहीं दिया जा सकता। हम नहीं कह सकते कि हम पूर्ण स्वतंत्र हैं। हम यह भी नहीं कह सकते कि हम पूर्ण परतंत्र हैं। दोनों सापेक्ष हैं। हम स्वतंत्र भी हैं और परतंत्र भी। जहाँ-जहाँ निरपेक्ष प्रतिपादन होता है वहाँ समस्या का समाधान नहीं होता, सत्य उपलब्ध नहीं होता, सत्य के नाम पर असत्य उपलब्ध होता है।

महान् वैज्ञानिक आइंस्टीन ने सापेक्षवाद का प्रतिपादन किया और उसका आधार माना प्रकाश की गति को। उन्होंने प्रकाश की गति को स्टेण्डर्ड मानकर अनेक प्रयोग किए। प्रकाश की गति है एक सैकेण्ड में एक लाख छियासी हजार मील की। इस आधार पर जो निर्णय लिए गए वे सारे सापेक्ष निर्णय हैं, निरपेक्ष नहीं। प्रकाश की गति सापेक्ष निर्णय है। प्रकाश की गति और तीव्र होती तो सारे निर्णय बदल जाते। काल छोटा भी हो जाता है और बड़ा भी हो जाता है। काल सिकुड़ जाता है सापेक्षता से। काल पीछे सरकता है और छलांग भी भरता है। काल का प्रतिक्रमण भी होता है और अतिक्रमण भी होता है। यह सारा सापेक्षता के आधार पर होता है। इसलिए सारे निर्णय सापेक्ष होते हैं। जहाँ सापेक्षता की विस्मृति होती है वहाँ तनाव पैदा होता है।

काल, स्वभाव, नियति, कर्म—ये सारे तत्त्व स्वतंत्रता को सीमित करते हैं, परतंत्रता को बढ़ाते हैं। आदमी काल से, स्वभाव से, नियति से और कर्म से बंधा हुआ है। बंधन के कारण वह पूर्ण स्वतंत्र नहीं है। वह परतंत्र है पर पूरा परतंत्र भी नहीं है। यदि वह पूरा परतंत्र होता तो उसका व्यक्तित्व ही समाप्त हो जाता। उसका मनुष्यत्व ही समाप्त हो जाता और चेतना का अस्तित्व ही नष्ट हो जाता। चेतना रहती ही नहीं। उसका अपना कुछ रहता ही नहीं। वह कठपुतली बन जाता। कठपुतली पूर्णतः परतंत्र होती है। उसे जैसे नचाया जाता है वैसे नाचती है। कठपुतली नचाने वाले के इशारे पर चलती है। उसका अपना कोई अस्तित्व या कर्तृत्व नहीं है, [चेतना नहीं है।] जिसकी अपनी

चेतना नहीं होती वह परतंत्र हो सकता है, परं शतप्रतिशत परतंत्र तो वह भी नहीं होता ।

प्राणी चेतनावान् है । उसकी चेतना है । जहाँ चेतना का अस्तित्व है वहाँ पूरी परतंत्रता की बात नहीं आती । दूसरी बात है—काल, कर्म आदि जितने भी तत्त्व हैं वे भी सीमित शक्ति वाले हैं । दुनिया में असीम शक्ति संपन्न कोई नहीं है । सब में शक्ति है और उस शक्ति की अपनी मर्यादा है । काल, स्वभाव, नियति और कर्म—ये शक्ति-संपन्न हैं, पर इनकी शक्ति अमर्यादित नहीं है । लोगों ने मान रखा है कि कर्म सर्वशक्ति संपन्न है । सब कुछ उससे ही होता है । यह भ्रान्ति है । यह टूटनी चाहिए । सब कुछ कर्म से नहीं होता । यदि सब कुछ कर्म से ही होता तो मोक्ष होता ही नहीं । आदमी कभी मुक्त नहीं हो पाता । चेतना का अस्तित्व ही नहीं होता । कर्म की अपनी एक सीमा है । वह उसी सीमा में अपना फल देता है, विपाक देता है । वह शक्ति की मर्यादा में ही काम करता है ।

व्यक्ति अच्छा या बुरा कर्म अर्जित करता है । वह फल देता है, पर कब देता है, उस पर भी बंधन है । उसकी मर्यादा है, सीमा है । मुक्त भाव से वह फल नहीं देता । द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—ये उसकी सीमाएँ हैं । प्रत्येक कर्म का विपाक होता है । माना जाता है कि दर्शनावरणीय कर्म का विपाक होता है तब नींद आती है । मैं आपसे पूछना चाहता हूँ, अभी आपको नींद नहीं आ रही है । आप दत्तचित्त होकर प्रवचन सुन रहे हैं । तो क्या दर्शनावरणीय कर्म का उदय या विपाक समाप्त हो गया ? दिन में नींद नहीं आती तो क्या दिन में दर्शनावरणीय कर्म का उदय समाप्त हो गया ? रात को सोने का समय है । उस समय नींद आने लगती है, पहले नहीं आती । तो क्या दर्शनावरणीय कर्म का उदय समाप्त हो गया ? कर्म विद्यमान् है, चालू है, पर वह विपाक देता है द्रव्य के साथ, काल और क्षेत्र के साथ । एक क्षेत्र में नींद बहुत आती है और दूसरे क्षेत्र में नींद नहीं आती । एक काल में नींद बहुत सताती है और दूसरे काल में नींद गायब हो जाती है । क्षेत्र और काल—दोनों निमित्त बनते हैं कर्म के विपाक में । बेचारे नारकीय जीवों को नींद कभी आती ही नहीं । कहाँ से आएगी ? वे इतनी सघन पीड़ा भोगते हैं कि नींद हराम हो जाती है । तो क्या यह मान लें कि नारकीय जीवों में दर्शनावरणीय कर्म समाप्त हो गया ? नहीं, उनमें दर्शनावरणीय कर्म का अस्तित्व है, पर क्षेत्र या वेदना का ऐसा प्रभाव है कि नींद आती ही नहीं । प्रत्येक कर्म द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, जन्म आदि-आदि परिस्थितियों के साथ अपना विपाक देता है । ये सारी कर्म की सीमाएँ हैं । कर्म सब कुछ नहीं करता । जब व्यक्ति जागरूक होता है तब किया हुआ कर्म भी टूटता सा लगता है ।

कर्म में कितना परिवर्तन होता है, इसको समझना चाहिए । भगवान्



महावीर ने कर्म का जो दर्शन दिया, उसे सही नहीं समझा गया। अन्यथा कर्म-वाद के विषय में इतनी गलत मान्यताएँ नहीं होतीं। आज भारतीय मानस में कर्मवाद और भाग्यवाद की इतनी भ्रान्तपूर्ण मान्यताएँ घर कर गई हैं कि आदमी उन मान्यताओं के कारण बीमारी भी भुगतता है, कठिनाइयाँ भी भुगतता है और गरीबी भी भुगतता है। गरीब आदमी यही सोचता है कि भाग्य में ऐसा ही लिखा है, अतः ऐसे ही जीना है। बीमार आदमी भी यही सोचता है कि भाग्य में बीमारी का लेख लिखा हुआ है, अतः रुग्णावस्था में ही जीना है। वह हर कार्य में कर्म का बहाना लेता है और दुःख भोगता जाता है। आज उसकी आदत ही बन गई है कि वह प्रत्येक कार्य में बहाना ढूँढ़ता है।

एक न्यायाधीश के सामने एक मामला आया। लड़ने वाले थे पति और पत्नी/पत्नी ने शिकायत की कि मेरे पति ने मेरा हाथ तोड़ डाला। जज ने पति से पूछा—“क्या तुमने हाथ तोड़ा है?” उसने कहा—“हाँ! मैं शराब पीता हूँ। गुस्सा आ गया और मैंने पत्नी का हाथ तोड़ डाला।” जज ने सोचा—घरेलू मामला है। पति को समझाया, मारपीट न करने की बात कही और केस समाप्त कर दिया।

कुछ दिन बीते। उसी जज के समक्ष वे दोनों—पति-पत्नी पुनः उपस्थित हुए। पत्नी ने शिकायत के स्वर में कहा—“इन्होंने मेरा दूसरा हाथ भी तोड़ डाला है।” जज ने पति से पूछा। उसने अपना अपराध स्वीकार करते हुए कहा—“जज महोदय! मुझे शराब पीने की आदत है। एक दिन मैं शराब पीकर घर आया। मुझे देखते ही पत्नी बोली—शराबी आ गया। शराब की भाँति मैं उस गाली को भी पी गया। इतने में ही पत्नी फिर बोली—न्यायाधीश भी निरा मूर्ख है, आज ये कारावास में होते तो मेरा दूसरा हाथ नहीं टूटता। जब पत्नी ने यह कहा तब मैं अपने आपे से बाहर हो गया। मैंने स्वयं का अपमान तो धैर्यपूर्वक सह लिया पर न्यायाधीश का अपमान नहीं सह सका और मैंने इसका दूसरा हाथ भी तोड़ डाला। यह मैंने न्यायाधीश के सम्मान की रक्षा के लिए किया। मैं अपराधी नहीं हूँ।”

आदमी को बहाना चाहिए। बहाने के आधार पर वह अपनी कमजोरियाँ छिपाता है। और इस प्रक्रिया से अनेक समस्याएँ खड़ी होती हैं। यदि आदमी साफ होता, बहानेवाजी से मुक्त होता तो समस्याएँ इतनी नहीं होतीं।

कर्म और भाग्य का बहाना भी बड़ा बहाना बन गया है। इसके सहारे अनेक समस्याएँ उभर रही हैं। इन समस्याओं का परिणाम आदमी को स्वयं भुगतना पड़ रहा है। वह परिणामों को भोगता जा रहा है। जब दृष्टिकोण,

मान्यताएँ और धारणाएँ गलत होती हैं तब उनके परिणामों से उबारने वाला कोई नहीं होता ।

“सब कुछ कर्म ही करता है”—यह अत्यन्त भ्रान्त धारणा है । आदमी ने सापेक्षता को विस्मृत कर दिया । सब कुछ कर्म से नहीं होता ।

काल, स्वभाव, नियति, पुराकृत [हमारा किया हुआ] और पुरुषार्थ—ये पाँच तत्त्व हैं । इन्हें समवाय कहा जाता है । ये पाँचों सापेक्ष हैं । यदि किसी एक को प्रधानता देंगे तो समस्याएँ खड़ी हो जाएँगी । काल प्रकृति का एक तत्त्व है । प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव अपना-अपना होता है । नियति सार्वभौम नियम है, जागतिक नियम है । यह सब पर समान रूप से लागू होता है । व्यक्ति स्वयं कुछ करता है । मनसा, वाचा, कर्मणा, जाने-अनजाने, स्थूल या सूक्ष्म प्रवृत्ति के द्वारा जो किया जाता है, वह सारा का सारा अंकित होता है । जो पुराकृत किया गया है, उसका अंकन और प्रतिबिम्ब होता है । प्रत्येक क्रिया अंकित होती है और उसकी प्रतिक्रिया भी होती है । क्रिया और प्रतिक्रिया का सिद्धान्त कर्म की क्रिया और प्रतिक्रिया का सिद्धान्त है । करो, उसकी प्रतिक्रिया होगी । गहरे कूप में बोलेंगे तो उसकी प्रतिध्वनि अवश्य होगी । ध्वनि की प्रतिध्वनि होती है । बिम्ब का प्रतिबिम्ब होता है । क्रिया की प्रतिक्रिया होती है । यह सिद्धान्त है दुनिया का । प्रत्येक व्यक्ति की प्रवृत्ति का परिणाम होता है और उसकी प्रवृत्ति होती है । कर्म अपना किया हुआ होता है । कर्म का कर्त्ता स्वयं व्यक्ति है और परिणाम उसकी कृति है, यह प्रतिक्रिया के रूप में सामने आती है । इसलिए इसे कहा जाता है—पुराकृत । इसका अर्थ है—पहले किया हुआ । पाँचवाँ तत्त्व है—पुरुषार्थ । कर्म और पुरुषार्थ—दो नहीं, एक ही हैं । एक ही तत्त्व के दो नाम हैं । इनमें अन्तर इतना सा है कि वर्तमान का पुरुषार्थ “पुरुषार्थ” कहलाता है और अतीत का पुरुषार्थ “कर्म” कहलाता है । कर्म पुरुषार्थ के द्वारा ही किया जाता है, कर्तृत्व के द्वारा ही किया जाता है । आदमी पुरुषार्थ करता है । पुरुषार्थ करने का प्रथम क्षण पुरुषार्थ कहलाता है और उस क्षण के बीत जाने पर वही पुरुषार्थ कर्म नाम से अभिहित होता है ।

ये पाँच तत्त्व हैं । पाँचों सापेक्ष हैं । सर्व शक्तिमान एक भी नहीं है । सब की शक्तियाँ सीमित हैं, सापेक्ष हैं । इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि हम स्वतंत्र भी हैं और परतंत्र भी हैं ।

दूसरा प्रश्न है—उत्तरदायी कौन ? काल, स्वभाव, नियति और कर्म—ये सब हमें प्रभावित करते हैं, पर चारों उत्तरदायी नहीं हैं । उत्तरदायी है व्यक्ति का अपना पुरुषार्थ, अपना कर्तृत्व । आदमी किसी भी व्यवहार या आचरण के दायित्व से छूट नहीं सकता । यह बहाना नहीं बनाया जा सकता कि “योग ऐसा ही था, कर्म था, नियति और स्वभाव था, इसलिए ऐसा घटित हो गया ।” ऐसा

सोचना या बहाना करना गलत होगा। अपने उत्तरदायित्व को हमें स्वीकारना होगा। हमें यह कहना होगा कि अपने आचरण और व्यवहार का सारा उत्तरदायित्व हम पर है। “उत्तरदायी कौन” की मीमांसा में मैंने पहले कहा था कि भिन्न-भिन्न क्षेत्र के व्यक्ति भिन्न-भिन्न तत्त्वों को उत्तरदायी बताते हैं। मनो-वैज्ञानिक, रासायनिक, शरीरशास्त्री और कर्मवादी—अपने-अपने दर्शन के अनुसार पृथक्-पृथक् तत्त्वों को उत्तरदायी कहते हैं। पर ये सब उत्तर सापेक्ष हैं। शरीर में उत्पन्न होने वाले रसायन हमें प्रभावित करते हैं, नाड़ी-संस्थान हमें प्रभावित करता है, वातावरण और परिस्थिति हमें प्रभावित करती है। ये सब प्रभावित करने वाले तत्त्व हैं, पर उत्तरदायित्व किसी एक का नहीं है। किसका होगा? ये सब अचेतन हैं। काल अचेतन है, पदार्थ का स्वभाव अचेतन है, नियति और कर्म अचेतन हैं। हमारा ग्रन्थितंत्र और नाड़ीतंत्र भी अचेतन है। परिस्थिति और वातावरण भी अचेतन है। पूरा का पूरा तंत्र अचेतन है, फिर उत्तरदायित्व कौन स्वीकारेगा? अचेतन कभी उत्तरदायी नहीं हो सकता। उसमें उत्तरदायित्व का बोध नहीं होता। वह दायित्व का निर्वाह भी नहीं करता। दायित्व का प्रश्न चेतना से जुड़ा हुआ है। चेतना के संदर्भ में ही उस पर मीमांसा की जा सकती है। जहाँ ज्ञान होता है वहाँ उत्तरदायित्व का प्रश्न आता है। जब सब अंधे ही अंधे हैं, वहाँ दायित्व किसका होगा। अंधों के साम्राज्य में दायित्व किसका? सब पागल ही पागल हों तो दायित्व कौन लेगा? पागलों के साम्राज्य में जो पागल नहीं होता, उसे भी पागल बन जाना पड़ता है। यदि वह पागल नहीं बनता है तो सुख से जी नहीं सकता। दायित्व की बात केवल चेतना जगत् में आती है जहाँ चेतना का विवेक और बोध होता है और दायित्व-निर्वाह की क्षमता है। हमारा पुरुषार्थ चेतना से जुड़ा हुआ है। पुरुषार्थ चेतना से निकलने वाली वे रश्मियाँ हैं जिनके साथ दायित्व का बोध और दायित्व का निर्वाह जुड़ा हुआ है।

हमारा पुरुषार्थ उत्तरदायी होता है। इसको हम अस्वीकार नहीं कर सकते। हमें अत्यन्त ऋजुता के साथ अपने व्यवहार और आचरण का दायित्व ओढ़ लेना चाहिए। उसमें कोई झिझक नहीं होनी चाहिए। जब तक हम अपने आचरण और व्यवहार के उत्तरदायित्व का अनुभव नहीं करेंगे तब तक उनमें परिष्कार भी नहीं करेंगे।

हमारे समक्ष दो स्थितियाँ हैं—एक है अपरिष्कृत आचरण और व्यवहार और दूसरी है परिष्कृत आचरण और व्यवहार। जब तक उत्तरदायित्व का अनुभव नहीं करेंगे तब तक आचरण और व्यवहार अपरिष्कृत ही रहेगा, अपरिष्कारित और पाशविक ही रहेगा। वह कभी ऊँचा या पवित्र नहीं बनेगा। वह कभी स्वार्थ की मर्यादा से मुक्त नहीं बनेगा।

भगवान् महावीर ने कर्मवाद के क्षेत्र में जो सूत्र दिए, मैं दार्शनिक दृष्टि

से उन्हें बहुत मूल्यवान् मानता हूँ । सामान्य आदमी इतना ही जानता है कि आदमी कर्म से बंधा हुआ है । अतीत से बंधा हुआ है । महावीर ने कहा—“किया हुआ कर्म भुगतना पड़ेगा ।” यह सामान्य सिद्धान्त है । इसके कुछ अपवाद-सूत्र भी हैं । कर्मवाद के प्रसंग में भगवान् महावीर ने उदीरणा, संक्रमण, उद्वर्तन और अपवर्तन के सूत्र भी दिए । उन्होंने कहा—कर्म को बदला जा सकता है, [कर्म को तोड़ा जा सकता है], कर्म को पहले भी किया जा सकता है, कर्म को बाद में भी किया जा सकता है । यदि पुरुषार्थ सक्रिय हो, जागृत हो तो हम जैसा चाहें वैसे कर्म को उसी रूप में बदल सकते हैं । संक्रमण का सिद्धान्त कर्मवाद की बहुत बड़ी वैज्ञानिक देन है । मैंने इस पर जैसे-जैसे चिन्तन किया, मुझे प्रतीत हुआ कि आधुनिक “जीव-विज्ञान” की जो नई वैज्ञानिक धारणाएँ और मान्यताएँ आ रही हैं, वे इसी संक्रमण सिद्धान्त की उपजीवी हैं । आज के वैज्ञानिक इस प्रयत्न में लगे हुए हैं कि “जीन” को यदि बदला जा सके तो पूरी पीढ़ी का कार्याकल्प हो सकता है । यदि ऐसी कोई टेक्निक प्राप्त हो जाए, कोई सूत्र हस्तगत हो जाए, जिससे “जीन” में परिवर्तन लाया जा सके तो अकल्पित क्रान्ति घटित हो सकती है । यह “जीन” व्यक्तित्व-निर्माण का घटक तत्त्व है ।

संक्रमण का सिद्धान्त जीन को बदलने का सिद्धान्त है । संक्रमण से जीन को बदला जा सकता है । कर्म परमाणुओं को बदला जा सकता है । बड़ा आश्चर्य हुआ जब एक दिन हमने इस सूत्र को समझा । बड़े-बड़े तत्त्वज्ञ मुनि भी इस सिद्धान्त को आश्चर्य से देखने लगे । एक घटना याद आती है । मैं अपनी पहली पुस्तक “जीव अजीव” लिख रहा था । उस समय हमारे संघ के आगमज्ञ मुनि रंगलालजी [बाद में वे संघ से पृथक् हो गए] उनके सामने मेरी पुस्तक का एक अंश आया । उसमें चर्चा थी कि पाप को पुण्य में बदला जा सकता है और पुण्य को पाप में बदला जा सकता है । मुनि रंगलालजी ने कहा—यह नहीं हो सकता । इस घर पुनश्चिन्तन करना चाहिए । मैंने सोचा—आगम के विशेष अध्येता मुनि ऐसा कह रहे हैं, मुझे पुनः सोचना चाहिए । मैंने सोचा, पर मेरे चिन्तन में वही बात आ रही थी । मैंने संक्रमण पर और गहराई से चिन्तन किया । पर निष्कर्ष वही आ रहा था, जो मैंने लिखा था । मैंने उन मुनि से कहा—क्या यह सम्भव नहीं है कि किसी ने पाप कर्म का बंध किया, किन्तु बाद में वही व्यक्ति अच्छा पुरुषार्थ करता है तो क्या पाप, जो कुफल देने वाला है, वह पुण्य के रूप में नहीं बदल जाएगा ? इसी प्रकार एक व्यक्ति ने पुण्य कर्म का बंध किया, किन्तु बाद में इतने बुरे कर्म किए, बुरा आचरण और व्यवहार किया, तो क्या वे पुण्य के परमाणु पाप के रूप में नहीं बदल जाएँगे ? उन्होंने कहा—ऐसा तो हो सकता है । मैंने कहा—यही तो मैंने लिखा है । यही तो संक्रमण का सिद्धान्त है । एक कथा के माध्यम से यह बात और स्पष्टता से समझ में आ जाती है—

दो भाई थे। एक बार दोनों एक ज्योतिषी के पास गए। बड़े भाई ने अपने भविष्य के बारे में पूछा। ज्योतिषी ने कहा—“तुम्हें कुछ ही दिनों के पश्चात् सूली पर लटकना पड़ेगा। तुम्हें सूली की सजा मिलेगी।” छोटे भाई ने भी अपना भविष्य जानना चाहा। ज्योतिषी बोला—तुम भाग्यवान् हो। तुम्हें कुछ ही समय पश्चात् राज्य मिलेगा, तुम राजा बनोगे। दोनों आश्चर्यचकित रह गए। कहीं राज्य का लाभ और कहीं सूली की सजा? असम्भव-सा था। दोनों घर आ गए। बड़े भाई ने सोचा—ज्योतिषी ने जो कहा है, सम्भव है वह बात मिल जाए। अब मुझे सम्भल कर कार्य करना चाहिए। वह जागरूक और अप्रमत्त बन गया। उसका व्यवहार और आचरण सुधर गया। उसे मौत सामने दीख रही थी। जब मौत सामने दीखने लगती है तब हर आदमी बदल जाता है। बड़े-से-बड़ा नास्तिक भी मरते-मरते आस्तिक बन जाता है। ऐसे नास्तिक देखे हैं जो जीवन भर नास्तिकता की दुहाई देते रहे, पर जीवन के अंतिम क्षणों में पूर्ण आस्तिक बन गए। बड़े भाई का दृष्टिकोण बदल गया, आचरण और व्यवहार बदल गया और उसके व्यक्तित्व का पूरा रूपान्तरण हो गया।

छोटे भाई ने सोचा—राज्य मिलने वाला है, अब चिन्ता ही क्या है? वह प्रमादी बन गया। उसका अहं उभर गया। अब वह आदमी को कुछ भी नहीं समझने लगा। एक-एक कर अनेक बुराईयाँ उसमें आ गईं। भविष्य में प्राप्त होने वाली राज्य सत्ता के लोभ ने उसे अंधा बना डाला। सत्ता की मदिरा का मादकपन अनूठा होता है। उसकी स्मृति मात्र आदमी को पागल बना देती है। वह सत्ता के मद में मदीनमत्त हो गया। वह इतना बुरा व्यवहार और आचरण करने लगा कि जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

कुछ दिन बीते। बड़ा भाई कहीं जा रहा था। उसके पैर में सूल चुभी और वह उसके दर्द को कुछ दिनों तक भोगता रहा। छोटा भाई एक अटवी से गुजर रहा था। उसकी दृष्टि एक स्थान पर टिकी। उसने उस स्थान को खोदा और वहाँ गड़ी मोहरों की थैली निकाल ली।

चार महीने बीत गए। दोनों पुनः ज्योतिषी के पास गए। दोनों ने कहा—ज्योतिषीजी! आपकी दोनों बातें नहीं मिलीं। न सूली की सजा ही मिली और न राज्य ही मिला। ज्योतिषी पहुँचा हुआ था। बड़ा निमित्तज्ञ था। उसने बड़े भाई की ओर मुड़कर कहा—“मेरी बात असत्य हो नहीं सकती। तुमने अच्छा आचरण किया अन्यथा तुम पकड़े जाते और तुम्हें सूली की सजा मिलती। पर वह सूली की सजा शूल से टल गई। बताओ, तुम्हारे पैर में शूल चुभी या नहीं?” छोटे भाई से कहा—“तुम्हें राज्य प्राप्त होने वाला था। पर

तुम प्रमत्त बने, बुरा आचरण करने लगे। तुम्हारा राज्य लाभ मोहरों में टल गया।”

इससे यह स्पष्ट होता है कि संचित पुण्य बुरे पुरुषार्थ से पाप में बदल जाते हैं और संचित पाप अच्छे पुरुषार्थ से पुण्य में बदल जाते हैं। यह संक्रमण होता है, किया जाता है।

मुनिजी को फिर मैंने कहा—यह जैन दर्शन का मान्य सिद्धान्त है और मैंने इसी का “जीव अजीव” पुस्तक में विमर्श किया है। ‘स्थानांग’ सूत्र में चतुर्भंगी मिलती है—

चउव्विहे कम्मे पण्णात्ते, तं जहा—

सुभे नाम मेगे सुभविवागे,  
सुभे नाम मेगे असुभविवागे,  
असुभे नाम मेगे सुभविवागे,  
असुभे नाम मेगे असुभविवागे। (ठागां ४/६०३)

एक होता है शुभ, पर उसका विपाक होता है अशुभ। दूसरे शब्दों में बंधा हुआ है पुण्य कर्म, पर उसका विपाक होता है पाप। बंधा हुआ है पाप कर्म, पर उसका विपाक होता है पुण्य। कितनी विचित्र बात है। यह सारा संक्रमण का सिद्धान्त है। शेष दो विकल्प सामान्य हैं। जो अशुभ रूप में बंधा है, उसका विपाक अशुभ होता है और जो शुभरूप में बंधा है, उसका विपाक शुभ होता है। इन दो विकल्पों में कोई विमर्शणीय तत्त्व नहीं है, किन्तु दूसरा और तीसरा—ये दोनों विकल्प महत्त्वपूर्ण हैं और संक्रमण सिद्धान्त के प्ररूपक हैं। संक्रमण का सिद्धान्त पुरुषार्थ का सिद्धान्त है। ऐसा पुरुषार्थ होता है कि अशुभ-शुभ में और शुभ अशुभ में बदल जाता है।

इस संदर्भ में हम पुरुषार्थ का मूल्यांकन करें और सोचें कि दायित्व और कर्तृत्व किसका है? हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि सारा दायित्व और कर्तृत्व है पुरुषार्थ का। अच्छा पुरुषार्थ कर आदमी अपने भाग्य को बदल सकता है। अनेक बार निमित्तज्ञ बताते हैं—भाई! तुम्हारा भाग्य अच्छा है, पर अच्छा कुछ भी नहीं होता। क्योंकि वे अपने भाग्य का ठीक निर्माण नहीं करते, पुरुषार्थ का ठीक उपयोग नहीं करते। पुरुषार्थ का उचित उपयोग न कर सकने के कारण कुछ भी नहीं हुआ और बेचारा ज्योतिषी भूटा हो गया। उसकी भविष्यवाणी असत्य हो गई।

ज्योतिषी ने किसी को कहा कि तुम्हारा भविष्य खराब है। उस व्यक्ति

ने उसी दिन से अच्छा पुरुषार्थ करना प्रारम्भ कर दिया और उसका भविष्य अच्छा हो गया ।

सुकरात के सामने एक व्यक्ति आकर बोला—“मैं तुम्हारी जन्म-कुंडली देखना चाहता हूँ ।” सुकरात बोला—“अरे ! जन्मा तब जो जन्म-कुंडली बनी थी, उसे मैं गलत कर चुका हूँ । मैं उसे बदल चुका हूँ । अब तुम उसे क्या देखोगे ?”

पुरुषार्थ के द्वारा व्यक्ति अपनी जन्म-कुंडली को भी बदल देता है । ग्रहों के फल-परिणामों को भी बदल देता है, भाग्य को बदल देता है । इस दृष्टि से मनुष्य का ही कर्तृत्व है, उत्तरदायित्व है । दूसरे शब्दों में पुरुषार्थ का ही कर्तृत्व है और उत्तरदायित्व है । महावीर ने पुरुषार्थ के सिद्धान्त पर बल दिया, पर एकांगी दृष्टिकोण की स्थापना नहीं की । उन्होंने सभी तत्त्वों के समवेत कर्तृत्व को स्वीकार किया, पर उत्तरदायित्व किसी एक तत्त्व का नहीं माना ।

भगवान् महावीर के समय की घटना है । शकडाल नियतिवादी था । भगवान् महावीर उसके घर ठहरे । उसने कहा—“भगवन् ! सब कुछ नियति से होता है । नियति ही परम तत्त्व है ।” भगवान् महावीर बोले—“शकडाल ! तुम घड़े बनाते हो । बहुत बड़ा व्यवसाय है तुम्हारा । तुम कल्पना करो, तुम्हारे आवे से अभी-अभी पककर पाँच सौ घड़े बाहर निकाले गए हैं । वे पड़े हैं । एक आदमी लाठी लेकर आता है और सभी घड़ों को फोड़ देता है । इस स्थिति में तुम क्या करोगे ?”

शकडाल बोला—“मैं उस आदमी को पकड़ कर मारूँगा, पीटूँगा ।”

महावीर बोले—“क्यों ।”

शकडाल ने कहा—“उसने मेरे घड़े फोड़े हैं, इसलिए वह अपराधी है ।”

महावीर बोले—“बड़े आश्चर्य की बात है । सब कुछ नियति करवासी है । वह आदमी नियति से बंधा हुआ था । नियति ने ही घड़े फुड़वाए हैं । उस आदमी का इसमें दोष ही क्या है ?”

यह चर्चा आगे बढ़ती है और अन्त में शकडाल अपने नियति के सिद्धान्त को आगे नहीं खींच पाता, वह निरुत्तर हो जाता है ।

पुरुषार्थ का अपना दायित्व है । कोई भी आदमी यह कहकर नहीं बच सकता कि मेरी ऐसी ही नियति थी । हमें सचाई का, यथार्थता का अनुभव करना होगा ।

इस चर्चा का निष्कर्ष यह है कि अप्रमाद बड़े और प्रमाद घटे, जागरूकता बढ़े और मूर्खी घटे । पुरुषार्थ का उपयोग सही दिशा में बढ़े और गलत दिशा में जाने वाला पुरुषार्थ टूटे । हम अपने उत्तरदायित्व का अनुभव करें । □

□ श्री राजीव प्रचंडिया

सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं का बना हुआ सूक्ष्म/अदृश्य शरीर वस्तुतः कार्माण शरीर कहलाता है। यह कार्माण शरीर आत्मा में व्याप्त रहता है। आत्मा का जो स्वभाव (अनन्त ज्ञान-दर्शन, अनन्त आनन्द-शक्ति आदि) है, उस स्वभाव को जब यह सूक्ष्म शरीर विकृत/आच्छादित करता है तब यह आत्मा सांसारिक/बद्ध हो जाता है अर्थात् राग-द्वेषादिक काषायिक भावनाओं के प्रभाव में आ जाता है अर्थात् कर्मबन्धन में बँध जाता है जिसके फलस्वरूप यह जीवात्मा अनादिकाल से एक भव/योनि से दूसरे भव/योनि में अर्थात् अनन्त-भवों/अनन्त योनियों में इस संसार-चक्र में परिभ्रमण करता रहता है।

कर्म जैसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का सूक्ष्म तथा वैज्ञानिक विश्लेषण जितना जैन दर्शन करता है उतना विज्ञान सम्मत अन्य दर्शन नहीं। जैन दर्शन के समस्त सिद्धान्त/मान्यताएँ वास्तविकता से अनुप्राणित, प्रकृति अनुरूप तथा पूर्वाग्रह से सर्वथा मुक्त हैं। फलस्वरूप जैन धर्म एक व्यावहारिक तथा जीवनोप-योगी धर्म है।

‘कर्मबन्धन’ की प्रणाली को समझने के लिए जैनदर्शन में निम्न पाँच महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख निरूपित है, यथा—

- (१) आस्रव,
- (२) बन्ध,
- (३) संवर,
- (४) निर्जरा, तथा
- (५) मोक्ष।

मनुष्य जब कोई कार्य करता है, तो उसके आस-पास के वातावरण में क्षोभ उत्पन्न होता है जिसके कारण उसके चारों ओर उपस्थित कर्म-शक्ति युक्त सूक्ष्म पुद्गल परमाणु/कार्माण वर्गणा/कर्म आत्मा की ओर आकर्षित होते हैं। इनका आत्मा की ओर आकर्षित होना आस्रव तथा आत्मा के साथ क्षेत्रावगाह/एक ही स्थान में रहने वाला सम्बन्ध बन्ध कहलाता है। इन परमाणुओं को आत्मा की ओर आकृष्ट न होने देने की प्रक्रिया वस्तुतः संवर है। ‘निर्जरा’



आत्मा से इन सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं के छूटने का विधि-विधान है तथा आत्मा का सर्वप्रकार के कर्म-परमाणुओं से मुक्त होना मोक्ष कहलाता है। वास्तव में कर्मों के आने का द्वार आस्रव है जिसके माध्यम से कर्म आते हैं। संवर के माध्यम से यह द्वार बन्द होता है अर्थात् नवीन कर्मों का आगमन रुक जाता है तथा जो कर्म आस्रव-द्वार द्वारा पूर्व ही बद्ध/संचित किए जा चुके हैं, उन्हें निर्जरा अर्थात् तप/साधना द्वारा ही दूर/क्षय किया जा सकता है। इस प्रकार संवर और निर्जरा मुक्ति के कारण हैं, तथा आस्रव और बन्ध संसार-परिभ्रमण के हेतु हैं। इन उपर्युक्त पाँच बातों को जैन दर्शन में तत्त्व कहा गया है। यह निश्चित है कि तत्त्व को जाने/समझे बिना कर्म-रहस्य को समझ पाना नितान्त असम्भव है। मोक्ष मार्ग में तत्त्व अपना बहुत महत्त्व रखते हैं।

‘तस्यभावस्तत्त्वम्’ अर्थात् वस्तु के सच्चे स्वरूप को जानना तत्त्व कहलाता है अर्थात् जो वस्तु जैसी है, उस वस्तु के प्रति वही भाव रखना, तत्त्व है, किन्तु वस्तु स्वरूप के विपरीत जानना/मानना मिथ्यात्व/उल्टी मान्यता/यथार्थ ज्ञान का अभाव है। यह मिथ्यात्व काषायिक भावनाओं (क्रोध, मान, माया और लोभ) तथा अविरति (हिंसा, भ्रूठ, प्रमाद) आदि मनोविकारों को जन्म देता है, जिससे कर्मों का आस्रव-बन्ध होता है। उपरोक्त तत्त्वों को सही-सही रूप में जान लेने/सम्यग्दर्शन के पश्चात् पर-स्व भेद बुद्धि को समझकर/सम्यग्ज्ञान के तदनन्तर इन तत्त्वों के प्रति श्रद्धान तथा भेद-विज्ञान पूर्वक इन्हें स्व में लय करने/सम्यग् चारित्र्य से कर्मों का संवर निर्जरा होता/होती है। निर्जरा हो जाने पर तथा समस्त कर्मों से मुक्ति मिलने पर ही जीव संसार के आवागमन से छूट जाता है। निर्वाण पद प्राप्त कर लेता है।

जैनदर्शन में कार्माण वर्गणा/कर्म-शक्ति युक्त परमाणु/कर्म, को मूलतः दो भागों में विभक्त किया गया है। एक तो वे कर्म जो आत्मा के वास्तविक स्वरूप का घात करते हैं, घाति कर्म कहलाते हैं जिनके अन्तर्गत ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म आते हैं तथा दूसरे वे कर्म जिनके द्वारा आत्मा के वास्तविक स्वरूप के आघात की अपेक्षा जीव की विभिन्न योनियाँ, अवस्थाएँ तथा परिस्थितियाँ निर्धारित हुआ करती हैं, अघाति कर्म कहलाते हैं, इनमें नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय कर्म समाविष्ट हैं।

### ज्ञानावरणीय कर्म :

कार्माण वर्गणा/कर्म परमाणुओं का वह समूह जिससे आत्मा का ज्ञान गुण प्रच्छन्न रहता है, ज्ञानावरणीय कर्म कहलाता है। इस कर्म के प्रभाव में आत्मा के अन्दर व्याप्त ज्ञान-शक्ति शीर्ण होती जाती है। फलस्वरूप जीव रूढ़ि-क्रिया-काण्डों में ही अपना सम्पूर्ण जीवन नष्ट करता है। इस कर्म के क्षय के लिए सतत स्वाध्याय करना जैनागम में बताया गया है।

### दर्शनावरणीय कर्म :

कर्म-शक्ति युक्त परमाणुओं का वह समूह जिसके द्वारा आत्मा का अनन्त दर्शन स्वरूप अप्रकट रहता है, दर्शनावरणीय कर्म कहलाता है। इस कर्म के कारण आत्मा अपने सच्चे स्वरूप को पहिचानने में सर्वथा असमर्थ रहता है। फलस्वरूप वह मिथ्यात्व का आश्रय लेता है।

### मोहनीय कर्म :

इस कर्म के अन्तर्गत वे कर्मण वर्गणाएँ आती हैं जिनके द्वारा जीव में मोह उत्पन्न होता है। यह कर्म आत्मा के शान्ति-सुख-आनन्द स्वभाव को विकृत करता है। मोह के वशीभूत जीव स्व-पर का भेद-विज्ञान भूल जाता है। समाज में व्याप्त संघर्ष इसी के कारण हैं।

### अन्तराय कर्म :

आत्मा में व्याप्त ज्ञान-दर्शन-आनन्द के अतिरिक्त अन्य सामर्थ्य शक्ति को प्रकट करने में जो कर्म परमाणु बाधा उत्पन्न करते हैं, वे सभी अन्तराय कर्म के अन्तर्गत आते हैं। इस कर्म के कारण ही आत्मा में व्याप्त अनन्त शक्ति का हास होने लगता है। आत्म-विश्वास की भावनाएँ, संकल्प शक्ति तथा साहस-वीरता आदि मानवीय गुण प्रायः लुप्त हो जाते हैं।

### नाम कर्म :

इस कर्म के द्वारा जीव एक योनि से दूसरी योनि में जन्म लेता है तथा उसके शरीरादि का निर्माण भी इन्हीं कर्म-वर्गणाओं के द्वारा हुआ करता है।

### गोत्र कर्म :

कर्म परमाणुओं का वह समूह जिनके द्वारा यह निर्धारित होता है कि जीव किस गोत्र, कुटुम्ब, वंश, कुल-जाति तथा देश आदि में जन्म ले, गोत्र कर्म कहलाता है। ये कर्म-परमाणु जीव में अपने जन्म की स्थिति के प्रतिमान-स्वाभिमान तथा ऊँच-नीच-हीन-भाव आदि का बोध कराते हैं।

### आयु कर्म :

इस कर्म के माध्यम से जीव की आयु निश्चित हुआ करती है। स्वर्ग-मनुष्य-तिर्यञ्च-नरक गति में कौनसी गति जीव को प्राप्त हो, यह इसी कर्म पर निर्भर करता है।

### वेदनीय कर्म :

इस कर्म के द्वारा जीव को सुख-दुःख की वेदना का अनुभव हुआ करता है।

इन अष्ट कर्मों की एक सौ अड़तालीस उत्तर-प्रकृतियाँ जैनागम में उल्लिखित हैं जिनमें जानावरणीय की पाँच, दर्शनावरणीय की नौ, वेदनीय की दो, मोहनीय की अट्ठाईस, आयु की चार, नाम की तेरानवे, गोत्र की दो तथा अन्तराय की पाँच उत्तर प्रकृतियाँ हैं ।

उपरोक्त कर्म-परमाणुओं के भेद-प्रभेदों का सम्यक् ज्ञान होने के उपरान्त यह सहज में कहा जा सकता है कि घाति-अघाति कर्म आत्मा के स्वभाव को आच्छादित कर जीव में ज्ञान, दर्शन व सामर्थ्य शक्ति को शीर्ण करते हैं तथा ये कर्म जीव पर भिन्न-भिन्न प्रकार से अपना प्रभाव डालते हैं जिसके फलस्वरूप संसारी जीव सुख-दुःख के घेरे में घिरे रहते हैं ।

इन अष्ट कर्मों के अतिरिक्त 'नोकर्म' का भी उल्लेख आगम में मिलता है । कर्म के उदय से होने वाला वह औदारिक शरीरादि रूप पुद्गल परिणाम जो आत्मा के सुख-दुःख में सहायक होता है, वस्तुतः 'नोकर्म' कहलाता है । ये 'नोकर्म' भी जीव पर अन्य कर्मों की भाँति अपना प्रभाव डाला करते हैं ।

जैन दर्शन की मान्यता है कि 'सकम्मुणा विप्यरिया सुवेइ' अर्थात् प्रत्येक प्राणी अपने ही कृत कर्मों से कष्ट पाता है । आत्मा स्वयं अपने द्वारा ही कर्मों की उदीर्णा करता है, स्वयं अपने द्वारा ही उनकी गृही-आलोचना करता है और अपने कर्मों के द्वारा कर्मों का संवर-आस्रव का निरोध भी करता है । यह निश्चित है कि जैसा व्यक्ति कर्म करता है उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है । ऐसा कदापि नहीं होता कि कर्म कोई करे और उसका फल कोई अन्य भोगे । इस दर्शन के अनुसार 'अप्पो वि य परमप्पो, कम्म विमुक्को यहोइ पुडं' अर्थात् प्रत्येक आत्मा कृत कर्मों का नाश करके परमात्मा बन सकता है । यह एक ऐसा दर्शन है जो आत्मा को परमात्मा बनने का अधिकार प्रदान करता है तथा परमात्मा बनने का मार्ग भी प्रस्तुत करता है किन्तु यहाँ परमात्मा के पुनः भवातरण की मान्यता नहीं है । वास्तव में सब आत्माएँ समान तथा अपने आप में स्वतन्त्र और महत्त्वपूर्ण हैं । वे किसी अखंड सत्ता का अंश रूप नहीं हैं । किसी कार्य का कर्त्ता यहाँ परकीय शक्ति को नहीं माना गया है । अतः जैन-दर्शन कर्मफल देने वाला कोई अन्य विशेष चेतन व्यक्ति अथवा ईश्वर को नहीं मानता । फलस्वरूप प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार स्वयं कर्त्ता और उसका भोक्ता है ।

जैन दर्शन में कर्मबन्ध के पाँच मुख्य हेतु—मिथ्यात्व असंयम, प्रमाद, कषाय तथा योग (काय-मन-वचन की क्रिया)—उल्लिखित हैं । इनमें लिप्त रहकर जीव कर्म जाल में बुरी तरह से जकड़ा रहता है । इनसे मुक्तियर्थ जीव को अपने भावों को सदैव शुद्ध रखने के लिए कहा गया है क्योंकि कोई भी कार्य

करते समय यदि जीव की भावना शुद्ध तथा राग-द्वेष, क्रोध-मान-माया-लोभ-कषायों से निर्लिप्त, वीतरागी है, तो उस समय शारीरिक कार्य करते हुए भी किसी भी प्रकार का कर्मबन्ध जीव में नहीं होता। मूलतः जीव के मनोविकार ही कर्मबन्ध की स्थिति को स्थिर क्रिया करते हैं। कार्य करते समय जिस प्रकार का भाव जीव के मन में उत्पन्न होता है, उसी भाव के तद्रूप ही जीव में कर्मबन्ध स्थिर हुआ करता है। प्रायः यह देखा/सुना जाता है कि विभिन्न व्यक्तियों द्वारा एक ही प्रकार के कार्य करने पर भी उनमें भिन्न-भिन्न प्रकार का कर्मबन्ध होता है। इसका मूल कारण है कि एक ही प्रकार के कार्य करते समय इन व्यक्तियों के भाव सर्वथा भिन्न प्रकार के होते हैं; फलस्वरूप इनमें भिन्न-भिन्न प्रकार का कर्मबन्ध होता है। जैन दर्शन में 'कर्मबन्ध' को चार भागों में विभाजित किया गया है, यथा—

- (१) प्रकृति बन्ध,
- (२) स्थिति बन्ध,
- (३) अनुभव/अनुभाग बन्ध,
- (४) प्रदेश बन्ध।

**प्रकृति बन्ध :**

जो बन्ध कर्मों को प्रकृति/स्वभाव स्थिर किया करता है, प्रकृति बन्ध कहलाता है।

**स्थिति बन्ध :**

यह बन्ध कर्म-फल की अवधि/काल को निश्चित करता है।

**अनुभाग बन्ध :**

कर्मफल की तीव्र या मन्द शक्ति की निश्चितता अनुभाग बन्ध कहलाती है।

**प्रदेश बन्ध :**

कर्मबन्ध के समय आत्मा के साथ कार्मण वर्गणा/कर्म का सम्बन्ध जितनी संख्या या शक्ति के साथ होता है, प्रदेश बन्ध कहलाता है।

इन चार प्रकार के कर्मबन्धों में प्रकृति और प्रदेश बन्ध योग के निमित्त से तथा कषाय-मिथ्यात्व-अविरति-प्रमाद के निमित्त से स्थिति और अनुभाग बन्ध हुआ करते हैं। जैन दर्शन के अनुसार मोह और योग के निमित्त से होने वाले आत्मा के गुणों का तारतम्य गुणस्थान/जीवस्थान कहलाता है। अर्थात् जीव के आध्यात्मिक विकास का क्रम गुणस्थान/जीवस्थान है। ये गुणस्थान/जीवस्थान मिथ्या दृष्टि आदि के भेद से चौदह होते हैं जिनमें प्रारम्भ के बारह

गुणस्थान मोह से सम्बन्धित हैं तथा अन्तिम दो गुणस्थान योग से । इन गुण-स्थानों में कर्मबन्ध की स्थिति का वर्णन करते हुए जैनाचार्यों ने बताया कि प्रथम दश गुणस्थान तक चारों प्रकार के बन्ध उपस्थित रहते हैं किन्तु ग्यारहवें गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक मात्र प्रकृति और प्रदेश बन्ध ही शेष रहते हैं तथा चौदहवें गुणस्थान में ये दोनों भी समाप्त हो जाते हैं । तदनन्तर चारों प्रकार के बन्ध से मुक्त होकर यह जीवात्मा सिद्ध/परमात्मा हो जाता है ।

यह निश्चित है कि आत्मा कर्म और नोकर्म जो पौद्गलिक हैं, से सर्वथा भिन्न है । इस पर पौद्गलिक वस्तुओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ा करता, यह अनुभूति भेद-विज्ञान कहलाती है, जो जीव को तप/साधना की ओर प्रेरित करती है । आगम में तप की परिभाषा में कहा गया है कि 'परं कर्मक्षयार्थं यत्तप्यते तत्तपः स्मृतम्' अर्थात् कर्मों का क्षय करने के लिए जो तपा जाय वह तप है । जैन दर्शन में तप के मुख्यतया दो भेद किए गए हैं—बाह्य तप और आभ्यन्तर तप । बाह्य तप के अन्तर्गत अनशन/उपवास, अश्रमौदर्य/उनोदर, रस-परित्याग, भिक्षाचरी/वृत्तिपरिसंख्यान, परिसंलीनता/विविक्तशय्यासन और कायाक्लेश तथा आभ्यन्तर तप में—विनय, वैयावृत्य/सेवा-सुश्रूषा, प्रायश्चित्त, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग/व्युत्सर्ग नामक तप आते हैं । आभ्यन्तर तप की अपेक्षा बाह्य तप व्यवहार में प्रत्यक्ष परिलक्षित हैं किन्तु कर्म क्षय और आत्म-शुद्धि के लिए तो दोनों ही प्रकार के तप का विशेष महत्त्व है । वास्तव में तप के माध्यम से ही जीव अपने कर्मों का परिणामन कर निर्जरा कर सकता है । इसके द्वारा कर्म-आस्रव समाप्त हो जाता है और अन्ततः सर्वप्रकार के कम-जाल से जीव सर्वथा मुक्त हो जाता है । कर्म मुक्ति अर्थात् मोक्ष प्राप्त्यर्थं जैन-दर्शन का लक्ष्य रहा है—वीतराग-विज्ञानिता की प्राप्ति । यह वीतरागता सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी रत्नत्रय की समन्वित साधना से उपलब्ध होती है । वस्तुतः श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र से कर्मों का निरोध होता है । जब जीव सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से युक्त होता है तब आस्रव से रहित होता है जिसके कारण सर्वप्रथम नवीन कर्म कटते/छँटते हैं, फिर पूर्वबद्ध/संचित कर्म क्षय/दूर होने लगते हैं । कालान्तर में मोहनीय कर्म सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं । तदनन्तर अन्तराय, ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय ये तीन कर्म भी एक साथ सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं । इसके उपरान्त शेष बचे चार अघाति कर्म भी नष्ट हो जाते हैं । इस प्रकार समस्त कर्मों का क्षय/दूर कर जीव निर्वाण/मोक्ष को प्राप्त हो जाता है । जैसा कि आगम में कहा गया है कि 'कृत्स्न कर्म क्षयो मोक्षः ।' उपर्युक्त कथ्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म-मल से दूर हटने के लिए जीवन में रत्नत्रय की समन्वित साधना नितान्त उपयोगी एवं सार्थक है ।



संसार के प्रत्येक प्राणी का लक्ष्य बन्धनों से मुक्त होना और दुःखों से छुटकारा पाना है। किसी भी प्राणी को दुःख अभीष्ट नहीं होता, सभी प्राणी सुख चाहते हैं, ऐसा सुख जो कभी दुःख रूप में परिणत न हो। इस स्थिति को दूसरे शब्दों में मोक्ष या मुक्ति कहा गया है।

जैन-दर्शन में तत्त्वार्थ सूत्र के रचयिता आचार्य उमास्वाति ने मोक्ष की परिभाषा दी है—‘कृत्स्न कर्मक्षयो मोक्षः’ अर्थात् समस्त कर्मों का नष्ट हो जाना ही मोक्ष है। इन कर्मों के क्षय से ही शाश्वत सुख की स्थिति प्राप्त होती है। अब यह समझना आवश्यक है कि यह कर्म क्या है जो आत्मा को बन्धनों में जकड़ देता है? उसके क्षय से किस प्रकार आत्मा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बनती है तथा इस कर्म का और लेश्या का क्या सम्बन्ध है?

**कर्म क्या है ?**

जैन-दर्शन में कर्म का अर्थ क्रिया करना नहीं है। यह एक पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ है राग-द्वेषादि परिणामों से एकत्रित कार्मण वर्गणा के पुद्गलों का आत्मा के साथ बंध जाना। आत्मा कर्म करते हुए शुभ और अशुभ पुद्गलों का बंध करती है और उसके फलस्वरूप उसके शुभाशुभ फलों को भोगते हुए संसार में चक्कर लगाती रहती है अथवा जन्म-मरण करती रहती है। वह मुक्त दशा को प्राप्त नहीं होती।

कर्म के एक अपेक्षा से दो भेद किये गए हैं—(१) द्रव्य कर्म एवं भाव कर्म। द्रव्य कर्म पुद्गल रूप है। भाव कर्म इन पुद्गलों को एकत्र करने में कारणभूत शुभाशुभ विचार हैं। द्रव्य कर्म, भाव कर्म के लिये एवं भाव कर्म द्रव्य कर्म के लिये कारणभूत है। दोनों ही परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। जैन-दर्शन की एक उक्ति बहुत प्रसिद्ध है—‘कडाण कम्माण ण भोक्ख अत्थि’ अर्थात् कर्मों का फल भोगे बिना उनसे छुटकारा नहीं मिलता। निकाचित कर्मों की अपेक्षा यह उक्ति सही है क्योंकि निकाचित कर्म का विपाक या फल आत्मा को भोगना ही होता है। परन्तु निधत्त प्रकार के कर्मों में पुरुषार्थ के द्वारा

आत्मा परिवर्तन ला सकती है। और केवल प्रदेशोदय द्वारा ये कर्म क्षय हो सकते हैं।

‘जैन-दर्शन : स्वरूप और विश्लेषण’ में श्री देवेन्द्र मुनि का कथन कितना सार्थक है। उन्होंने लिखा है—‘संसार को घटाने-बढ़ाने का आधार पूर्वकृत कर्म की अपेक्षा वर्तमान अध्यवसायों पर विशेष आधारित है।’ यहीं कर्म के साथ लेश्याओं का सम्बन्ध जुड़ जाता है। इसी प्रकार भावकर्म के रूप में लेश्याएँ कर्म-बन्ध में आधारभूत भूमिका निभाती हैं।

**लेश्या क्या है ?**

जिनके द्वारा आत्मा कर्मों से लिप्त होती है, जो योगों की प्रवृत्ति से उत्पन्न होती है तथा मन के शुभाशुभ भावों को लेश्या कहा गया है। दूसरे शब्दों में योग और कषाय के निमित्त से होने वाले आत्मा के शुभाशुभ परिणाम को लेश्या कहा गया है, जिससे आत्मा कर्मों से लिप्त हो। अपर शब्दों में लेश्या एक ऐसी शक्ति है जो आने वाले कर्मों को आत्मा के साथ चिपका देती है। यह शक्ति कषाय और योग से उत्पन्न होती है। इन परिभाषाओं का सार यही है कि लेश्या हमारे शुभाशुभ परिणाम या भाव हैं जिनमें कषाय और योग के कारण ही स्निग्धता उत्पन्न होती है जो हमारे चारों ओर फैले हुए कर्म पुद्गलों को आत्मा के चिपका देती है। जैन-दर्शन में इसीलिये कहा भी गया है—‘परिणामे बन्ध’ अर्थात् शुभाशुभ कर्मों का बन्ध आत्मा के परिणामों पर निर्भर है। लेश्या आत्मा के ऐसे शुभ-अशुभ परिणाम है जो कर्मबन्ध का कारण बनते हैं। ‘पञ्चवर्णासूत्र’ के १७वें पद में लेश्याओं का वर्णन करते हुए शास्त्रकार ने कर्मबन्ध में उनको सहकारी कारण बतलाया है। और इस दृष्टि से हमारी आत्मा के शुभाशुभ विचारों में तीव्रता और मन्दता अथवा आसक्ति और अनासक्ति होने पर कर्मबन्ध भी उसी प्रकार का भारी या हल्का होता है।

**लेश्या और कर्म का सम्बन्ध :**

कर्म और लेश्या की परिभाषा जानने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि लेश्या और कर्म में कारण और कार्य का सम्बन्ध है। लेश्याएँ या आत्मा के विभिन्न परिणाम स्निग्ध और रुक्ष दशा में तद्तद् रूप में कर्मबन्ध का कारण बनते हैं। यदि कोई कार्य करते हुए हमारी उसमें आसक्ति हुयी तो कर्मबन्ध जटिल होगा और अनासक्त भाव से कार्य करते हुए आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध मन्द, मन्दतर और मन्दतम होगा।

कर्मबन्ध के भिन्न-भिन्न विवक्षाओं से अलग-अलग कारण बतलाए हैं। परन्तु मुख्यतः राग-द्वेष की वृत्तियाँ ही कर्म का बीज मानी गयी हैं। कहा भी

गया है—‘रागोयदोसो वियकम्मवियम्’ ये राग और द्वेष की वृत्तियाँ योग का ही रूप हैं । और कषायों को समन्वित किये हुए हैं ।

**लेश्याओं के प्रकार और कर्मबन्ध :**

लेश्याएँ छः हैं—कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, तेजो लेश्या, पद्म लेश्या एवं शुक्ल लेश्या । इनमें प्रथम तीन अशुभ और अन्तिम तीन शुभ मानी गयी हैं ।

(१) **कृष्ण लेश्या**—काजल के समान वाले वर्ण के इस लेश्या के पुद्गलों का सम्बन्ध होने पर आत्मा में ऐसे परिणाम उत्पन्न होते हैं जिनसे आत्मा मिथ्यात्व आदि पाँच आस्रवों में प्रवृत्ति करती, तीन गुप्ति से अगुप्त रहती, ह्रः काय की हिंसा करती है । वह क्षुद्र तथा कठोर स्वभावी होकर गुण-दोष का विचार किये बिना क्रूर कर्म करती रहती है ।

(२) **नील लेश्या**—नीले रंग के इस लेश्या के पुद्गलों का सम्बन्ध होने पर आत्मा में ऐसा परिणाम उत्पन्न होता है कि जिससे ईर्ष्या, माया, कपट, निर्लज्जता, लोभ, द्वेष तथा क्रोध आदि के भाव जग जाते हैं । ऐसी आत्मा तप और सम्यग्ज्ञान से शून्य होती है ।

(३) **कापोत लेश्या**—कबूतर के समवर्णी पुद्गलों के संयोग से आत्मा में बोलने, विचारने व कार्य करने में वक्रता उत्पन्न होती है । नास्तिक बनकर आत्मा अनार्य प्रवृत्ति करते हुए अपने दोषों को ढंकी है, दूसरों की उन्नति नहीं सह सकती । चोरी आदि के कर्म करती है ।

उक्त तीनों लेश्याएँ अशुभ होने से आत्मा की दुर्गति का कारण बनती हैं । ऐसे जीव नरक और तिर्यंच गति में जाते हैं यदि जीवन के अन्तिम काल में उनके परिणाम इतने अशुभ हों ।

(४) **तेजो लेश्या**—इस लेश्या के सम्बन्ध से आत्मा में ऐसे परिणाम उत्पन्न होते हैं कि आत्मा अभिमान का त्याग कर मन, वचन और कर्म से नञ् बन जाती है । गुरुजनों का विनय करती, इन्द्रियों पर विजय पाती हुई पापों से भयभीत होती है और तप-संयम में लगी रहती है ।

(५) **पद्म लेश्या**—इस लेश्या में स्थित आत्मा क्रोधादि कषायों को मन्द कर देती है । मितभाषी, सौम्य और जितेन्द्रिय बनकर अशुभ प्रवृत्तियों को रोक देती है ।

(६) **शुक्ल लेश्या**—इस लेश्या के प्रभाव स्वरूप आत्मा आर्त्त, रौद्र,



ध्यान त्याग कर धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान का अभ्यास करती है । अल्पराम या वीतराम होकर प्रशान्त चित्त वाली होती है ।

उक्त अन्तिम तीन लेश्याएँ शुभ, शुभतर, शुभतम और शुद्ध होने से आत्मा की सुगति का कारण बनती हैं । इन परिणामों में रमण करते हुए आत्मा उत्थान करती है । उपर्युक्त परिणामों में विचरने वाला आत्मा तदनु रूप कर्मों का बन्ध करता और उन्हें भोगता है ।

लेश्याओं के दो प्रकार हैं—द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या । पदार्थों के शुभाशुभ वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और शब्द आदि से आत्मा में शुभाशुभ विचार उत्पन्न होते हैं । शुभ शब्द, वर्ण, रूप आदि को देखकर-सुनकर और गन्ध, स्पर्श को अनुभव करके आत्मा में राग दशा उत्पन्न होती है । यह वर्णादि आत्मा को अनुकूल लगते हैं और आत्मा उनमें आसक्त बनकर कर्मों में बन्ध जाती है । इसके विपरीत अशुभ वर्ण, गन्ध आदि वाले पदार्थों को देखकर और अनुभव करके उनके प्रति घृणा उत्पन्न होती है, द्वेष भाव जाग्रत होता है जिससे आत्मा अशुभ कर्मों से जकड़ जाती है । इस प्रकार ये भाव लेश्याएँ अर्थात् आत्मा के शुभाशुभ परिणाम कर्म-बन्ध के मूल कारण बनते हैं ।

### लेश्याओं का वैज्ञानिक विश्लेषण :

मुनि नथमलजी ने अपनी पुस्तक 'समाधि की खोज' प्रथम भाग के पृ. १५७ में लेश्या व कर्म सम्बन्धी जो विवेचन किया है वह लेश्या और कर्म-बन्ध का वैज्ञानिक विश्लेषण है । उन्होंने लिखा है, "जब लेश्या बदलती है तब परिवर्तन घटित होता है । जब मन में तेजो लेश्या और पद्म लेश्या के भाव आते हैं तब तेजस शरीर से स्राव होता है और वह हमारी ग्रन्थियों में आता है । वह सीधा रक्त के साथ मिल जाता है और अपना प्रभाव डालता है । इन अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के रस हमारे समूचे स्वभाव को प्रभावित करते हैं । व्यक्ति का चिड़-चिड़ा होना या प्रसन्न होना, क्रोधी होना या शान्त होना, ईष्यालु या उदार होना इन ग्रन्थियों के विभिन्न स्रावों पर निर्भर है । इस प्रकार एक जैविक एवं रासायनिक विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि हमारे शुभाशुभ परिणामों से किस प्रकार रासायनिक क्रियाएँ घटित होती हैं और किस प्रकार वे हमारे संवेगों को प्रभावित करती हैं ।

### कर्म की विभिन्न अवस्थाएँ एवं लेश्याओं के प्रभाव :

'ठाणांग' सूत्र में एक चतुर्भंगी है—(१) एक कर्म शुभ और उसका विपाक भी शुभ, (२) कर्म शुभ किन्तु विपाक अशुभ, (३) कर्म अशुभ परन्तु विपाक शुभ, (४) कर्म अशुभ और विपाक भी अशुभ । इस चतुर्भंगी को देखकर

कर्म सिद्धान्त की मान्यता वाले आश्चर्य करेंगे कि कर्म शुभ होते हुए विपाक अशुभ कैसे ? और कर्म अशुभ होते हुए विपाक शुभ कैसे ?

यहाँ कर्म की विभिन्न अवस्थाओं की जानकारी करा देना आवश्यक है जो लेश्याओं के फलस्वरूप उत्पन्न होती हैं। कर्म की मुख्य अवस्थाएँ ग्यारह हैं—(१) बन्ध, (२) सत्ता, (३) उद्वर्तन या उत्कर्ष, (४) अपवर्तन या अपकर्ष, (५) संक्रमण, (६) उदय, (७) उदीरणा, (८) उपशमन, (९) निधत्ति, (१०) निकाचित व (११) अबाधाकाल। इनमें उद्वर्तन, अपवर्तन एवं संक्रमण की महत्त्वपूर्ण अवस्थाएँ लेश्याओं का ही परिणाम हैं। जिस परिणाम विशेष से जीव कर्म प्रकृति को बाँधता है उनकी तीव्रता के कारण वह पूर्व बद्ध सजातीय प्रकृति के दलिकों को वर्तमान में बाँधने वाली प्रकृति के दलिकों में संक्रान्त कर देता है। बध्यमान कर्म में कर्मान्तर का प्रवेश इसी संक्रमण का कारण है जो कर्म के बन्ध और उदय में अन्तर उपस्थित कर देता है, उसे बदल देता है।

#### उद्वर्तन या उत्कर्ष :

आत्मा के साथ आबद्ध कर्म की स्थिति और अनुभाग या रस आत्मा के तत्कालीन परिणामों के अनुरूप होता है। परन्तु इसके पश्चात् की स्थिति विशेष अथवा भाव विशेष के कारण पूर्व बद्ध कर्म स्थिति और कर्म की तीव्रता में वृद्धि हो जाना उद्वर्तन है। लेश्या या आत्मा के परिणाम से पूर्वबद्ध स्थिति और रस अधिक तीव्र बना दिया जाता है।

#### अपवर्तन या अपकर्ष :

पूर्वबद्ध कर्म की स्थिति एवं अनुभाग को कालान्तर में नवीन कर्मबन्ध करते समय न्यून कर देना अपवर्तन है। यह आत्मा के नवीन बध्यमान कर्मों के समय के परिणामों में शुद्धता आने से घटित होता है। इस प्रकार कर्म अशुभ होते हुए विपाक शुभ हो जाता है। और कर्म शुभ होते हुए विपाक अशुभ हो जाता है। यह आत्मा का पुरुषार्थ ही है और उसकी प्रबल शुद्ध विचारधारा है जिससे आश्चर्यकारी परिवर्तन घटित होते हैं।

#### हमारा लक्ष्य अलेशी बनना :

जब तक लेश्याएँ हैं तब तक परिणामों की विविधता रहेगी, अतः साधक का लक्ष्य होता है कि वह अलेशी बन सके। यह स्थिति साधना और वैराग्य भाव से उत्पन्न हो सकती है। लेश्याओं का परिणामन शुभतर लेश्याओं में करने के लिये स्वाध्याय और ध्यान आवश्यक अंग हैं। समभाव में रमण करना, अनासक्त भावों से जीवन व्यवहार करना तथा इन पर नियन्त्रण का अभ्यास करते रहना भव्यात्माओं के लिये अलेशी बनने का मार्ग प्रशस्त कर सकता है और कर्म-बन्ध की परम्परा को सदा-सदा के लिये खत्म कर सकता है। और यही शाश्वत सुख का राजमार्ग है। □

कर्मों के शुभाशुभ फल को सामान्यतः विपाक कहा जाता है। मिथ्यात्व आदि के सेवन से प्राणी जो कुछ कार्य करता है, उसे कर्म कहते हैं। वे कर्म जब उदय में आते हैं, तब प्राणी को जो सुख-दुःख आदि भोगने पड़ते हैं, उसे कर्म विपाक कहा जाता है। शुभ कर्म का विपाक शुभ और अशुभ कर्म का विपाक अशुभ होता है।

कर्मों को बाँधने में जीव स्वतंत्र है। वह अपनी इच्छानुसार शुभ या अशुभ कर्मों का बंध कर सकता है। जीव की बिना इच्छा के कोई कर्म कभी अपने आप नहीं बंधता। जब भी जीव राग-द्वेष की आसक्ति से कोई कार्य करता है, तब उस आसक्ति के तारतम्य के अनुसार नये कर्म बंधते हैं। वे ही कर्म जब उदय में आते हैं, तब जीव को उन कर्मों के फल को भोगना ही पड़ता है। उससे वह किसी प्रकार छूट नहीं सकता। इसीलिये कहा गया है कि जीव कर्मों को बाधने में स्वतंत्र है, पर उनके फल को भोगने में परतंत्र है। बंधे हुए कर्म यदि निकाचित हों तो करोड़ों सागरोपम समय के व्यतीत हो जाने पर भी वह कर्म नष्ट नहीं होता। संसार की सभी वस्तुएं नाशवान हैं, पर मात्र कर्म की जड़ ही ऐसी है जो कभी सड़ती-गलती नहीं। उग्र तप-संयम के बल से ही इस जड़ को उखाड़ा जा सकता है।

हिंसा, असत्य, अचौर्य, अब्रह्मचर्य, परिग्रह आदि प्रत्येक पाप कर्म के विपाक का शास्त्रों में वर्णन है। पागलपन, कोढ़, अल्पायुष्य आदि हिंसा के भयानक विपाक हैं। यदि इस विपाक से बचना हो तो बिना प्रयोजन अस्थायर जीवों की हिंसा से बचना चाहिये।

खंधक मुनि के जीव ने अपने पूर्व भव में स्थावर जीव की विराघना में इतना रस लिया कि खंधक मुनि के भव में उनके जीवित शरीर की चमड़ी उतारी गई। वे तो आत्मध्यान की उच्चतम भूमि पर पहुँचे हुए थे, अतः उन्होंने उदय में आये हुए कर्मफल को समभाव से भोग लिया और मोक्ष पद को प्राप्त कर लिया। किन्तु उदयकाल में समताभाव को रखना आसान नहीं है। जिनको यह स्पष्ट ज्ञान हो गया है कि आत्मा शरीर से भिन्न है, वे ही ऐसे कठिन समय में समभाव को कायम रख सकते हैं।

पाप कर्म कितना भी मामूली क्यों न हो पर उसमें रस की तीव्रता से उसका विपाक कितना दारुण होता है, यह खंडक मुनि के उदाहरण से ज्ञात होता है। पाप कर्म तो करना ही नहीं चाहिये पर यदि प्रमादवश वैसा आचरण हो भी जाय तो उसमें रसासक्ति कतई नहीं होनी चाहिये।

गूंगापन, मुखरोग, समझ में न आने वाली भाषा बोलना आदि असत्य भाषण के विपाक हैं। वसुराजा असत्य भाषण के पाप से नरक में गये। बात-बात में झूठ बोलने वाले, झूठी गवाही देने वाले, झूठे दस्तावेज बनाने वाले, झूठी बहियें लिखने वाले नरक निगोद के दुःख को प्राप्त करते हैं। असत्य भाषण महान् पाप का कारण है, इससे जीव सुकृत के फल को भी हार जाता है।

दुर्भाग्य, दरिद्रता, गुलामी आदि चौर्य कर्म के फल हैं। चोरी करने वाले इस जन्म में तो लाठी, घूँसे आदि खाते ही हैं, राज्य दंड स्वरूप जेल भी भुगतते ही हैं, किन्तु परभव में नरक आदि की घोर वेदना को प्राप्त करते हैं। व्यापार में अनीति का आचरण, स्मर्गलिंग द्वारा एक देश से दूसरे देश में माल लाना-ले जाना, ऐसे माल का क्रय-विक्रय, अच्छी वस्तु में बुरी वस्तु की मिलावट करना, अत्यधिक भाव बताना, माप-तौल में कम देना, ज्यादा लेना आदि सभी प्रकार के कार्य चोरी हैं। नीति और न्याय द्वारा किया गया विक्रय ही व्यापार है, अन्य सब तो दिन-दहाड़े लूटना है। बहुत से लोग यह दलील करते हैं कि न्याय-नीति से चलेंगे तो पेट ही नहीं भरेगा, परन्तु उनकी यह दलील थोथी है। नीति से पेट तो अवश्य भर जाता है, हाँ पेटी नहीं भरी जा सकती। पाप का मूल पेट नहीं है, लोभ ही पाप का मूल है। पेट की भूख से धन की भूख बहुत भयंकर है। लाखों, करोड़ों की सम्पत्ति हो जाने पर भी धन की भूख नहीं मिटती। शास्त्रों में इच्छा को आकाश के समान अनन्त कहा है। इच्छाओं का अन्त हो जाय तो दुःख का भी अन्त हो सकता है। सन्तोष से इच्छाओं का निरोध हो सकता है। लोभ पाप का मूल है तो सन्तोष धर्म का फल है।

नपुंसकता, दुर्भाग्य, तिर्यंच गति (पशु-पक्षी योनि) आदि अब्रह्मचर्य के फल हैं। असंतोष, अविश्वास, महारंभ आदि मूर्खारूपी परिग्रह के कट्ट फल हैं। परिग्रह परिमाण से अनेकों पाप रुक जाते हैं और जीवन में अनुपम शांति का अनुभव होता है। स्वपत्नी संतोष और परिग्रह-परिमाण ये दोनों नीतियुक्त जीवन की आधारशिला हैं। इनके पालन के बिना जब मनुष्य नैतिक जीवन भी नहीं जी सकता तब धर्म सिद्धि की तो बात करना ही व्यर्थ है। जैसे कुपथ्य का सेवन करने वाले पर औषधि का कोई प्रभाव नहीं होता उसी तरह अधिक

तृष्णाग्रस्त व्यक्ति के सभी तप, जप, ध्यान, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि व्यर्थ हो जाते हैं ।

एक बार आचरित सामान्य पाप कर्म का कम से कम फल दस गुणा हो जाता है और यदि उसे तीव्र रस के साथ आचरित किया गया हो तो उसका विपाक करोड़ गुणा हो जाता है । अनंतानुबन्धी कषाय के तीव्र उदय में कभी-कभी अंतर्मुहूर्त के समय में भी ऐसा कठिन कर्म बंध हो जाता है कि जीव को उसके फल को अनेक जन्मों तक भोगना पड़ता है । कई बार व्यक्ति की क्षण मात्र की भूल अनन्त संसार को बढ़ा देती है । अतः कर्म बांधते समय व्यक्ति को अत्यधिक सावधान रहना चाहिये ।

अपने कुटुम्बियों के लिए अथवा अन्य किसी के लिये किये गए कर्मों का फल उदय में आने पर मात्र कर्ता को ही भोगना पड़ता है । कर्मों के कठिन विपाक भोगने के समय जीव अकेला हो जाता है । उस समय कुटुम्बियों में से कोई भी न तो उस विपत्ति से रक्षा करने में समर्थ हो सकता है और न ही दुःख में हिस्सा ही बँटा सकता है । हँसते-हँसते बाँधे गये कर्मों को उदय में आने पर रोते-रोते भोगना पड़ता है । कभी-कभी तो निकाचित बंधे हुए ये कर्म किसी भी प्रकार से नहीं छूटते । त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में भगवान् महावीर के जीव ने शयन कक्ष के द्वारपाल के कानों में तपा हुआ शीशा डलवाया था, उसी जीव ने अपने २५वें नन्दन ऋषि के जन्म में ८० हजार से अधिक मासक्षमण के तप किये फिर भी त्रिपृष्ठ के जन्म में किये गये कर्म की सत्ता रह ही गई और महावीर के भव में गवाले द्वारा उनके कानों में कीलें ठोकी गई ।

इस जन्म में या अन्य किसी भी जन्म में किये गये कर्म फल कब उदय में आयेंगे, यह हम नहीं जान सकते, अनन्तज्ञानी ही इसे जान सकते हैं । पर यह तो निश्चित ही है कि अपना अबाधाकाल पूरा होने पर बँधे हुए कर्म अवश्य ही उदय में आते हैं और जीव को उन्हें भोगना ही पड़ता है । इतना तो प्रायः सभी जानते हैं कि कुछ अति उग्र पुण्य-पाप के फल जीव को वर्तमान जन्म में भी भोगने पड़ते हैं । हमारे पूर्व महापुरुषों ने अशुभ के उदयकाल में जिस धैर्य और समभाव को कायम रखा, वह वास्तव में विचारणीय है । हम तो सामान्य उदयकाल में भी हिम्मत हार जाते हैं । यदि हमें यह बात समझ में आ जाय कि हमारे स्वयं के द्वारा बाँधे गये कर्म जब उदय में आते हैं तब उन्हें स्वयं हमें ही भोगना पड़ता है, तो कैसे भी शुभ या अशुभ कर्म के उदयकाल में समभाव बना रह सकता है । समभाव पूर्वक भोगे गये कर्म विपाक के द्वारा अशुभ कर्म के उदयकाल में भी जीव महान् निर्जरा को सिद्ध कर सकता है । अशुभ के उदय काल में यदि समभाव बना रह सके तो शुभ के उदय से भी अधिक निर्जरा

प्राप्त हो सकती है। जो व्यक्ति शुभ कर्म के उदय के समय नम्रता और अशुभ कर्म के उदय के समय समभाव को बनाये रख सके, उसका बेड़ा पार है।

सम्पूर्ण कर्मग्रंथ का सार भी यही है कि कैसे भी अशुभ कर्म के उदयकाल में अन्य किसी पर दोषारोपण न करते हुए उदय में आये हुए कर्म विपाक को समता भाव से भोग लेना। कर्म सत्ता का न्याय सब के लिए समान है। यदि जीव कर्म बांधने के समय सावधान हो जाय तो कर्मसत्ता का कोई नियम उसको प्रभावित नहीं कर सकता। उदयकाल में हाय-हाय करने से तो दुगुणी सजा भोगनी पड़ती है। क्योंकि उदय में आये हुए कर्म विपाक के साथ आर्त्तंघ्यान का सम्मिलन हो जाने से अनेक नये कर्म बंध जाते हैं। अज्ञानी के कर्म क्षय का क्या मूल्य है? वास्तविक निर्जरा तो ज्ञानी ही कर सकता है। कर्म के विपाक को समभाव पूर्वक भोग लेने से ज्ञानी को सकाम निर्जरा होती है, जबकि अज्ञानी को अकाम निर्जरा होती है। अकाम निर्जरा में बंध अधिक और निर्जरा कम होती है, जबकि सकाम निर्जरा में निर्जरा (कर्मक्षय) अधिक होती है।

ज्ञानी सम्यक्दृष्टि आत्मा अनेक जन्मों के संचित कर्मों को सम्यक् ज्ञान रूपी अग्नि में जलाकर भस्म कर देता है। इसीलिये ज्ञानी को नये कर्म नहीं बंधते, यदि बंधते हैं तो भी बहुत ही अल्प मात्रा में बंधते हैं। इस प्रकार ज्ञानी अपनी शृंखला से धीरे-धीरे मुक्त होता जाता है और एक समय ऐसा आता है जब वह अपने सम्पूर्ण कर्मों से मुक्त होकर सिद्ध बुद्ध हो जाता है।

जीव जो कर्म विपाक भोगता है, वह उन-उन कर्मों के उदय में आने पर भोगता है। प्रत्येक कर्म अपने-अपने स्वभाव के अनुसार फल-विपाक देते हैं। ज्ञानावरणीय कर्म के उदयकाल में जीव का ज्ञान गुण आवरित हो जाता है, जिससे वह कुछ भी लिख पढ़ नहीं सकता। इसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म का उदय जीव के दर्शन गुण (देखने की शक्ति) को ढँक देता है। वेदनीय कर्म सुख-दुःख का अनुभव करता है। इसके उदय में सुख के साधन विद्यमान होने पर भी जीव सुख का अनुभव नहीं कर सकता। कोई भी कर्म अन्य कर्म के स्वभावानुसार विपाक न देकर स्वयं अपने स्वभाव के अनुसार ही कर्म फल देता है। सामान्यतः कर्मफल को भोगने में मुख्य हेतु उस कर्म का उदय काल ही होता है, पर द्रव्य, क्षेत्र आदि बाह्य सामग्री भी उसके भोग को प्रभावित करती है। जैसे किसी को गाली देने से अशुभ भाषा के पुद्गल कषाय के उदय का कारण बनते हैं और अयोग्य आहार शारीरिक अशान्ति के उदय का कारण बनता है।

जीव स्वयं अज्ञान से कर्म बंध करता है, अतः उनके अच्छे या बुरे फल को भी उसे स्वयं ही भोगना पड़ता है। बाह्य सामग्री भी उसमें कारणभूत

बनती है। शुभ के उदयकाल में स्वतः ही शुभ संयोग प्राप्त हो जाते हैं और अशुभ के उदयकाल में अशुभ संयोग खड़े हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में यदि ज्ञान दृष्टि से गहन विचार किया जाय तो हर्ष और शोक अपने आप लुप्त हो जाते हैं। उदयकाल को समभाव से भोगने में ही जीव का वीरत्व है। बाँधने में बहादुरी दिखाना और भोगने में कमजोरी दिखाना ही जीव की कायरता है। उदयकाल में ही वीरत्व की आवश्यकता है, बंधकाल में तो मात्र इतनी सावधानी की आवश्यकता है कि नये कर्म न बंध जायँ।

दुःखं प्राप्य न दीनः स्यात्, सुखं प्राप्य च विस्मितः ।

मुनिः कर्मविपाकस्य, जानन् परवशं जगत् ॥

सम्पूर्ण जगत् कर्म विपाक के अधीन है, यह जानकर मुनि दुःख में न दीन बनते हैं और न सुख में विस्मित होते हैं। सुख-दुःख में समभाव पूर्वक रहना ही सच्ची जीवन साधना है। सुख में उन्मत्त होना और दुःख में निराश होना ही अज्ञान है। स्वयं द्वारा किये गये कर्म के फल को भोगने के समय दीनता क्यों? ज्ञानी तो यही सोचता है कि कर्म बाँधते समय जब मैंने विचार नहीं किया, तब उसके फल को भोगने के समय दीनता क्यों दिखाऊँ? ऐसे ज्ञानी कर्म विपाक के अधीन नहीं रहते, किन्तु ऐसे ज्ञानी बिरले ही होते हैं, इसीलिये सारे जगत् को कर्म विपाक के अधीन कहा गया है।

ज्ञानी तो शुभ के उदय में भी विस्मित नहीं होता। वह तो जानता है कि तत्त्व दृष्टि से शुभ और अशुभ दोनों आत्मा को ढँकने वाले हैं। सूर्य काले बादलों में छिपे या सफेद बादलों में, उसके प्रकाश की मन्दता के तारतम्य में अवश्य अन्तर आता है, पर आखिर वह बादलों के पीछे छिपता तो है ही। इसी प्रकार शुभ और अशुभ दोनों आत्मा के गुणों को ढँकने वाले होने से अन्ततः त्याज्य ही हैं। साधक दशा में भले ही शुभ आदरणीय रहे, पर मोक्ष तो दोनों के क्षय से ही होगा। इसीलिये ज्ञानी शुभ या अशुभ किसी भी कर्म विपाक के अधीन नहीं रहते। वे तो मात्र तत्त्वचिंतन का पुरुषार्थ करते हैं और ऐसे ज्ञानी निश्चय ही परमार्थ को सिद्ध करते हैं।

कर्म विपाक कितना भी शक्ति सम्पन्न क्यों न हो, यदि जीव अपने पुरुषार्थ को जागृत करे तो वह अवश्य कर्म क्षय कर सकता है। कर्म बलवान है तो क्या हुआ? आखिर तो वह जड़ पुद्गल होने से अंधा ही है, जबकि जीव चेतना युक्त होने से दृष्टि वाला है। अंधे से दृष्टिवाला कैसे हार सकता है? यदि जीव सच्चे मार्ग से पुरुषार्थ करे तो वह अवश्य कर्म सत्ता पर विजय प्राप्त कर सकता है। जीव वास्तव में अपने स्वरूप को नहीं जानता इसीलिये कर्म

सत्ता उस पर अपना वर्चस्व जमा लेती है और जीव ऐसा समझने लगता है मानो उसने अपना वर्चस्व खो दिया हो ।

**उपशम और क्षपक श्रेणी :**

आरुढाः प्रशमश्रेणि, श्रुतकेवलिनोऽपि च ।  
आम्यन्तेऽग्रनन्तसंसारमहो ! दुष्टेन कर्मणा ॥

ग्यारहवें गुणस्थान उपशम श्रेणी पर चढ़े हुए श्रुतकेवली जैसे महापुरुष को भी यह दुष्ट कर्मसत्ता अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण करवाती है । प्रमादवश चौदह पूर्वधारी महापुरुष भी अनन्तकाल तक भ्रमण करते हैं । इससे स्पष्ट समझा जा सकता है कि कर्म का विपाक बड़े से बड़े व्यक्ति को भी भोगना पड़ता है । 'कर्म को शर्म नहीं' यह कहावत यहां चरितार्थ होती है ।

श्रेणी दो प्रकार की है, क्षपक श्रेणी और उपशम श्रेणी । आत्मा की उन्नति के क्रमशः चढ़ते हुए सोपानों को दर्शन की भाषा में चौदह गुणस्थान कहा गया है । आत्मा के अध्यवसायों की उत्तरोत्तर होने वाली विशुद्धि को श्रेणी कहा जाता है । आठवें गुणस्थान से जीव श्रेणी पर चढ़ना प्रारम्भ करता है । उपशम श्रेणी पर चढ़ने वाली आत्मा मोहनीय कर्म की प्रकृतियों को उपशान्त करती जाती है, जबकि क्षपक श्रेणी पर चढ़ने वाली आत्मा उनका क्षय करती जाती है । आत्मा के विशुद्ध अध्यवसाय ही उसे श्रेणी पर चढ़ाते हैं । ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की आराधना से आत्मा में ऐसे शुभ अध्यवसाय उत्पन्न होते हैं । उपशम श्रेणी की अपेक्षा क्षपक श्रेणी अधिक विशुद्ध होती है ।

क्षपक श्रेणी पर चढ़ी हुई आत्मा आठवें गुणस्थान से नौवें और नौवें से दशवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान पर आती है । दसवें से वह लोभ के अंशों को क्षय कर सीधे बारहवें गुणस्थान पर चली जाती है । क्षपक श्रेणी वाला ग्यारहवें गुणस्थान पर नहीं जाता । उपशम श्रेणी वाला ही ग्यारहवें गुणस्थान पर जाता है । बारहवें गुणस्थान को क्षीणमोह गुणस्थान कहते हैं । यहां पहुँचकर आत्मा इतनी विकसित हो जाती है कि वह मोहनीय कर्म को सदा के लिए समूल नष्ट कर देती है । मोहनीय कर्म का क्षय होते ही ज्ञानावरणीय आदि अन्य घाती कर्म भी नष्ट हो जाते हैं और तेरहवें गुणस्थान पर पहुँचकर केवलज्ञान प्रकट हो जाता है ।

उपशम श्रेणी पर चढ़ने वाली आत्मा बारहवें गुणस्थान पर नहीं जाती, वह ११वें उपशांतमोह गुणस्थान पर ही जाती है । इस गुणस्थान पर मोहनीय कर्म का उदय तो थोड़ा भी नहीं रहता, पर वह सत्ता में अवश्य रहता है । इस गुणस्थान पर चढ़ने वाले निश्चय ही एक बार फिर नीचे गिरते हैं । इस गुणस्थान को प्राप्त मुनि की यदि आयुष्य पूर्ण होने से मृत्यु हो जाय तो वह सर्वार्थ सिद्ध



आदि पाँच अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होता है। किन्तु इस गुणस्थान के अन्त-मुहूर्त का काल समाप्त होने पर यदि उसकी मृत्यु हो तो वह मिथ्यात्व गुणस्थान तक भी गिर सकता है। इस गुणस्थान को प्राप्त करने वाले कई चरमशरीरी भी होते हैं। ऐसे जीव ११वें गुणस्थान से गिरकर ७वें पर आते हैं और फिर क्षपक श्रेणी प्रारम्भ करते हैं। जिन्होंने मात्र एक बार ही उपशम श्रेणी की हो, वे ही जीव दूसरी बार क्षपक श्रेणी कर सकते हैं।

क्षपक श्रेणी पर चढ़ने वाली आत्मा का सामर्थ्य अद्भुत होता है। उस की ध्यानाग्नि अत्यन्त जाज्वल्यमान होती है, जिसमें कर्मरूपी काष्ठ जलकर भस्म हो जाते हैं। आचार्य उमास्वाति ने 'प्रशमरति' शास्त्र में कहा है—

क्षपकश्रेणिमुपरिगतः, स समर्थसर्वकर्मिणां कर्म ।  
क्षपयितुमेको यदि कर्मसंक्रमः, स्यात् परकृतस्य ॥

क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ आत्मा की ध्यानाग्नि इतनी प्रखर होती है कि यदि दूसरे जीवों के कर्मों का उसमें संक्रमण हो सकता हो तो वह अकेला सब जीवों के कर्मों के क्षय करने में समर्थ हो सकता है। किन्तु कर्म का तो नियम ही ऐसा है कि जो बांधता है वही उसे भोगता है। यदि ऐसा न हो तो कर्म सिद्धान्त में सब गड़बड़ घोटाला हो जाय और द्रव्य की स्वतंत्रता ही लुप्त हो जाय। अतः यह निश्चित ही है कि कर्ता ही भोक्ता होता है।

क्षपक श्रेणी में कषाय मोहनीय आदि कर्म प्रकृतियों का क्षय होता है, अतः इस पर आरूढ़ आत्मा का कभी पतन नहीं होता, जबकि उपशम श्रेणी में तो इन कर्म प्रकृतियों का उपशम होता है (दब जाती हैं), इसीलिये ११वें गुणस्थान से जीव निश्चय ही नीचे गिरता है। इस गुणस्थान पर कर्म प्रकृतियाँ दब जाती हैं, पर सत्ता में तो रहती ही हैं, अतः उनका उदय होने पर जीव नीचे गिरता है। इससे कर्मसत्ता के सामर्थ्य का पता लगता है। अपने स्वरूप में अत्यन्त जागृत आत्मा ही कर्मसत्ता से टक्कर ले सकती है। राख से दबी हुई अग्नि कभी न कभी तो निमित्त पाकर भड़क ही उठती है, इसी प्रकार दबे हुए कर्म भी ऐसे भड़कते हैं कि चढ़ती हुई आत्मा को भी गिरा देते हैं। विष बेल की जड़ यदि गहरी जायेगी तो उससे क्या लाभ होगा? इसी प्रकार दोषों की जड़ यदि गहरी जायेगी तो उससे आत्मा को हानि ही होगी। जैसे आँख में गिरा हुआ एक छोटा सा रेत का कण जब तक नहीं निकलता तब तक चुभता रहता है, वैसे ही हमारे दोष हमें प्रतिपल चुभते रहना चाहिये। बाह्य शत्रुओं से होने वाली हानि से तो हम सदा सावधान रहते हैं, किन्तु हमारे आन्तरिक शत्रु कषायों से इससे भी अधिक सावधान रहने की आवश्यकता है। बाह्य शत्रु तो अधिक से अधिक एक जन्म ही बिगाड़ेंगे किन्तु कषाय रूपी अंतरंग शत्रु तो जन्म-

जन्मान्तरों को बिगाड़ देते हैं। उपशम श्रेणी पर आरूढ़ जीव को भी ये दुष्ट कर्म अनन्त काल तक संसार में भटकाते हैं।

कर्म विपाक का सीधा सादा अर्थ यह है कि संसार में जो पग-पग पर विषमता दिखाई देती है, वह सब कर्म द्वारा ही उत्पन्न की गई है। एक उत्तम कुल में तो दूसरा अधम कुल में उत्पन्न होता है; एक ज्ञानी, दूसरा अज्ञानी; एक दीर्घ आयुष्य वाला, दूसरा अल्प आयुवाला; एक बलवान, दूसरा निर्बल; एक ऐश्वर्यवान, दूसरा निर्धन; एक रोगी, दूसरा निरोगी; इन सभी कर्मजन्य विषमताओं पर विचार करने पर ज्ञानी व्यक्ति को संसार से वैराग्य उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकता।

कर्म विपाक के फलस्वरूप दंड प्राप्त करने पर ऐसा सोचना कि हम से कर्म हमारे पाप का बदला ले रहा है, गलत धारणा है। हम अपने पाप कर्म द्वारा ही दंड प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार पुण्य कर्म का उपभोग करते समय ऐसी सोचना कि हमारे अच्छे कार्यों के बदले में कर्मसत्ता हमें सुख दे रही है, भी गलत है। अच्छे कार्य स्वयं ही हमें सुखानुभाव कराते हैं। दंड या पुरस्कार अथवा सुख या दुःख हमारी वृत्ति के ही परिणाम हैं। हमारी वृत्ति या चारित्र्य हमारी इच्छाओं का ही एकत्रित स्वरूप है। इच्छा ही कर्म को प्रेरक सत्ता है और इच्छा या वासना द्वारा ही हम अपने भावी जीवन को निश्चित करते हैं। अतः हमारी इच्छा के विरुद्ध हमारा भविष्य निर्मित नहीं हो सकता।

अनेक सुख-दुःखों को भोगने के बाद ही आत्मा में वासना के दुःखद परिणाम को समझने की निर्मल विवेक दृष्टि जागृत होती है। फिर वह उच्च जीवन की ओर आकर्षित होती है। अपने हृदय के ऊर्ध्वगामी वेग में वह अपनी गति मिला देती है। आत्मा की स्वाभाविक गति अग्निशिखा की भांति ऊर्ध्वगामिनि है, अतः यह सब समझने के बाद वह अपनी स्वाभाविक गति को उचित दिशा में मुक्त कर देती है।

आत्मा की इच्छा के बिना कोई भी सत्ता उसे तिलमात्र भी इधर-उधर नहीं कर सकती। जीव अपनी इच्छा से ही नया जन्म पाता है। इस नये जन्म के संयोग, परिवार, सगे-सम्बन्धी भी उसकी इच्छानुसार ही मिलते हैं। उसकी अतृप्त वासना जहां वैसे संयोग जुटा सके, वैसे स्थान में ही वह जन्म लेती है। यह सत्य है कि इन इच्छाओं या वासनाओं को आत्मा समझपूर्वक नहीं बनाती, वे सब उसके अन्तःकरण में अव्यक्त रूप से होती हैं।

जिनमें बहुत उत्कृष्ट कला में विकसित आत्मभान होता है, वैसी आत्माएँ अपना पुनर्भाव दृढ़संकल्प से निश्चय करती हैं, क्योंकि उन्हें यह भान होता है कि

उनकी इच्छाएँ किस दिशा में गति कर रही हैं। जिन-जिन इच्छाओं के द्वारा हमें संसार में आना पड़ता है, वे सभी अशुभ नहीं होतीं। कितनी ही इच्छाएँ तो ऐसी उत्तम और भव्य होती हैं कि उनका विषय प्राप्त हो जाने के बाद जीवात्मा अपना स्वरूप ईश्वरत्व में परिणित करने में समर्थ बन जाती है।

यह सब कर्मराज द्वारा रचित नाटक है, जिसमें चौरासी प्रकार के रंग-मंडप हैं और यह जीवात्मा विविध प्रकार के पात्रों के रूप धारण कर इसमें खेल रहा है। कर्मराज के इस नाटक का सम्पूर्ण वर्णन करने में हम असमर्थ हैं। सद्गुरु के समागम से कर्म के स्वरूप और कर्म विपाक को समझ कर जो जीवात्मा कर्म निर्जरा के लिये प्रबल पुरुषार्थ करता है, वह अन्त में इस संसार सागर को पार कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।

## करम को अंग

करमां की बेड़ी बणी, सबही जग कै मांय ।  
 रामदास भाड़ी सजड़, मोह कि भाट लगाय ॥१॥

रामा राम न जानियो, रह्या करम में फँस ।  
 करम कुटी में जग जलया, काल गया सब डंस ॥२॥

करम कूप में जग पड्या, डूबा सब संसार ।  
 रामदास से नीस्र्या, सतगुरु सबद विचार ॥३॥

रामा काया खेत में, करसा एको मन्न ।  
 पाप पुन में बंध रह्या, भरया करम सू तन्न ॥४॥

करम जाल में रामदास, बंध्या सब ही जीव ।  
 आसपास में पच मुवा, बिसर गया निज पीव ॥५॥

करम लपेट्या जीव कूं, भावै ज्यूँ समभाय ।  
 रामदास आंकर बिन, कारी लगे न काय ॥६॥

—स्वामी रामदास

सूर्य स्वयं प्रकाशमान होता है, उसे अपने प्रकाश के लिये किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं होती। फिर जिस आत्म तत्त्व को सूर्य से भी अधिक तेजस्वी माना गया है, आखिर उसी की चेतना इतनी चंचल और अस्थिर क्यों बन जाती है ?

निज स्वरूप को विस्मृत कर देने के कारण ही चेतना शक्ति संज्ञाहीनता से दुर्बल हो जाती है। उसका कितना अमित सामर्थ्य है—उस को भी वह भूल जाती है। वह क्यों भूल जाती है ? कारण, वह अपने मूल से उखड़ कर अपनी सीमाओं और मर्यादाओं से बाहर भटक जाती है और उन तत्त्वों के वशीभूत हो जाती है, जिन तत्त्वों पर उसे शासन करना चाहिये। यह परतन्त्रता आत्म-विस्मृति से अधिकाधिक जटिल होती चली जाती है। जितनी अधिक परतन्त्रता, उतनी ही अधिक ग्रंथियाँ मन को जकड़ती रहती हैं। जितनी अधिक ग्रंथियाँ, उतना ही मन बंधनग्रस्त होता चला जाता है। इसलिए दृष्टि का विकास करना है और चेतना को सुलझाना है तो अन्तर्मन की सारी ग्रंथियाँ खोल लीजिये।

विषमता की प्रतीक स्वरूप विभिन्न ग्रंथियाँ मानव-मन में मजबूती से बंध जाती हैं और विचारों के सहज प्रवाह को जकड़ लेती हैं। जब तक इन ग्रंथियों को खोल न सकें, तब तक आन्तरिक विषमता समाप्त नहीं होती और आन्तरिक विषमता रहेगी तो बाह्य विषमता के नानाविध रूप फूलते-फूलते रहेंगे एवं दुःख-द्वन्द्वों की ज्वाला जलती रहेगी। व्यक्ति-व्यक्ति की इन आन्तरिक ग्रंथियों को खोले बिना चाहे हजार-हजार प्रयत्न किये जायें या आन्दोलन चलाए जाएं, बाहर की राजनैतिक, आर्थिक अथवा अन्य समस्याएं सन्तोषजनक रीति से सुलझाई नहीं जा सकेंगी। मन सुलभ जाय तो फिर वाणी और कर्म के सुलभ जाने में अधिक विलम्ब नहीं लगेगा।

\*श्री शान्तिचन्द्र मेहता द्वारा सम्पादित प्रवचन।

अधिकांश अवसरों पर यही विडम्बना सामने आई है कि आन्तरिक उलझनों के कारणों को समझे बिना बाहर की समस्याओं के समाधान खोजने में विफलता का सामना करना पड़ता है। इतिहास साक्षी है कि इस दिशा में कैसे-कैसे प्रयत्नों के साथ क्या-क्या परिणाम सामने आये हैं? सत्य तो यह है कि ये प्रयत्न समता की अपेक्षा विषमता के मार्ग पर ही अधिक चले और असफल होते रहे। इन्हीं उलझनों के कारण मानव जाति के बीच अशान्ति की ज्वाला भी धूँ-धूँ करके जलती रही है। आध्यात्मिकता के अनुशासन के बिना भौतिक विज्ञान के विकास ने भी आज के मानव को आत्म-विस्मृत बना दिया है। इस भावना शून्य भौतिक विकास ने मानव मन में उहड़ महत्त्वाकांक्षाओं को जन्म दिया है तथा आत्मा की आन्तरिकता पर आवरणों की अधिक परतें चढ़ा दी हैं। इस कारण मनुष्य अपनी अन्तरात्मा के स्वरूप से बाहर ही बाहर भटकते रहने को विवश हो गया है। विषमता सभी सीमाएं तोड़ रही है—यह स्थिति समता दर्शन के लिए प्रबल प्रेरक मानी जानी चाहिए।

**बस, मूल की भूल को पकड़ लें :**

आदि युग में प्रधानतया इस चेतना के दो परिणाम आत्म-पर्यायों की दृष्टि से सामने आये हैं। एक पशु जगत् का तो दूसरा मनुष्य जगत् का। पशु जगत् अब भी उसी पाशविक दशा में है जबकि मानव जगत् ने कई दिशाओं में उन्नति की है। आकाश के ग्रहों-उपग्रहों को छू लेने के उसके प्रयास उसकी चेतना शक्ति के विकास के प्रतिफल के रूप में देखे जा सकते हैं किन्तु वस्तुतः उसकी ऐसी चेतना शक्ति एवं उसकी विकास-गति पर-तत्त्वों के सहारे चल रही है—स्वाश्रयी या स्वतन्त्र नहीं है। चेतना शक्ति के इस प्रकार के विकास ने अपनी ही सार्वभौम सत्ता को जड़ तत्त्व के अधीन गिरवी रख दी है। अधिकांश मानव मस्तिष्क जड़ तत्त्वों की अधीनता में—उनकी एक छत्र सत्ता में अपने आपको आरोपित करके चल रहे हैं। यही तथ्य है जिससे समस्याएं दिन-प्रति-दिन जटिलतर बनती जा रही हैं। यद्यपि अलग-अलग स्थलों पर समता भाव के सदृश समाजवाद, साम्यवाद आदि विचार सामने आये हैं जो अधिकतम जनता के अधिकतम सुख को प्रेरित करने की बात कहते हैं किन्तु इन विचारों की पहुँच भी भीतर में नहीं है। बिना आत्मावलोकन किये तथा भीतर की ग्रंथियों को खोले—बाहर की समस्याओं का समाधान संभव नहीं है। समता दर्शन की दृष्टि से यह सब मूल की भूल को पकड़ पाने के कारण दुरुह हो रहा है।

वर्तमान संसार में अधिकांशतः जो कुछ हो रहा है, वह बाहर ही बाहर हो रहा है। उसमें भीतर की खोज नहीं है। जहाँ तक मैं सोचता हूँ, मेरी दृष्टि में ऐसे सारे प्रयत्न मूल में भूल के साथ हो रहे हैं। मूल को छोड़कर यदि केवल शाखा-प्रशाखाओं को थामकर रखा जाय तो वैसी पकड़ भ्रामक भी होगी तो

निष्फल भी । इसे ही मूल की भूल कहते हैं क्योंकि मूल पर पकड़ न रहने से आगे की गति में भूलें हो भूलें होती रहती हैं तथा धीरे-धीरे आत्म विस्मृति के कारण उन्हें परख लेने की क्षमता भी क्षीण होती चली जाती है । इसलिये प्रारम्भ से ही मूल की भूलों को नहीं पकड़ेंगे और उन्हें नहीं सुधारेंगे तो सिर्फ टहनियों और पत्तों को संवारने से पेड़ को हरा-भरा नहीं रख पायेंगे ।

इस मूल की भूल को ठीक से समझ लेने की आवश्यकता है । वस्तुतः आज लक्ष्य की ही भ्रान्ति है । आज अधिकांश लोगों ने जो मुख्य लक्ष्य बना रखा है वह शायद यह है कि अधिकाधिक सत्ता और सम्पत्ति पर हमारा ही आधिपत्य स्थापित हो । ममताभरी ऐसी लालसा उनके मन में तेजी से उमड़ती-धुमड़ती है । सत्ता और सम्पत्ति—ये बाहरी तत्त्व हैं जो आन्तरिक शक्ति को उजागर बनाने में बाधा रूप ही हैं । जब चेतना बाधाओं को झोली में समेटती जाय तो यह मूल की भूल हुई कि नहीं ? बाधाओं को हटाने के लिये गति दी जाती है, उन्हें समेटने के लिए नहीं । उससे तो दुर्गति होती है । अगर मूल की भूल पकड़लें कि ममता-मन को बिगाड़ती है और समता सुधारती है तो ममता के नानोबानों में नहीं उलझेंगे । आत्माभिमुखी बनकर ही मनुष्य अपने बाहरी जगत् के कर्त्तव्यों का भी सही निर्धारण कर सकता है क्योंकि उस निर्धारण में संसार के सभी प्राणियों के प्रति समता-भाव का अस्तित्व होता है । मूल में समता रहेगी तो मूल को देखकर बाद की किसी भूल को सुधारना सरल हो जायगा ।

**शक्ति के नियंत्रण से ही उसका सदुपयोग :**

चैतन्य प्राणियों में शक्ति का प्रवाह तो निरन्तर बह रहा है जिसमें दोनों प्रकार की शक्तियाँ—भौतिक एवं आध्यात्मिक सम्मिलित हैं । दोनों प्रकार की इन प्रवहमान शक्तियों को बांधकर जीवन विकास की दिशा में उनका पूरा सदुपयोग किया जा सकता है । वर्षा का खुला पानी चारों ओर बिखर कर बरबाद हो जाता है मगर यदि उसी पानी को—नदियों या नालों को रोक कर बांध लें और बांध बनालें तो उस बंधे हुए पानी का कई रीतियों से मानव समाज अपने लिए सदुपयोग कर सकता है । शक्ति बिखर जाती है तो टूट जाती है और शक्ति बंध जाती है तो सुख का साधन हो जाती है ।

यहाँ प्रश्न शक्ति के नियंत्रण एवं उसके सदुपयोग का ही है ताकि वह शक्ति सच्चा विकास सम्पादित करा सके । चेतना—शक्ति के लिये भी यही प्रश्न है । पर—तत्त्वों के पीछे भागते रहने से तथा विषमताओं में ग्रस्त हो जाने से चेतना शक्ति लुजपुंज हो रही है और बिखर रही है—इस कारण प्रभावहीन हो रही है—निरुपयोगी बन रही है । मूल की भूल को पकड़ कर यदि चेतना शक्ति

सच्चे अर्थ में योग्य द्रष्टा बन जाय तो उसकी शक्ति नियंत्रित भी हो जायेगी और एकरूप भी बन जावेगी । तब उसकी प्रभाविकता एवं उपयोगिता अपरिमित हो जायेगी । अनियंत्रित मन भटकाव में हजार जगहों पर उलभता है तो हजार तरह को गांठें बांध लेता है । यदि दृष्टि समर्थ बन जाय तो मन का नियन्त्रण भी सहज हो जायेगा क्योंकि समता के समागम से समर्थ दृष्टि द्रष्टा को भी योग्य बना देगी । वह द्रष्टा तब जड़ तत्त्वों की अधीनता छोड़ देगा । और स्वयं उनका भी और निजका भी कुशल नियंत्रक बन जायेगा । मानव मन बदला तो समझिये कि व्यक्ति-व्यक्ति में यह क्षुभ परिवर्तन चल निकलेगा जो समाज, राष्ट्र एवं विश्व तक की परिस्थितियों को समता के ढांचे में ढालकर सबके लिये उन्हें सुखकर एवं हितकर बना देगा ।

### केवल एकसूत्री कार्यक्रम—समता दर्शन :

इस प्रकार के सुखद परिवर्तन की दशा में जो बाह्य समस्याएँ पहले जटिल दिखाई दे रही थी, वे आसान हो जायेंगी । जो विकृत दृष्टि पहले अपने स्वार्थ ही देखती थी, वह सम बन कर अपने आत्म स्वरूप को देखेगी तो बाहर परहित को ही प्रमुखता देगी । ज्यों-ज्यों हृदय की गहराइयों में समता का उत्कर्ष बढ़ता जायेगा, लोकोपकार के लिये अपने सर्वस्व तक की बलि कर देने में भी कोई हिचक नहीं होगी ।

समता—दर्शन के केवल एक-सूत्री कार्यक्रम के आधार पर न सिर्फ व्यक्ति के अन्तर्मन और जीवन में जागृति की ज्योति फैलेगी बल्कि सामाजिक, राष्ट्रीय एवं विश्वजनीन जीवन में भी क्रान्तिकारी सुखद परिवर्तन लाये जा सकेंगे । 'चेतन पर जड़ को हावी न होने दें'—यह मूल मंत्र है, फिर मोह का कोई व्यवधान नहीं रहेगा । समता दर्शन का प्रकाश सभी प्रकार के अंधकार को नष्ट कर देगा ।

जीवन में समता के विकास की आधारशिला बनाइये । श्रेष्ठ संस्कारों को—जो इतने प्रगाढ़ हों कि एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में परलवित-पुष्पित होते हुए इस तरह श्री वृद्धि करते जाय कि सांसारिक जीवन का क्रम ही अबाध रूप से समतामय बन जाय । ऐसी सभ्यता और संस्कृति का वातावरण छा जाय जो मानव-जाति ही नहीं समस्त प्राणी समाज के साथ सहानुभूति एवं सहयोग की सक्रियता को स्थायी बनादे ।

विश्व-दर्शन तभी सार्थक है जब योग्य द्रष्टा अपनी समर्थ दृष्टि के माध्यम से सम्पूर्ण दृश्य को समतामय बना सके । यथावत् स्वरूप दर्शन से ही समता का स्वरूप प्रतिभासित हो सकेगा ।

मूल समस्या है दृष्टि विकास की। यह विकास समता दर्शन की गूढ़ता में रंग कर ही साधा जा सकेगा। दृष्टि इस रूप में विकसित होगी तभी सामर्थ्य ग्रहण करेगी और अपने दृष्टा को स्वरूप-दर्शन की योग्यता प्रदान करेगी। मूल रूप में ममता से हटने पर ही दृष्टि विकास का कार्यारंभ हो सकेगा। स्वरूप दर्शन से परिवर्तन की प्रेरणा मिलती है। एक दर्पण को इतना स्वच्छ होना चाहिये कि उसमें कोई भी आकृति स्पष्टता से प्रतिबिम्बित हो सके। किन्तु कोई दर्पण ऐसा है या नहीं—उसे देखने से ही ज्ञात होगा। यथावत देखने से जब मैला रूप दिखाई देगा तो उसे धो-पोंछ कर साफ बना लेने की प्रेरणा भी फूटेगी। विकासोन्मुख होने की पहली सीढ़ी स्वरूप-दर्शन है—चाहे वह निजात्मा का हो या विश्व का। स्वरूप दर्शन से स्वरूप-संशोधन की और चरण अवश्य बढ़ते हैं और समुच्चय में समता दर्शन का यही सुफल है।

. . .

## कर्मन की रेखा न्यारी रे

[ राग मांड ]

कर्मन की रेखा न्यारी रे, विधि ना टारी नाहि टरै ।

रावण तीन खण्ड को राजा, छिन में नरक पड़े ।

छप्पन कोट परिवार कृष्ण के, वन में जाय भरे ॥१॥

हनुमान की मात अन्जना, वन-वन रुदन करै ।

भरत बाहुबलि दोऊ भाई, कैसा युद्ध करै ॥२॥

राम अरु लक्ष्मण दोनों भाई, सिय के संग वन में फिरै ।

सीता महासती पतिव्रता, जलती अग्नि परे ॥३॥

पांडव महाबली से योद्धा, तिनकी त्रिया को हरे ।

कृष्ण स्वमणी के सुत प्रद्युम्न, जनमत देव हरे ॥४॥

को लग कथनी कीजै इनकी, लिखतां ग्रन्थ भरे ।

धर्म सहित ये करम कौनसा, 'बुधजन' यों उचरे ॥५॥

—बुधजन



## कर्म प्रकृतियाँ और उनका जीवन के साथ संबंध

□ श्री श्रीचन्द्र गोलेछा

सुख-दुःख अनुभव करते हुए मन, वचन, काया द्वारा जो क्रिया की जाती है, उसे भोग कहते हैं। भोग भोगने पर जो संस्कार आत्मा पर अंकित होते हैं, उन्हें कर्म कहते हैं। ये संस्कार पुनः जीवन पर प्रकट होते हैं, उसे कर्मोदय कहते हैं। जो मुख्य रूप से आठ प्रकार के हैं यथा—१. ज्ञानावरणीय, २. दर्शनावरणीय, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयु, ६. नाम, ७. गोत्र, ८. अन्तराय।

१. ज्ञानावरणीय कर्म ५ प्रकार का है—

१. मतिज्ञानावरणीय—विषय भोगों में सुख है, ऐसी बुद्धि का होना मति-ज्ञानावरणीय कर्म का फल है, यह विषय सुख छोड़ने में बाधक है।

२. श्रुतज्ञानावरणीय—भोग के प्रति रुचि का होना इसका फल है। इससे भोग बुद्धि पर नियन्त्रण नहीं हो पाता।

३. अवधिज्ञानावरणीय—मतिज्ञानावरणीय और श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के कारण जीवन में जो भोग की वृत्ति व प्रवृत्ति होती है, उस भोग की वृत्ति व प्रवृत्ति की यथार्थता का अंश मात्र भी आत्मिक ज्ञान न होना अवधिज्ञानावरणीय है।

४. मनःपर्यायज्ञानावरणीय—भोग भोगने में रसानुभूति से अलग नहीं कर पाना, इसका लक्षण है। इसके कारण कामना का अन्त नहीं होता है।

५. केवलज्ञानावरणीय—चित्त पर से घाति कर्मों का प्रभाव नष्ट न होना इसका फल है।

२. दर्शनावरणीय कर्म ६ प्रकार का है—

१. चक्षुदर्शनावरणीय—भोग बुद्धि से प्रभावित होकर दृश्यमान भोग्य पदार्थों से संबंध स्थापित करना, चक्षुदर्शनावरणीय का फल है।

२. अचक्षुदर्शनावरणीय—जिन पदार्थों से संबंध स्थापित किया है उनमें रुचि पैदा होना अर्थात् उनमें रस लेना अचक्षुदर्शनावरणीय के कारण होता है।

३. **अवधिदर्शनावरणीय**—चक्षुदर्शनावरणीय और अचक्षुदर्शनावरणीय से उत्पन्न हुई विभिन्न अवस्थाओं को अनुभव न कर पाना अवधिदर्शनावरणीय है।

४. **केवलदर्शनावरणीय**—चैतिसक ममत्व इसका लक्षण है।

५. **निद्रा**—इन्द्रियों के विषयों में रुचि के कारण भोग भोगने के लिये सामान्य रूप से मूर्च्छित होना अर्थात् अपनी विस्मृति होना निद्रा है।

६. **प्रचला**—निद्रित होने से बच नहीं पाना, बार-बार मूर्च्छित होना प्रचला है।

७. **निद्रा-निद्रा**—भोग प्राप्ति के लिये बार-बार लालायित रहना निद्रा-निद्रा है।

८. **प्रचला-प्रचला**—भोगेच्छा का संवरण न कर पाना प्रचला-प्रचला है।

९. **स्त्यानगृद्धि**—भोग भोगने की ऐसी तीव्र आकांक्षा होना जिससे अपना भान भूल जावे स्त्यानगृद्धि है।

३. **वेदनीय कर्म** दो प्रकार का है—

इन्द्रियों के विषयों में असाता का संवेदन करना असाता वेदनीय है और साता का संवेदन करना साता वेदनीय है।

४. **मोहनीय कर्म** दो प्रकार का है—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय।

१. **दर्शन मोहनीय**—भोग प्रवृत्ति पर बुद्धि का जो प्रभाव होता है वह दर्शन मोहनीय है। यह प्रभाव जीवन पर तीन प्रकार से प्रकट होता है—मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व मोहनीय।

**मिथ्यात्व मोहनीय**—सदा भोगों में लगे रहना, भविष्य में भी भोग मिलते रहें, ऐसी लालसा का होना इसका लक्षण है।

**सम्यक्मिथ्यात्व**—काम भोग अनाचरणीय है यह जानता हुआ, अनुभव करता हुआ भी उनसे विरत होने में असमर्थ होना और उनमें आनन्द मानते रहना सम्यक् मिथ्यात्व है।

**सम्यक्त्व मोहनीय**—त्याग वृत्ति में लग जाने पर भी पूर्ण रूप से भोगों से विरत नहीं होना इसका लक्षण है।

२. **चारित्र मोहनीय**—कषायों (क्रोध, मान, माया और लोभ) से संयुक्त होकर भोग प्रवृत्ति में लग जाना चारित्र मोहनीय का लक्षण है। यह चार प्रकार का है यथा—

**अनन्तानुबन्धी**—मिथ्यात्व से प्रभावित भोग अवस्था को अनन्तानुबन्धी कहते हैं।

**अप्रत्याख्यान**—त्यागवृत्ति का न होना अप्रत्याख्यान है ।

**प्रत्याख्यानावरण**—कषायों के नष्ट न होने तक त्यागवृत्ति की विभिन्न दशाओं को प्रत्याख्यानावरण कहते हैं ।

**संज्वलन**—अर्थात् सामान्य कषाय श्रुत भोग प्रवृत्ति, आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इन चार मूल संज्ञाओं से विरत नहीं होना ।

**क्रोध**—कामना उत्पन्न होने पर क्षुभित होना अर्थात् चित्त का कुपित होना क्रोध है ।

**मान**—भोग भोगने की अभिलाषा का चित्त में बस जाना मान है । इसकी प्रतिक्रिया अहंकार रूप में प्रकट होती है ।

**माया**—भोग भोगने में लग जाना माया है ।

**लोभ**—भोग की लालसा का बना रहना लोभ है ।

चारित्र्य मोहनीय के अनन्तानुबंधी आदि प्रत्येक भेद के साथ क्रोध, मान, माया, लोभ इनका संबंध रहता है ।

**नोकषाय**—कषाय के सहायक कारणों को नोकषाय कहते हैं । सहायक कारणों के रहते कषायों का प्रभाव पूर्णतः नष्ट नहीं होता है । यह ६ प्रकार की है यथा—

१. रति—भोग काल में जो सुखानुभूति होती है उसे रति कहते हैं ।
२. हास—उस सुखानुभूति से जो उल्लास होता है उसे हास कहते हैं ।
३. अरति—इच्छा वासना के बनी रहने के कारण चित्त का खिन्न होना अरति है ।
४. शोक—खिन्नता के साथ क्लेश उत्पन्न होता है, उसे शोक कहते हैं ।
५. भय—भोग के साधनों के नाश की आशंका भय है ।
६. जुगुप्सा—भोग साधनों के रक्षण की भावना अथवा भोग के साधनों के नष्ट होने के कारणों से घृणा करना जुगुप्सा है ।
७. पुरुष वेद—भोगों को सामान्य प्रकार से वेदना (भोगना) पुरुष-वेद है ।
८. स्त्री वेद—रसासक्ति सहित भोग प्रवृत्ति स्त्री वेद का लक्षण है ।
९. नपुंसक वेद—मिथ्यात्व के लक्षणों सहित भोग में लगे रहना नपुंसक वेद का लक्षण है ।

५. **आयु**—समग्र कर्म प्रकृतियों से प्रभावित जीवन की अवस्था आयु है। उसका वर्णन ४ प्रकार से किया गया है—

१. **नरकायु**—जिस जीवन में विषय भोगों की अत्यन्त चाह है, भोग इच्छा सदा बनी रहती है, अरति और शोक में निमग्न चित्त सदा अशान्त रहता है, यह नरकायु का लक्षण है।

२. **तिर्यंच आयु**—भोग से प्रवृत्त जीवन को तिर्यंच आयु कहते हैं जो विवेक जागृत होने पर कभी त्याग की ओर भी अग्रसर हो सकता है।

३. **मनुष्य आयु**—जिस जीवन में संकल्प की दृढ़ता होती है वह मनुष्य जीवन है। संकल्प की दृढ़ता के कारण भोग या त्याग में से किसी में लग जाने में पूर्ण समर्थ होना इसका लक्षण है।

४. **देव आयु**—त्याग की प्रवृत्ति होते हुए भी इच्छाओं से छुटकारा न पा सकना देव आयु का लक्षण है।

६. **नाम कर्म**—घाति कर्मों का प्रभाव मन, इन्द्रियों और देह पर प्रकट होकर जिस प्रकार की क्रिया, क्रियाशक्ति का प्रयोग जिस क्रम से प्रकट होकर भोगों की ओर प्रेरित करता, वह नाम कर्म है। नाम कर्म में आगत कर्म प्रकृतियों का आधार इस प्रकार प्रतीत होता है :—

गतियाँ मन के परिणामों की, जातियाँ इन्द्रियों की क्रियाओं की और शरीर, मन व इन्द्रियों के द्वारा होने वाली क्रियाओं के प्रकारों के द्योतक हैं। मन और इन्द्रिय की विभिन्न अवस्थाएँ संस्कारों के रूप में, इनकी निमित्त शक्तियाँ संहननों के रूप में, इनके विषय वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श के रूप में, विषयों में मन और इन्द्रियों की क्रियाएँ अंगोपांगों के रूप में, अंगोपांगों का शुभाशुभ प्रवृत्ति या विहायोगति के रूप में वर्णन की गई हैं। आगे की प्रकृतियाँ चेतन के अगुरु-लघुत्व गुण के कारण क्रमशः प्रकट होने वाली अवस्थाओं की सूचक हैं। नाम कर्म की प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं—

**गति नाम कर्म**—चित्त की सक्रियता का होना गति नाम कर्म है।

**जाति नाम कर्म**—इन्द्रियों की सक्रियता का होना जाति नाम कर्म है। यह एकेन्द्रिय, बेन्द्रिय आदि पाँच इन्द्रियों की अपेक्षा पाँच प्रकार का है।

**शरीर नाम कर्म**—शरीर के अवयवों (क्रिया के साधनों) का कार्यरत होना शरीर नाम कर्म है। यह पाँच प्रकार का है—

**औदारिक**—देह का सामान्य रूप से कार्यरत होना औदारिक शरीर है।

**बैक्रिय**—इन्द्रियों का सामान्य से अधिक विकृत होकर कार्यरत होना बैक्रिय शरीर है।

**आहारक**—संयम पालन करने पर चित्त की प्रमत्ता का कार्यरत होना आहारक शरीर है ।

**तैजस**—कर्मशक्ति चेतनशक्ति का प्रभाव तैजस शरीर है ।

**कार्मण**—पूर्व संस्कारों की जागृति का प्रभाव कार्मण शरीर है ।

**बंधन नाम कर्म**—उपर्युक्त पांचों शरीरों में से जो शरीर एक दूसरे से संयुक्त होकर बंधन को प्राप्त होते हैं, वह बंधन नाम कर्म है ।

**संघातन**—पांचों शरीरों की संयुक्त कार्य शक्ति संघातन है ।

**संस्थान**—संयुक्त कार्य शक्ति जीवन पर जिस प्रकार का प्रभाव प्रकट करती है, वह संस्थान है । यह छः प्रकार का है—

**हुण्डक**—अत्यन्त तीव्र अभिलाषाओं के साथ भोग प्रवृत्तियों में (ग्राम शूकर की तरह) लगे रहने की वृत्ति हुण्डक संस्थान का लक्षण है ।

**वामन**—भोग वृत्ति का कुछ कम होना, अल्प होना वामन है ।

**कुब्जक**—अल्प आर्जव, मार्दव का प्रकट होना कुब्जक संस्थान है ।

**स्वाति**—आत्मलक्षी होना स्वाति संस्थान है ।

**न्यग्रोध परिमण्डल**—भोग वृत्तियों का निग्रह करने की अवस्था न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान है ।

**समचतुरस्र**—समान भाव का होना समचतुरस्र संस्थान है ।

**नोट** :—उपर्युक्त संस्थानों के अर्थ 'शब्द कल्पद्रुम' कोष के आधार पर किये गये हैं ।

**अंगोपांग**—संस्थानों से प्रभावित होकर औदारिक, वैक्रिय या आहारक शरीर का कार्यरत होना ।

**संहनन**—अंगोपांग की क्रिया शक्ति संहनन है । वह ६ प्रकार का है—वज्र ऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलिका और सुपाटिका । ये सभी संस्थान पुरुषार्थ के वाचक हैं ।

**वर्ग, गंध रस, स्पर्श**—संहनन के अनुसार पांचों इन्द्रियों के विषयों में लगा रहना वर्ण, गंध, रस, स्पर्श कहा गया है ।

**गत्यानुपूर्वो**—इन्द्रियों के विषयों में तीव्रता या मंदता के साथ लगे रहने की वृत्तियों के संस्कारों का होना गत्यानुपूर्वो है ।

**विहायोगति**—अशुभ से शुभ की ओर, और शुभ से अशुभ की ओर जाने के संस्कारों को क्रमशः शुभ-अशुभ विहायोगति कहते हैं ।

**अगुरुलघु**—चेतन गुण का प्रकट होना अगुरुलघु है ।

**उपघात**—कर्म चेतना के पश्चात् इन्द्रियों का संचरण होकर भोग वस्तु से सम्बन्ध स्थापित करने को उपघात नाम कहते हैं ।

**पराघात**—भोग वस्तुओं से संबंध स्थापित होने पर विषयों की ओर आकर्षित होना पराघात है ।

**उच्छ्वास**—भोग पदार्थों में आकर्षित होने के कारण भोग पदार्थों को प्राप्त करने के लिये उत्सुक होने को उच्छ्वास कहते हैं ।

**आतप**—उत्सुक होने पर भोगने की आकांक्षा का प्रकट होना जिससे देह में ताप होता है, आतप नाम है ।

**उद्योत**—प्रकट हुई आकांक्षाएं पूर्ण करने को उद्यत या उत्सुक होना उद्योत नाम कर्म है ।

**त्रस, स्थावर, अशुभ और शुभ**—उपघात की अवस्था में इन्द्रियों का बाह्य रूप से कार्य रूप में रत होना त्रस नाम कर्म है, आंतरिक संचरण स्थावर नाम कर्म है, शुभ या अशुभ में लगने के संस्कार शुभ, अशुभ प्रकृति है ।

**बादर, सूक्ष्म, सुभग, दुभग**—पराघात की अवस्था में बाह्य रूप से कार्य-रत होना बादर नाम और सूक्ष्म रूप से कार्यरत होने के संस्कार सूक्ष्म नाम कर्म है । पराघात अवस्था में नियंत्रण करने के संस्कार सुभग और नियन्त्रण नहीं करने के संस्कार को दुभग नाम कर्म कहते हैं ।

**पर्याप्त-अपर्याप्त**—सुस्वर-दुस्वर उच्छ्वास अवस्था अर्थात् भोग भोगने के लिये पर्याप्त रूप से या अपर्याप्त रूप से उत्सुक होना पर्याप्त-अपर्याप्त नाम कर्म है । उस पर्याप्त-अपर्याप्त अवस्था में शुभ की ओर या अशुभ की ओर जाने की अवस्था सुस्वर-दुस्वर है ।

**प्रत्येक साधारण, आदेय-अनादेय**—उच्छ्वास अवस्था में प्रत्येक भोग्य वस्तु के प्रति उत्पन्न आकांक्षा प्रत्येक है और सामान्य आकांक्षा उत्पन्न होना साधारण है । आकांक्षाओं का नहीं करना आदेय है और आकांक्षाओं को करना अनादेय है ।

**स्थिर-अस्थिर, यशकीर्ति, अयशकीर्ति**—उद्योत अवस्था में संस्कारों के अनुसार प्रवृत्ति होना अस्थिरता है और भोगों में प्रवृत्ति न होना स्थिरता है । शुभ प्रवृत्तियों में लगना यशकीर्ति है और मन को नियन्त्रित नहीं करना अयशकीर्ति है ।

**निर्माण**—उक्त प्रकृतियों को नियमित करना निर्माण है ।

**तीर्थंकर**—प्रकृतियों से उपरत होने की वृत्ति तीर्थंकर नाम कर्म है ।

७. गोत्र—नाम कर्म को सर्व उत्तर प्रकृतियों की सम्मिलित शक्ति का प्रभाव देह की क्रियाओं पर प्रकट होता है, वह गोत्र कर्म है। यदि वे दैहिक क्रियाएँ सद् प्रवृत्तियों के रूप में हैं तो वह उच्च गोत्र है। दुष्प्रवृत्तियों के रूप में तो वह नीच गोत्र है।

८. अंतराय—आयु, नाम, गोत्र इनका उदय (वेदन होने पर भोग की कामना का पैदा होना) अंतराय कर्म है। भोगों को प्राप्त करने की अभिलाषा दानान्तराय है, भोगों के प्रति रुचि होने की अवस्था लाभान्तराय है, भोगने की अभिलाषा भोगान्तराय है, बार-बार भोगने की अभिलाषा, लालसा का बना रहना उपभोग अन्तराय और भोगों के प्रति पुरुषार्थ करने की वृत्ति वीर्यान्तराय है। भोगों के भोगने की इच्छा या वासना नहीं रहने पर अंतराय कर्म क्षय हो जाता है।

इस लेख में आयु, नाम, अन्तराय आदि कर्मों की मूल व उत्तर प्रकृतियों की परिभाषाएँ परम्परागत परिभाषाओं से भिन्न रूप में प्रस्तुत की गई हैं। इनका आधार यह है कि देह का हल्का, भारी, कठोर, नर्म, सबल-निर्बल, सुन्दर-असुन्दर होना, देह का काला, गोरा आदि वर्णों का होना, सुगंध-दुर्गन्ध युक्त होना, मीठा, खट्टा आदि आस्वादन करना आदि की उपलब्धि कर्म बन्ध के कारण नहीं है। अपितु इन्द्रिय और मन की प्रवृत्तियाँ व क्रियाएँ ही कर्म बन्ध के कारण होती हैं। इसी प्रकार आयु की कमी-अधिकता भी कर्म बन्ध का फल नहीं है अपितु आयु जीवन की एक अवस्था है तथा भोगोपभोग संबंधी वस्तुओं का मिलना न मिलना सामान्य रूप से अन्तराय रूप है, परन्तु अन्तराय कर्म नहीं है।

## आतम-ध्यान

राग—जंगला

मैं निज आतम कब ध्याऊँगा ।

रागादिक परणाम त्याग कै, समता सौ ली लगाऊँगा ॥ मैं निज० १ ॥

मन वच काय जोगधिर करके, ज्ञान समाधि लगाऊँगा ।

कब हौं श्रेणि चढ़ि ध्याऊँ, चारित मोह नशाऊँगा ॥ मैं निज० २ ॥

चारों करम घातिवा हन करि, परमात्म पद पाऊँगा ।

ज्ञान दरश सुख बल भण्डारा, चार अघाति वहाऊँगा ॥ मैं निज० ३ ॥

परम निरंजन सिद्ध बुद्ध पद, परमानन्द कहाऊँगा ।

‘द्यानत’ यह सम्पत्ति जब पाऊँ, बहुरि न जग में आऊँगा ॥ मैं निज० ४ ॥

—द्यानतराय

### जीवन क्या है ?

आकाश में उड़ते हुए पंछी से एक मुसाफिर ने पूछा—“गगन बिहारी, क्या आप बता सकते हैं कि जीवन क्या है ?” पंछी ने उत्तर दिया—“भले मानुष ! यह भी पूछने की बात है । वह जो तेरे पांवाँ के नीचे आधार की मिट्टी है और जो मेरे सिर के ऊपर विहार का उन्मुक्त लोक है, यही तो जीवन है ।” मुसाफिर यह समझकर बाग-बाग हो उठा कि वास्तव में यथार्थ और कल्पना का मेल कराने वाली यात्रा ही जीवन है ।

बाल्यकाल की चंचलता, जवानी का उत्साह और वृद्धावस्था की उदासीनता का समन्वय ही जीवन है ।

जिसे हम आत्मा, चैतन्य कहते हैं, उसे भगवान् महावीर ने जीव कहा है । आगमों में अधिकतर जीव शब्द का ही प्रयोग मिलता है । जीव शब्द का अर्थ है—जो अनन्त काल से जीता आ रहा है और अनन्त-अनन्त अनागत काल की यात्रा के लिए जीता जा रहा है अर्थात् जो जीवित है, जीवित था और सदैव जीवित रहेगा, वह जीव है । वह अनन्त-अनन्तकाल के प्रवाहमान प्रवाह में जीता जा रहा है । जीवन की कोई सीमा नहीं, अतः उसका मरण भी नहीं । मरण जन्म के साथ-साथ चलता है । जन्म और मरण के दो किनारों के मध्य में जो जिन्दगी के वर्ष हैं, उन्हें हम जीवन कहते हैं । यह जिन्दगी की घारा जन्म-मरण के किनारों के मध्य गतिशील है—वस्तुतः यही जीवन है ।

चैतन्य की अपेक्षा आत्मा अजन्मा है, परन्तु अपने शुभाशुभ कर्म के अनुसार चैतन्य (आत्मा) देह धारण करता है । अतः आत्मा का नया जन्म नहीं होता, जन्म होता है तो देह का । किसी एक योनि से बन्धे हुए आयु कर्म का उदय में आना जन्म है और उसका क्षय होना मरण है । उसके मध्य में देहवास की स्थिति जीवन है । आत्मा वही है—बदलता है केवल देह । जैसे एक व्यक्ति घर को छोड़कर अथवा तोड़कर नया घर बनाता है, बस इसी तरह संसार में परिभ्रमणशील आत्मा आयु कर्म का क्षय होते ही नये घर में प्रवेश करती है, इस नये घर के निर्माण को ही हम जन्म कहते हैं ।



नये घर में जाने के लिए पुराने घर को छोड़ना होता है अर्थात् देह छोड़ना मरण है। इस जन्म और मरण के बीच जो सांसों की झंकार है वही जीवन है।

**कर्म क्या है ?**

साधारण रूप में जो कुछ किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं। जैसे खाना-पीना, बोलना, चलना, सोचना, विचारना, उठना, बैठना आदि। किन्तु यहाँ कर्म शब्द से केवल क्रिया रूप ही परिलक्षित नहीं है। 'महापुराण' में कर्म रूपी ब्रह्मा के पर्यायवाची शब्द इस प्रकार हैं :—

विधि सृष्टा विधाता च दैवं कर्मपुरा कृतम् ।

ईश्वर - ईश्वर चेतो पर्याय-कर्म वेधस् ॥

अर्थात्—विधि, सृष्टि, विधाता, दैवपुरा, कृतम्, ईश्वर ये कर्म रूपी ब्रह्मा के वाचक शब्द हैं। इस कर्म शब्द से इसी ब्रह्मा को ग्रहण किया है।

जैन दर्शन के अनुसार जीव के द्वारा हेतुओं से जो किया जाय, उस पुद्गल वर्गणा के संग्रह का नाम कर्म है। शुभ एवं अशुभ प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट और सम्बन्धित होकर जो पुद्गल आत्मा के स्वरूप को आवृत्त करते हैं, विकृत करते हैं और शुभाशुभ फल के कारण बनते हैं। उन गृहित पुद्गलों का नाम है—कर्म ! यद्यपि यह पुद्गल एक रूप है, तथापि यह जिस आत्म गुण को प्रभावित करते हैं, उसके अनुसार ही उन पुद्गलों का नाम हो जाता है।

**कर्म सिद्धान्त :**

जो नियम कभी नहीं बदलते और यथार्थता को लिए हुए होते हैं, उन अटल नियमों को सिद्धान्त कहते हैं। उपर्युक्त जीवन का आधार कर्म-व्यवस्था है और कर्म-व्यवस्था के जो अटल नियम हैं, वही कर्म सिद्धान्त कहलाते हैं। जैसे धर्म दया में है, भूतकाल में था, वर्तमान में है, और भविष्य में भी रहेगा। ऐसे ही कर्म सिद्धान्त के नियम भी अटल हैं, जो इस प्रकार हैं :—

(१) चेतन का सम्बन्ध पाकर जड़ कर्म स्वयं अपना फल देता है। आत्मा उस फल को भोगता है।

(२) किसी भी कर्म के फल भोगने के लिए कर्म और उसके करने वालों के अतिरिक्त किसी तीसरे व्यक्ति की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि करते समय ही जीव के परिणामों के अनुसार एक प्रकार का संस्कार पड़ जाता है जिससे प्रेरित होकर जीव अपने कर्म का फल स्वयं भोगता है। कर्म भी चेतन से

सम्बन्धित होकर अपने फल को अपने आप ही प्रकट करता है। जैसे—भंग घोटकर किसी बर्तन में रख देने से उस बर्तन को नशा नहीं होता, पर ज्योंही उस बर्तन में रखी हुई उस भंग को कोई व्यक्ति पीता है तो उसे समय पाकर अवश्य नशा होता है। उसमें तीसरी शक्ति की आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार कर्म पुद्गल जीव का सम्बन्ध पाकर स्वयं अपना फल देता है—

को सुख को दुःख देत है, देत कर्म भकभोर ।

उलभत सुलभत आप ही, पता पवन के जोर ॥

कुछ दार्शनिक मानते हैं कि काल, स्वभाव, कर्म, पुरुषार्थ और नियति इन पांच समवाय के मिलने से जीव कर्म फल भोगता है। इन सब तर्कों से यह सिद्ध होता है कि जीव के भोग से कर्म अपना फल स्वयं देता है। इस सिद्धान्त को भारतीय आस्तिक दर्शनों के साथ-साथ बौद्ध दर्शन जैसे अनात्मवादियों ने भी स्वीकार किया है। उदाहरण के रूप में राजा मलिन्द और स्थविर नागसेन का संवाद इस प्रकार है—

राजा मलिन्द स्थविर नागसेन से पूछता है कि भन्ते ! क्या कारण है कि सभी मनुष्य समान नहीं होते, कोई कम आयु वाला और कोई दीर्घ आयु वाला, कोई रोगी, कोई नीरोगी, कोई भद्दा, कोई सुन्दर, कोई प्रभावहीन, कोई प्रभावशाली, कोई निर्धन, तो कोई धनी, कोई नीच कुल वाला, तो कोई उच्च कुल वाला, कोई मूर्ख, तो कोई विद्वान् क्यों होते हैं ? इन प्रश्नों का उत्तर स्थविर नागसेन ने इस प्रकार दिया ।

राजन् ! क्या कारण है कि सभी वनस्पति एक जैसी नहीं है। कोई खट्टी तो कोई नमकीन, तो कोई तीखी तो कोई कड़वी क्यों होती है ?

मलिन्द ने कहा—मैं समझता हूँ कि बीजों की भिन्नता होने से वनस्पति भी भिन्न-भिन्न होती है ।

नागसेन ने कहा—राजन् ! जीवों की विविधता का कारण भी उनका अपना-अपना कर्म ही होता है। सभी जीव अपने-अपने कर्मों का फल भोगते हैं। सभी जीव अपने-अपने कर्मों के अनुसार नाना गति-योनियों में उत्पन्न होते हैं।

राजा मलिन्द और नागसेन के इस संवाद से भी यही सिद्ध होता है कि कर्म अपना फल स्वयं ही प्रदान करते हैं।<sup>१</sup>

इसी को राम भक्त महाकवि तुलसीदास ने भी स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है :—

१—मलिन्द प्रश्न—बौद्ध ग्रंथ ।

कर्म प्रधान विश्व करि राखा ।  
जो जस करहि सो तस फल चाखा ॥

अर्थात् प्राणी जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है । बस यही कर्म सिद्धान्त है । इसमें न काल कुछ कर सकता है और न ईश्वर कुछ कर सकता है । कहा भी है—

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृत कर्म शुभाशुभम् ।  
जा भुक्त क्षीयते कर्म कल्प कोटि शतैरपि ॥

अर्थ—भोगे बिना करोड़ों कल्पों में भी कर्मों का क्षय नहीं होता है । किये हुए शुभाशुभ कर्म अवश्य भोगने पड़ते हैं ।

यथा घेनु सह स्लेषु, वत्सो विन्दति मातरम् ।  
तयैवह कृतं कर्म कर्तार, मनु गच्छति ॥  
[ चाणक्य नीति ]

अर्थ—जैसे हजारों गायों के होते हुए भी गोवत्स सीधा अपनी माता के पास जाता है, उसी प्रकार संसार में कृत कर्म भी अपने कर्ता का ही अनुसरण करते हैं । अर्थात् उसी को सुख-दुःख फल देते हैं ।

स्वकर्मणा युक्त एव सर्वोह्य त्वद्यते जनः ।  
सन्तया कृष्यते तेन न यथा स्वयामच्छति ॥

अर्थ—अपने कर्म से युक्त ही सभी जन उत्पन्न होते हैं । वे उस कर्म के द्वारा ऐसे खींच लिये जाते हैं, जैसा कि वे स्वयं नहीं चाहते ।

उक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि कर्म सिद्धान्त के नियम अटल हैं ।

### कर्म सिद्धान्त की उपयोगिता :

कर्म सिद्धान्त मानव जीवन में आशा एवं स्फूर्ति का संचार करता है । मानव मन को विकास के पथ पर आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करता है । जीवन में आने वाली अनेक उलझनों का सुलभाव करता है । कर्म सिद्धान्त की सबसे बड़ी उपयोगिता यह है कि वह मानव को आत्महीनता एवं आत्मदीनता के गर्त में गिरने से बचाता है । कर्म सिद्धान्त को मानने वाला व्यक्ति न ईश्वर की दया के लिए गिड़गिड़ाता है और न होनहार के लिए अकर्मण्य होकर बैठता है । वह समझता है कि जो समस्याएँ सामने सिर निकाल कर खड़ी हैं, उनसे डरने की आवश्यकता नहीं है । यह सब पूर्वकृत कर्मों का फल है और अपने पुरुषार्थ के द्वारा इनका सामना किया जा सकता है । इस आशा के साथ व्यक्ति पुरुषार्थ

करता हुआ अपनी आत्मा को संसार-समुद्र के गहन गर्त से निकाल कर मोक्ष रूपी चरम शिखर पर पहुँच सकता है। जब मानव अपने जीवन में हताश एवं निराश हो जाता है, अपने चारों ओर उसे अन्धकार ही अन्धकार दृष्टिगोचर होता है, यहां तक कि उसका गन्तव्य मार्ग भी विलुप्त हो जाता है। ऐसे समय में उस दुःखी आत्मा को कर्म सिद्धान्त ही एकमात्र धैर्य और शान्ति प्रदान करता है। यह सिद्धान्त उसको बताता है कि हे मानव ! जिस परिस्थिति को देखकर अथवा पाकर तू रोता है या दुःखी होता है, यह तेरे स्वयं द्वारा निर्मित है, इसलिए इसका फल भी तुझे ही भोगना है। कभी यह हो नहीं सकता कि कर्म तू स्वयं करे और फल कोई अन्य भोगे।

जब मनुष्य अपने दुःख और कष्टों में स्वयं अपने आपको कारण मान लेता है तब उसमें कर्म के फल भोगने की शक्ति भी आ जाती है। इस प्रकार जब मानव कर्म सिद्धान्त को पूर्ण रूप से समझकर उस पर विश्वास करता है, तब उसके जीवन में निराशा, तमिस्रा और आत्म-दीनता दूर हो जाती है। उसके लिए जीवन भोग-भूमि न रहकर कर्त्तव्य-भूमि बन जाता है। जीवन में आने वाले सुख एवं दुःख के भ्रंशावातों में उसका मन प्रकम्पित नहीं होता अपितु एक आशा की लहर उमड़ पड़ती है।

सुख के उजले सुन्दर वासर, संकट की काली रातें ।  
वर्षों कट जाते हैं दिन-दिन, आशा की करते बातें ॥

कर्म सिद्धान्त को मानने वाले व्यक्ति का जीवन आशामय बन जाता है। वह अपने जीवन में काल, स्वभाव, हीनहार आदि से अधिक महत्त्व अपने कृत कर्म (पुरुषार्थ) को देता है और कभी निराश नहीं होता क्योंकि कर्म सिद्धान्त यह बताता है कि आत्मा को सुख-दुःख की गलियों में घुमाने वाला मनुष्य का कर्म ही है। यह उसके अतीत कर्मों का अवश्यंभावी परिणाम है। हमारी वर्तमान अवस्था जैसी भी है और जो कुछ भी है, वह किसी दूसरे के द्वारा हम पर लादी नहीं गई है, अपितु हम स्वयं उसके निर्माता हैं अतएव जीवन में जो उत्थान और पतन आता है, जो विकास और ह्रास आता है तथा जो सुख और दुःख आता है, उसका दायित्व हम पर है, किसी अन्य पर नहीं। एक दार्शनिक के शब्दों में—

“I am the master of my fate,  
I am the Captain of my soul.”

अर्थात् मैं स्वयं अपने भाग्य का निर्माता हूँ, मैं स्वयं आत्मा का अधिनायक हूँ, मेरी इच्छा के विरुद्ध मुझे कोई किसी अन्य मार्ग पर नहीं चला सकता। मेरे मन का उत्थान ही मेरा उत्थान है तथा मेरे मन का पतन ही मेरा पतन है।

मुझे न कोई उठाने वाला है और न कोई गिराने वाला । मैं स्वयं अपनी शक्ति से उठता हूँ तथा अपनी शक्ति के ह्रास से गिरता हूँ । अपने जीवन में मनुष्य कुछ जैसा और जितना पाता है, वह सब कुछ उसकी बोई हुई खेती का अच्छा या बुरा फल है । अतः जीवन में हताश, निराश तथा दीन-हीन बनने की आवश्यकता नहीं है । यही कर्म सिद्धान्त की उपयोगिता है ।

मानव जीवन के दैनिक व्यवहार में कर्म सिद्धान्त कितना उपयोगी है, यह भी विचारणीय प्रश्न है । कर्म-शास्त्र के विद्वानों ने अपने युग में इस समस्या पर विचार किया है । हम अपने दैनिक जीवन में प्रतिदिन देखते हैं और अनुभव करते हैं तो महसूस होता है कि कभी-कभी तो जीवन में सुख के सुन्दर बादल छा जाते हैं और कभी-कभी दुःख की घनघोर घटाएँ सामने विकराल स्वरूप धारण किये हुए खड़ी हैं । उस समय प्रतीत होता है कि यह जीवन विभिन्न बाधाओं, दुःख और विविध प्रकार के कष्टों से भरा पड़ा है, जिनके आने पर हम घबरा जाते हैं तथा हमारी बुद्धि कुंठित हो जाती है । मानव जीवन की वह घड़ी कितनी विकट होती है । जब एक ओर मनुष्य को उसकी बाहरी परिस्थितियाँ परेशान करती हैं और दूसरी ओर उसके हृदय की व्याकुलता बढ़ जाती है । इस प्रकार की परिस्थिति में ज्ञानी और पंडित कहलाने वाले व्यक्ति भी अपने गन्तव्य मार्ग में भटक जाते हैं । हताश और निराश होकर अपने दुःख, कष्ट और क्लेश के लिए दूसरों को कोसने लगते हैं । वे उस समय भूल जाते हैं कि वास्तव में उपादान कारण क्या है, उनकी दृष्टि केवल बाह्य निमित्त पर जाकर टिकती है । इस प्रकार के विषय प्रसंग पर वस्तुतः कर्म सिद्धान्त ही हमारे लक्ष्य के पथ को आलौकिक करता है और मार्ग से भटकती हुई आत्मा को पुनः सन्मार्ग पर ला सकता है ।

सुख और दुःख का मूल कारण अपना कर्म ही है । वृक्ष का जैसे मूल कारण बीज ही है । वैसे ही मनुष्य के भौतिक जीवन का मूल कारण उसका अपना कर्म ही है । सुख-दुःख के इस कार्य-कारण भाव को समझकर कर्म सिद्धान्त मनुष्य को आकुलता एवं व्याकुलता के गहन गर्त से निकाल कर जीवन के विकास की ओर चलने को प्रेरित करता है । इस प्रकार कर्म सिद्धान्त आत्मा को निराशा के भङ्गावात से बचाकर कष्ट एवं क्लेश सहने की शक्ति प्रदान करता है । संकट के समय में भी बुद्धि को स्थिर रखने का दिव्य सन्देश देता है । कर्म सिद्धान्त में विश्वास रखने वाला व्यक्ति यह विचार करता है कि जीवन में जो अनुकूलता एवं प्रतिकूलता आती है, उसका उत्पन्नकर्ता मैं स्वयं हूँ । फलतः उसका अनुकूल या प्रतिकूल परिणाम भी मुझे ही भोगना चाहिये ।

यह दृष्टि मानव जीवन को शान्त, सम्पन्न और आनन्दमय बना देती है जिससे मानव आशा एवं स्फूर्ति के साथ अपने जीवन का विकास करता हुआ आगे बढ़ जाता है । यही जीवन में कर्म सिद्धान्त की उपयोगिता है । □

**कर्म-फल का भोग-अटल :**

कर्म और उसके फल का सम्बन्ध कारण और कार्यवत् है । कारण की उपस्थिति कार्य को अवश्य ही अस्तित्व में लाती है । जहाँ अग्नि है वहाँ धूम्र की उपस्थिति भी सर्वनिश्चित है । बिना अग्नि के धूम्र नहीं हो सकता है, उसी प्रकार सुख अथवा दुःख का भोग जब आत्मा द्वारा किया जा रहा है तो निश्चय ही उसकी पृष्ठभूमि में कारणस्वरूप पूर्वकृत कर्म है । आत्मा को कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है । इससे उसका निस्तार किसी भी स्थिति में संभव नहीं है । यह भी तथ्य है कि सत्कर्मों के फल भी शुभ होते हैं और असत् कर्मों के फल अशुभ । सहज प्रवृत्तिवश हम सुखोपभोग के लिये तो लालायित रहते हैं । पर दुःखों को भोगने के लिये कौन तत्पर रहता है ? किन्तु हमारी इच्छा-अनिच्छा से कर्मफल टलता या बढ़ता-घटता नहीं है । इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में जैन-दर्शन सर्वथा स्पष्ट और दृढ़ है कि आत्मा को पूर्वकर्मानुसार फल का भोग अनिवार्यतः करना पड़ता है । कारण उत्पन्न करना मनुष्य के वश की बात है, किन्तु इसके पश्चात् तज्जनित कार्य पर उसका वश नहीं हो सकता । अग्नि को स्पर्श करने पर हाथ का जलना सर्वथा निश्चित एवं अटल होता है । उसी प्रकार कर्ता को कर्म का फल भोगना पड़ता है । शुभ कर्मों के सुखद फलों को भोगने के लिये सभी तत्पर रहें, यह स्वाभाविक ही है । इसी प्रकार दुःखद फलों से बचना भी चाहेंगे, किन्तु यह संभव नहीं है । साथ ही फल सदा कर्मानुरूप ही हुआ करते हैं । अशुभ कर्म के शुभ फल प्राप्त करना तनिक भी संभव नहीं है । जैसे बीज होंगे तदनुसार ही फल होंगे । 'बोए पेड़ बबूल के' फिर कोई व्यक्ति 'आम' का रसास्वादन नहीं ले सकता । जैन धर्म में कर्म सिद्धान्त को विशेष प्रतिष्ठा है । इससे व्यक्ति को वर्तमान आचरण भी शुद्ध और शुभ रखने की प्रेरणा मिलती है । भगवान् महावीर के इस कथन "कडाण कम्मारा न मोक्ख अत्थि" से यह सिद्ध होता है कि किये गये कर्मों का फल भोगे बिना आत्मा का छुटकारा नहीं होता । परिणामतः सभी श्रेष्ठ फल-प्राप्ति के अभिलाषीजन कर्म की श्रेष्ठता पर भी पूरा ध्यान देते हैं ।

### क्या ईश्वर कर्म-फल प्रदान करता है ?

यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। भारतीय जन एवं कतिपय दर्शनों की यह सामान्य मान्यता है कि ईश्वर ही फल का दाता है। जैनदर्शन की मान्यता इससे ठीक विपरीत है। जैन दर्शन ईश्वर जैसी किसी सत्ता को सुख-दुःख का कर्त्ता नहीं स्वीकारता। इसमें तो आत्मा की ही सर्वोच्चता है। आत्मा ही स्वयं के लिये भविष्य तैयार करती है, वह स्वयं नियन्ता है। ईश्वर में विश्वास करने वाले मानते हैं कि आत्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है; पर फल तो उसे वैसा ही मिलेगा जैसा ईश्वर चाहेगा। यही कारण है कि ईश्वर की कृपा के लिये ही अधिक प्रयत्न किये जाते हैं। इनके अनुसार तो अशुभ कर्मों के फल भी शुभ हो जाते हैं। जीवन भर पापाचार में लिप्त रहने वाला अज्ञामिल भी ईश्वर कृपा से अन्ततः मोक्ष को प्राप्त हो गया। जैन धर्म इस विचार को भ्रामक और असत्य मानता है। इसका यह सिद्धान्त अटल है कि जैसे कर्म होंगे, उनके फल भी निश्चित रूप से वैसे ही होंगे। साथ ही अशुभ कर्मों के फल को भी कोई शक्ति टाल नहीं सकती। सत्य तो यह है कि कर्म स्वयं ही अपना फल देते हैं। अतः जैसा फल इच्छित हो, तदनु रूप ही कर्म किया जाना चाहिये।

“ईश्वर ही फल प्रदान करता है” इस धारणा के पीछे कदाचित्त यह आधार रहा है कि प्रायः देखने में आता है कि अमुकजनों को उनके कर्मानुसार फल नहीं मिलता। और तुरन्त यह धारणा बना ली जाती है कि कर्मों के फल तो जैसे ईश्वर चाहता है वैसे देता है, किन्तु यह तात्कालिक विचार ही कहा जायेगा। अन्तिम सत्य का इसमें अभाव है। कर्मफल या कर्मानुरूप फल के अभाव से ईश्वर को मध्यस्थ या अभिकरण मानना उचित नहीं है। यहाँ यह स्पष्टतः समझ लेना उपयोगी रहेगा कि कर्म की फल प्राप्ति में विलम्ब हो सकता है। संभव है कि कुछ कर्म इसी जन्म में अपने फल देते हैं और कुछ कर्म आगामी जन्म में, यहाँ तक कि कभी-कभी तो फल-प्राप्ति अनेक जन्मों के पश्चात् होती है। उदाहरणार्थ, गजसुकुमाल मुनि को ६६ लाख जन्मों के अनन्तर कर्मों का उग्रफल भोगना पड़ा था। गौतम बुद्ध के पैर में काँटा लग गया था। इस पर उन्होंने कहा कि ८१ जन्म पूर्व मैंने एक व्यक्ति पर भाले का प्रहार किया था। उस अशुभकर्म का फल ही आज मुझे इस रूप में प्राप्त हुआ है। अस्तु, मात्र इस कारण कि कर्मानुसार फल की प्राप्ति तत्काल होते न देखकर यह मानना असंगत है कि फल कर्म के अनुसार नहीं होते, अथवा ईश्वर फल का दाता है। और वह अशुभ कर्मों के भी शुभ फल और शुभ कर्मों के भी अशुभ फल दे सकता है। अशुभ कर्मों का यदि हम शुभ फल भोगते हुए देखते हैं तो इसमें परिस्थिति यह रहती है कि इस समय जो फल भोगा जा रहा है, वह इस समय के कर्मों का फल नहीं है। पूर्वकृत शुभ कर्मों के फल उसे इस समय मिल रहे हैं। चाहे इस समय उसके अशुभ कर्म ही क्यों न हों? और

यह भी सर्वनिश्चित है कि इन अशुभ कर्मों के फलों से भी वह मुक्त नहीं रह सकेगा । इसका भोग उसे करना ही होगा और वह अशुभ ही होगा ।

कर्म और उसके फल के मध्य ईश्वर की सक्रियता को स्वीकार करना उपयुक्त नहीं । ईश्वरवादीजन तो ईश्वर को सर्वशक्तिमान नियंता मानते हैं । ऐसी स्थिति में ईश्वर इस जगत से अशुभ कर्मों को समाप्त ही क्यों नहीं कर देता ? ऐसा क्यों है कि पहले तो वह आत्माओं को दुष्कर्मों में प्रवृत्त करता है और फिर उन अशुभ कर्मों के फलों को शुभ बनाने का काम भी करता है । एक प्रश्न यह भी महत्त्वपूर्ण है कि यदि ईश्वर ही फलदाता है तो कर्मों के फल वह तत्काल ही क्यों नहीं दे देता ताकि दुष्कर्मों के दुष्परिणाम देखकर अन्य जन सन्मार्गी हो सकें ।

एक स्थिति और विचारणीय है । जो पर पीड़क है, हिंसक है उन्हें अधर्मी समझा जाता है और उनके कर्म निन्दनीय तथा अनैतिक स्वीकार किये जाते हैं । वे अन्य प्राणियों को कष्ट देते हैं । यहाँ यह विचारणीय प्रसंग है कि जिन प्राणियों को कष्ट मिल रहा है, क्या वह ईश्वर की इच्छानुसार ही मिल रहा है ? या उन प्राणियों को अपने कर्मों का फल मिल रहा है ? ये हिंसक जन तो ईश्वर की इच्छा को ही पूरा कर रहे हैं फिर इन्हें निन्दनीय क्यों समझा जाय और इनके इन हिंसापूर्ण कार्यों का अशुभ फल इन्हें क्यों मिले ?

इसी प्रकार दान को पुण्य कर्म कहा जाता है । भूखों को अन्नदान करना श्रेष्ठ कर्म है । भूखों को भूख का कष्ट भी तो ईश्वर ने ही दिया होगा फिर ईश्वर की व्यवस्था में किसो व्यक्ति द्वारा हस्तक्षेप करना शुभ कर्म कैसे कहा जा सकता है ? ईश्वर चाहता है कि अमुकजन भूख के कष्ट से पीड़ित रहे और हम उसे कष्ट से मुक्त कर दें तो ईश्वर की अप्रसन्नता ही होगी । ऐसी स्थिति में यह कर्म शुभ कैसे हो सकेगा ? ये सब भ्रामक स्थितियाँ हैं ।

वस्तुतः जैनदर्शन का यह मत असंदिग्ध रूप से यथार्थ है कि न तो कोई कर्ता कर्म के फलों से बच सकता है और न ही किसी स्थिति में फल कर्मानुसार होने से बच सकता है । कोई शक्ति कर्मानुसार फलों को परिवर्तित नहीं कर सकती । ईश्वर भी नहीं ।

### जैन दर्शन और भाग्यवाद :

कर्म की प्रधानता से ऐसा आभास होने लगता है कि जैन दर्शन में भाग्यवाद का प्राबल्य है । व्यक्ति का यह जीवन समग्र रूप से पूर्व निर्धारित एवं अपरिवर्तनीय हो—यह भाग्यवाद का प्रभाव है । यदि कर्मफल को ही भोगते हुए



उसे अपने जीवन को व्यतीत करना है तब तो जो कुछ पूर्व कर्मों द्वारा निर्धारित हो चुका है, जीवन का स्वरूप वैसा ही रहेगा। फिर जैनदर्शन के भाग्यवादी होने में क्या आशांका हो सकती है? इस प्रकार के प्रश्नों का उठना सहज ही है। यह निश्चित है कि कर्म का फल मनुष्य को भोगना ही पड़ता है और ये फल पूर्व निर्धारित होते हैं किन्तु साथ ही जैन दर्शन जीवन के स्वरूप-गठन में कर्म के साथ-साथ पुरुषार्थ की भूमिका को भी समान ही महत्त्व देता है। प्रारब्ध का होना तो इस दर्शन में माना ही जाता है किन्तु यह भी माना जाता है कि व्यक्ति अपने इसी जीवन के कर्मों द्वारा इसी जीवन के लिये सुख-दुःखादि का विधान भी कर सकता है। ये कर्म अविलम्ब फल देने वाले होते हैं और यही पुरुषार्थ है।

जैन दर्शन को एकांगी रूप से भाग्यवादी नहीं कहा जा सकता। पिछले कर्मों के फल विधान स्वरूप जो व्यवस्था निर्धारित हो जाती है वैसा ही मनुष्य का यह जीवन होता है और यह व्यवस्था अज्ञात भाग्य के नाम से जानी जाती है। जीवन धारण करते समय आत्मा का जो कर्म समुदाय होता है वह अपने फलानुसार एक रूप रंग, भावी जीवन के लिये तैयार कर देता है। यदि व्यक्ति भाग्यवादी ही रहा तो वह पूर्वकृत कर्मों के फल ही भोगता रह जाता है। इसके विपरीत यदि व्यक्ति पुरुषार्थ-प्रयोग द्वारा अपने जीवन को इच्छित रंग, रूप देने लगता है तो उसके ये नये कर्म जीवन को पूर्व विधान की अपेक्षा कुछ और ही कर देते हैं। ये कर्म तुरंत और इसी जीवन में फल देने वाले होते हैं। यही कारण है कि जीवन का पूर्व निर्धारित रूप पिछड़ जाता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि व्यक्ति अपने पुरुषार्थ द्वारा भी पूर्व कर्मों के फलों को स्थगित नहीं कर पाता। वे फल तो उसे भोगने ही पड़ेंगे। जब पुरुषार्थ दुर्बल हो जायगा यह कर्मफल उदित होने लगता है। ये कर्मफल बीच-बीच में पुरुषार्थ के फलों को भी अनुकूल-प्रतिकूल रूप से प्रभावित करते रहते हैं।

#### कर्मचक्र और उसका स्थगन :

कर्म के संबंध में जीवन को किसी उपन्यास के कथानक के समतुल्य कहा जा सकता है। कथानक की एक घटना अपने पहले वाली घटना के परिणाम स्वरूप ही घटित होती है और यह परिणाम स्वरूप घटित घटना भी आगामी घटना के लिए आधार बनती है। कर्मचक्र भी इसी प्रकार गतिशील रहता है। जैसे बीज से वृक्ष और वृक्ष का परिणाम पुनः बीज रूप में प्रकट हो जाता है। कर्म के परिणाम स्वरूप फल उदित होते हैं। इन कर्मों को भोगते-भोगते आत्मा द्वारा कुछ कर्म और अर्जित हो जाते हैं जो कालान्तर में अथवा आगामी जन्म में अपने फल देते हैं।

स्पष्ट है कि इससे तो आत्मा कर्माधीन लगती है। आत्मा स्वतंत्र नहीं है कर्म करने के लिए। अब यहाँ यह प्रश्न भी विचारणीय हो जाता है कि कर्म

और आत्मा में कौन अपेक्षाकृत अधिक बलवान है ? हम सामान्यतः पाते हैं कि आत्मा कर्मों के फल भोगने में लगी रहती है और एक के बाद एक जन्म ग्रहण करती रहती है। ये कर्म ही हैं जो आत्मा को काम, क्रोध, मोहादि मलों में लिप्त कर देते हैं। कर्म ही किसी आत्मा को उज्ज्वल हो सकने का अवसर देते हैं। इन परिस्थितियों में कर्म की सबलता दिखायी देती है। कर्म ही आत्मा पर हावी रहते हैं—ऐसा प्रतीत होता है।

पर यथार्थ में कर्म की शक्ति कुछ नहीं है। आत्मा ही बलवान है। आवश्यकता इस बात की है कि आत्मा को तेजोमय और अोजपूर्ण किया जाय फिर तो आत्मा कर्म पर नियंत्रण करने की पात्रता अर्जित कर लेगी। आत्मा द्वारा बाह्य कर्मों के प्रवेश को निषिद्ध किया जा सकता है। यह आत्मा ही है जो अपने बंधन कर्मचक्र को स्थगित कर सकती है, काट सकती है। आत्मा की कर्मों पर विजय ही तो मोक्ष प्राप्ति है। कर्म क्षय की योग्यता जब आत्मा में है तो कर्म निश्चित ही आत्मा की अपेक्षा निर्बल हैं।

हाँ, कर्म का परिणाम फल और फल का परिणाम कर्मरूप में उदित अवश्य होता है और इस प्रकार कर्मचक्र अजस्र गति से चलता रहता है किन्तु उपयुक्त पात्रता पाकर आत्मा इस गति को समाप्त कर देती है। संयम और तप से आत्मा को यह शक्ति प्राप्त होती है। कर्मचक्र की अटूट गति से यह नहीं समझना चाहिये कि प्रत्येक आत्मा के लिए उसका यह क्रम शाश्वत ही रहेगा। वस्तुतः आत्मा कर्मचक्र में ग्रस्त कैसे होती है, इस प्रसंग को समझना इस सारे प्रसंग को सुगम बना सकता है। राग, द्वेष, माया, लोभ, क्रोधादि आवेगों के कारण आत्मा कर्म के बंधनों में बद्ध हो जाती है। व्यक्ति चाहे तो अपनी आत्मा को इस बंधन से मुक्त रख सकता है। उसे इन विकारों से ही बचना होगा। यह भी सत्य है कि एक बार आबद्ध हो जाने पर भी वह स्वयं अपने प्रयास से मुक्त हो सकता है। ऐसे संकल्पधारियों के लिए भगवान् महावीर का यह संदेश परम सहायक सिद्ध हो सकता है कि “आत्मा का हित चाहने वाला पापकर्म बढ़ाने वाले क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार विकारों को छोड़ दे।”

क्रोध, मान, माया, लोभ ये वे मूल कारण हैं जिनके परिणामस्वरूप कर्म अस्तित्व में आते हैं। जब ये ही नष्ट कर दिये जाते हैं तो इनकी नींव पर अवस्थित कर्म-अट्टालिका स्वतः ही ध्वस्त हो जाती है। क्रोध को नष्ट करने के लिये क्षमा, मान को नष्ट करने के लिए कोमलता का व्यवहार प्रभावकारी रहता है। इसी प्रकार माया पर सादगी से और लोभ पर संतोष से विजय प्राप्त की जा सकती है।

वस्तुतः भावकर्म से द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म से भावकर्म उदित होते रहते हैं। यही शृंखला अजस्रता के साथ चलती रहती है और परिणामतः यह चक्र

अबाधित असामान्य गति वाला दिखायी देने लग जाता है । द्रव्य कर्म भोगते समय यदि भावकर्म उत्पन्न ही न होने दिये जाँय तभी यह सिलसिला रुक सकता है । पूर्वकृत कर्मों के फल भोगते समय जो कर्म हो जाते हैं वे पुनः आगामी फलों का पूर्वनिर्धारण कर देते हैं । यदि फल भोग के समय हम समभाव रखें, उनके प्रति आत्मा में राग-द्वेष न आने दें तो नवीन कर्म बंधन अस्तित्व में नहीं आयेंगे । अजस्र गतिशील प्रतीत होने वाला यह कर्मचक्र रुक जायेगा । इस प्रकार सर्वथा कर्मक्षय कर आत्मा अनंतसुख मोक्ष की स्थिति प्राप्त कर सकती है । यह लक्ष्य मनुष्य साधना से स्वयं ही प्राप्त करता है । कोई अन्य शक्ति उसे यह सद्गति नहीं प्रदान कर सकती । आत्मा का अजेय वर्चस्व कर्म सिद्धान्त द्वारा स्थापित होता है । व्यक्ति स्वयं ही अपना भाग्य निर्माता है । कर्म उसके अस्त्र हैं । कर्मों के सहारे वह स्वयं को जैसा बनाना चाहे बना सकता है ।



## सर्वथा

एक जो नार शृंगार करे नित, एक भरे है परघर पाणी ।  
 एक तो ओढ़त पीत पीताम्बर, एक जो ओढ़त फाटी पुरानी ॥  
 एक कहावत बांदी बड़ारण, एक कहावत है पटराणी ।  
 कर्म के फल सब देख लिये, अब ही नहीं चेते रे मूरख प्राणी ॥

## कवित्त

रुजगार बरो नांय, धन्न नहीं घरमांय,  
 खाने को फिकर बहु, नार मांगे गहणो ।  
 लेगायत फिर-रे जाय, उधारो मिलत नांय,  
 आसामी मिल्या है चोर, देवे नहीं लेवणो ॥  
 कुपुत्र जुवारी भया, धर खर्च बढ़ गया,  
 सपूत पुत्र मर गया, ज्यां को दुख सहणो ।  
 पुत्री ब्याव योग भई, परणाई सोविधवा थई,  
 तो भी ना आयो वैराग, बीने कांई केवणो ॥

**पुण्य-पाप का अर्थ एवं व्याख्या :**

जेन दर्शन में सामान्यतः “शुभः पुण्यस्य, अशुभः पापस्य ।”<sup>१</sup> कहकर शुभ कर्म को पुण्य व अशुभ कर्म को पाप बताया है। पुण्य वह है जो आत्मा को पवित्र करे, जिससे सुख रूपी फल की प्राप्ति हो। इसके विपरीत पाप वह है जिससे आत्मा दूषित होती हो और दुःख रूप फल की प्राप्ति हो। पुण्य से आत्मा का उत्थान होता है और वह मोक्ष मार्ग में सहायक हेतु होता है जबकि पाप आत्मा का पतन करता है और मोक्ष मार्ग में बाधक बनता है। वह एकान्त हेय है। पुण्य से इच्छित, इष्ट व अनुकूल संयोग एवं सामग्री मिलती है जब कि पाप से प्रतिकूल व अनिष्ट संयोग एवं सामग्री की प्राप्ति होती है।

**पुण्य की उपादेयता-हेयता :**

आचार्य अमृतचन्द्र का कथन है कि पारमार्थिक दृष्टि से पुण्य-पाप दोनों में भेद नहीं किया जा सकता है। कारण दोनों ही अन्ततोगत्वा बन्धन हैं।<sup>२</sup> पं. जयचन्द्रजी ने भी ऐसा ही कथन किया है।

“पुण्य-पाप दोऊ करम बन्ध रूप दुह मानि ।

शुद्ध आत्मा जिन लड्यो, नमु चरण हित जानि ॥<sup>३</sup>

पुण्य निश्चय दृष्टि से हेय है। इसकी पुष्टि सुश्रावक विनयचन्द्रजी ने भी निम्न प्रकार की है :—

“जीव, अजीव, बन्ध ये तीनों, ज्ञेय पदारथ जानो ।

पुण्य-पाप आस्रव परिहरिये, हेय पदारथ मानो रे ॥

सुज्ञानी जीवा भजले रे, जिन इकवीसवां ॥४॥”<sup>४</sup>

१—तत्त्वार्थ सूत्र अ. ६, सू. ३-४ ।

२—प्रवचन सार टीका १/७२ ।

३—समयसार टीका पृ. २०७ ।

४—विनयचन्द्र चौबीसी ।

किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से विचार करने पर पुण्य को एकान्त हेय नहीं माना जा सकता है। पुण्य को 'सुशील' और पाप को 'कुशील' कहा है।<sup>१</sup> पुण्य आत्मा के लिए संसार-समुद्र तिरने में जहाज के समान उपयोगी है। जैसे समुद्र का तट आने पर जहाज यात्रियों को किनारे उतार देता है, वैसे ही पुण्य भी मोक्ष प्राप्ति के मार्ग में सहायक ही अंत में जब उसकी उपयोगिता नहीं रहती वह स्वतः आत्मा से अलग हो जाता है। पुण्य आत्मा का अंगरक्षक सेवक है जो मोक्ष प्राप्ति से पूर्व तक उसका स्वामिभक्त सेवक की तरह पूरा सहयोग करता है और अनुकूल साधन जुटाता है। जैसे मिट्टी पात्र पर लगे मैल को साफ कर स्वयं मैल के साथ ही पात्र से दूर हो जाती है, वैसे ही पुण्य पाप-कर्म का निराकरण कर स्वयं दूर हो जाता है। इसी कथन को संस्कृत में कहा है—

“मलं पात्रो पसंसृष्टम्, अपनीय यथा हि मृत् ।  
स्वयं विलयंतामाति, तथा पापापहं शुभम् ॥”<sup>२</sup>

पुण्य को साबुन की उपमा भी दी जा सकती है। जैसे साबुन वस्त्र के मैल के साथ स्वतः छूट जाता है वैसे ही पुण्य, आत्मा पर लगे पाप मैल को दूर कर स्वयं भी अलग हो जाता है। जिस तरह एरण्ड बीज या कस्ट्रायल आदि रेचक औषधि मल के रहने तक उदर में रहती है, मल निकलने पर वह भी निकल जाती है, उसी तरह पाप की समाप्ति के बाद पुण्य भी अपना फल देकर निश्चित रूप से बिना आगे कर्म-संतति को बढ़ाए आत्मा से विदा ले लेता है। इसीलिए व्यक्ति को पाप कर्म से बचना आवश्यक है। जब वह अशुभ कर्म से ऊपर उठ जाता है तो उसका शुभ कर्म भी (कषायाभाव में) शुद्ध कर्म बन जाता है। इसी कारण कषाय रहित जो कर्म प्रवृत्ति होती है उसे ईर्या पथिक (शुद्ध) कहा है।

पुण्य के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि पुण्य की सद्-क्रियाएँ जब अनासक्त भाव (कषाय रहित भाव) से की जाती हैं तो वे शुभ बन्ध का कारण न होकर कर्म क्षय (निर्जरा) का कारण बन जाती हैं। इसके विपरीत संवर निर्जरा के कारण संयम और तप की शुद्ध क्रियाएँ भी जब आसक्त भाव से फलाकांक्षा (निदान करके) से की जाती हैं तो वे कर्म क्षय का या निर्वाण का कारण न होकर कर्म बन्धक और संसार वर्धक बन जाती हैं। उनसे फिर भले ही पौद्गलिक सुख भोग प्राप्त हो जाय किन्तु वे द्रव्य से संवर-निर्जरा की क्रियाएँ होकर भी भाव से कर्म बन्धक हो जाती हैं। इसीलिए कहा है—“जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा ॥”<sup>३</sup> कर्म सिद्धान्त के

१—समयसार १/४५-४६ ।

२—अमर भारती १/७८, पृ. ४ ।

३—आचारांग १/४/२ ।

अनुसार अशुभ से सीधे शुद्ध की प्राप्ति नहीं होती वरन् अशुभ से शुभ और शुभ से शुद्ध की प्राप्ति होती है। इस दृष्टि से भी पुण्य शुद्ध की प्राप्ति में सहायक होने से शुद्ध की प्राप्ति न होने तक उपादेय मानना उचित एवं तर्कसंगत है।

**क्या पुण्य-पाप स्वतंत्र तत्त्व हैं ?**

‘उत्तराध्ययन’ सूत्र में नव तत्त्वों (पदार्थों) का वर्णन है, उसमें पुण्य व पाप को स्वतंत्र तत्त्व के रूप में प्ररूपित किया गया है।<sup>१</sup> किन्तु ‘तत्त्वार्थ सूत्र’ में उमास्वति ने पुण्य-पाप को छोड़ जीव, अजीव, आस्रव, संवर, बन्ध और मोक्ष इन सातों को ही तत्त्व प्ररूपित किया है।<sup>२</sup> दिगम्बर जैन परम्परा में ये सात तत्त्व ही माने गए हैं। किन्तु यह मत भेद विशेष महत्त्व का नहीं है। कारण जो परम्परा पुण्य-पाप को स्वतंत्र तत्त्व नहीं मानती है, वह उन्हें आस्रव के अन्तर्गत स्वीकारती है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से चिन्तन करें तो पुण्य-पाप मात्र आस्रव (आत्मा में कर्म आने का हेतु) ही नहीं वरन् उनका बन्ध भी होता है और विपाक (फल) भी होता है। अतः आस्रव के मात्र दो विभाग-अशुभास्रव और शुभास्रव करने से उद्देश्य पूरा नहीं होता वरन् फिर आस्रव के बन्ध और विपाक के भी दो भेद शुभाशुभ के करने होंगे। इस वर्गीकरण और भेदाभेद की कठिनाई से बचने हेतु पुण्य-पाप को आगमों में दो स्वतंत्र तत्त्व प्ररूपित करना युक्ति एवं तर्कसंगत लगता है। अतः पुण्य-पाप को स्वतंत्र तत्त्व ही मानना उचित है।

**पुण्य-पाप बन्धन के कारण :**

कर्म सिद्धान्त के अनुसार बन्धन का मूल कारण आस्रव है। आस्रव शब्द क्लेश या मल का बोधक है। आत्मा में क्लेश या मल ही कर्म वर्गणा के पुद्गलों को आत्मा के साथ जोड़ने में हेतु होता है। इसी कारण से जैन परम्परा में आस्रव का सामान्य अर्थ कर्म वर्गणाओं का आत्मा में आना माना है। यह आस्रव भी दो प्रकार का है—(i) भावास्रव—आत्मा में विकारी भावों का आना, (ii) द्रव्यास्रव—कर्म परमाणुओं का आत्मा में आना। दोनों परस्पर कार्य-कारण सम्बन्ध से जुड़े हैं। वैसे मन, वचन एवं काया की प्रवृत्तियाँ ही आस्रव हैं।<sup>३</sup> आस्रव का आगमन योग से तथा बन्ध मिथ्यात्व, अत्रत, कषाय व प्रमाद से होता है। ‘तत्त्वार्थ सूत्र’ में आस्रव को दो प्रकार से इस प्रकार भी कहा है—

१—उत्तरा. सू. २८/१४।

२—तत्त्वार्थ सूत्र १/४।

३—तत्त्वार्थ सूत्र ६/१-२।

(i) **ईर्यापथिक**—कषाय रहित जिसमें मात्र योगों के स्पंदन से क्रिया आने ।

(ii) **साम्परायिक**—कषाय सहित जो क्रियाएँ की जावें, उससे आत्मा में आने वाला कर्मास्त्रिब जो बन्ध रूप होता है ।<sup>१</sup>

इस साम्परायिक आस्त्रव के कारण कुल अड़तीस हैं जो निम्न प्रकार हैं :—

- (१-५) हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन व परिग्रह ।
- (६-९) चार कषाय (क्रोध, मान, माया व लोभ) ।
- (१०-१४) पाँच इन्द्रियों के विषयों का सेवन ।
- (१५-३८) चौबीस साम्परायिक क्रियाएँ (पच्चीस क्रियाओं में ईर्या पथिक को छोड़कर) ।

पुण्य-पाप की सम्यग् अवधारणा हेतु कर्म प्रकृतियाँ, उनमें पुण्य व पाप प्रकृतियाँ कौन-कौन सी हैं ? तथा पुण्य व पाप प्रकृतियों के बन्ध कितने प्रकार से होते हैं ? यह भी जानना आवश्यक है । अतः संक्षेप में यहाँ इस पर भी प्रकाश डाला जाता है ।

### कर्म प्रकृतियाँ :

मूल आठ कर्म प्रकृतियाँ हैं जिनकी कुल १५८ प्रकृतियाँ हैं जो इस प्रकार हैं—

कर्मनाम	अर्थ	प्रकृतियाँ
१. ज्ञानावरणीय	—आत्मा की ज्ञान शक्ति को कुण्ठित करता है । जैसे सूर्य को मेघाच्छादित करता है ।	५
२. दर्शनावरणीय	—आत्मा की देखने व अनुभव करने की शक्ति को जो कुण्ठित करता है । जैसे राजा के दर्शन में द्वारपाल बाधक होता है ।	९
३. वेदनीय	—आत्मा की अव्याबाध सुख शान्ति को बाधित करता है । और लौकिक सुख-दुःख का संवेदन कराता है । जैसे शहद लगी या अफीम लगी तलवार को चखने से जिह्वा भीठे-कड़वे का आस्वादन करते स्वयं घायल हो जाती है ।	२

२—तत्त्वार्थ सूत्र ६/३-५ ।

४. मोहनीय —आत्मा की यथार्थ दृष्टि एवं सम्यग् आचरण (स्व स्वभाव प्रवर्तन) की शक्ति को कुण्ठित करता है। जैसे मदिरा सेवन व्यक्ति को बे भान कर देता है। २८
५. आयुष्य —आत्मा की अमरत्व शक्ति को कुण्ठित कर योनि एवं आयुष्य का निर्धारण करता है। जैसे कैदी और जेल का दृष्टान्त। ४
६. नाम —आत्मा की अमूर्तत्व शक्ति को कुण्ठित करता है। यह व्यक्तित्व (शरीर रचना सुन्दर-असुन्दर) का निर्माण करता है। जैसे चित्रकार का दृष्टान्त। १०३
७. गोत्र —आत्मा की अगुरुलघु शक्ति को कुण्ठित करता है। यह प्राणी को ऊँचा-नीचा बनाता है। जाति, कुल, वंश आदि की अपेक्षा से। जैसे कुम्भकार विभिन्न प्रकार के कुम्भ बनाता है। २
८. अंतराय —आत्मा की अनन्त शक्ति को कुण्ठित करता है। यह उपलब्धि में बाधक बनता है। जैसे अधिकारी द्वारा भुगतान का आदेश देने पर भी रोकड़िया भुगतान में रोक लगा देता है। ५

कुल प्रकृतियाँ

१५८

इस प्रकार आठ कर्मों की कुल १५८ अवान्तर प्रकृतियाँ हैं। इनमें पुण्य एवं पाप की प्रकृतियों का विवरण नीचे दिया जाता है—

**पुण्य प्रकृतियाँ**—(१) वेदनीय की १ (साता वेदनीय), (२) आयुष्य ३ (नरकायु छोड़), (३) नाम ३७ [गति २ (देव, मनुष्य), पंचेन्द्रिय १, शरीर ५, अंगोपांग ३, वज्र ऋषभ संहनन १, सम चतुरस्र संस्थान १, शुभ वर्ण, गंध, रस, स्पर्श ४, आनुपूर्वी २ (देव, मनुष्य), अगुरु लघु १, पराघात १, उश्वास १, आताप १, उद्योत १, शुभ विहायोगति १, निर्माण १, तीर्थकर १, त्रसदशक १०] (४) गोत्र १ (ऊँच)। इस प्रकार कुल ४२ पुण्य प्रकृतियाँ (पुण्य भोगने की) मानी गई हैं।<sup>१</sup> किन्तु 'तत्त्वार्थ सूत्र' के अनुसार उक्त प्रकृतियों के अलावा कुछ मोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ भी पुण्य प्रकृतियों में ली गई हैं। वे इस प्रकार हैं—

१—नव तत्त्व से।



'सद्वेद्य सम्यक्तव हास्यरति पुरुष वेद शुभायुर्नाम गोत्राणि पुण्यम्'<sup>१</sup> अर्थात् साता वेदनीय, समकित मोहनीय, हास्य, रति, पुरुष वेद, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र ये पुण्य प्रकृतियाँ हैं, अन्य सब पाप प्रकृतियाँ हैं ।

**पुण्य प्रकृतियाँ बन्धने के हेतु :**

पुण्य प्रकृतियाँ नव प्रकार से बन्धती हैं, यथा—(१) अन्न पुण्य—अन्न दान करने से, (२) पान पुण्य—पानी या पीने की वस्तु देने से, (३) वस्त्र पुण्य—वस्त्र देने से, (४) लयन पुण्य—स्थान देने से, (५) शयन पुण्य—बिछाने के साधन देने से, (६) मन पुण्य—मन से शुभ भावना करने से, (७) बचन पुण्य—शुभ बचन बोलने से, (८) काया पुण्य—शरीर से शुभ कार्य करने से तथा (९) नमस्कार पुण्य—बड़ों व योग्य पात्रों को नमस्कर करने से ।

**पाप प्रकृतियाँ :**

कुल ८२ प्रकृतियाँ पाप भोगने की हैं, जो इस प्रकार हैं—[१] ज्ञाना-वरणीय ५ (समस्त), [२] दर्शनावरणीय ६ (समस्त), [३] वेदनीय १ (असाता), [४] मोहनीय २६ (समकित व मिश्र मोहनीय को छोड़), [५] आयुष्य १ (नरकायु). [६] नाम ३४ (५ संहनन+५ संस्थान+१० स्थावर दशक+२ नरक द्विक+२ तिर्यच द्विक+४ चार इन्द्रिय (एकेन्द्रिय से चतुरेन्द्रिय)+४ अशुभ वर्ण, गंध, रस, स्पर्श+१ उपघात+१ अशुभ विहायोगति), [७] गोत्र १ (नीच गोत्र), [८] अन्तराय ५ (समस्त) ।

इस प्रकार ये ८२ प्रकृतियाँ पाप वेदन करने की मानी गई हैं ।<sup>२</sup> पुण्य की ४२ और पाप की ८२ दोनों मिलाकर १२४ प्रकृतियाँ होती हैं । शेष ३६ प्रकृतियाँ रहती हैं । इनमें २ प्रकृति मोहनीय की (समकित मोहनीय व मिश्र मोहनीय) व ३२ प्रकृतियाँ नाम कर्म की (बन्धन नाम १५, ५ शरीर संघात, ३ वर्ण, ३ रस, ६ स्पर्श) सम्मिलित नहीं की गई हैं । दर्शन मोहनीय त्रिक (समकित, मिश्र व मिथ्यात्व मोहनीय) का बन्ध एक होने से दर्शन मोह की दो प्रकृतियाँ छोड़ दी गई हैं तथा नाम कर्म की शेष ३२ प्रकृतियाँ शुभाशुभ छोड़कर मानी गई हैं जिससे इन्हें पुण्य-पाप प्रकृतियों में नहीं लिया गया है ।

पुण्य-पाप प्रकृतियों पर चिंतन करने से स्पष्ट होता है कि तिर्यच आयु को पुण्य प्रकृति में लिया है जबकि तिर्यच गति व तिर्यचानुपूर्वी को पाप प्रकृतियों में । ऐसा क्यों ? इसका कारण यह प्रतीत होता है कि तिर्यच भी मृत्यु नहीं चाहते । विष्ठा का कीड़ा भी मरना नहीं चाहता । इस अपेक्षा तिर्यचायु को पुण्य प्रकृति माना गया है । शेष ज्ञानी कहें, वही प्रमाण है ।

१—तत्त्वार्थ सूत्र ८-२६ ।

२—नव तत्त्व से ।

**पाप प्रकृति बान्धने के हेतु :**

पाप प्रकृतियाँ १८ प्रकार से बन्धती हैं। इन्हें अठारह पाप भी कहते हैं जो इस प्रकार हैं—(१) प्राणातिपात, (२) मृषावाद, (३) अदत्तादान, (४) मैथुन, (५) परिग्रह, (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह, (१३) अभ्यास्थान, (भूठा कलंक लगाना), (१४) पैशुन्य (चुगली), (१५) पर परिवाद, (१६) रति-अरति, (१७) माया-मृषावाद, (१८) मिथ्या दर्शन शल्य।

**पुण्य-पाप के कुछ विशिष्ट कर्मबंध व उनके फल :**

यह भलीभाँति समझने हेतु कि पुण्य-पाप के विविध कर्मों के कैसे परिणाम होते हैं, यहाँ कुछ विशिष्ट उदाहरण जो ग्रंथों में मिलते हैं, दिये जाते हैं।

**(अ) शुभ (सुखदायक) कर्म व उनके फल :**

- (i) परोपकार या गुप्त दान से अनायास लक्ष्मी मिलती है।
- (ii) सुविधा दान से मेधावी होता है।
- (iii) रोगी, वृद्ध, ग्लान आदि की सेवा से शरीर निरोगी व स्वस्थ मिलता है।
- (iv) देव, गुरु, धर्म की विशिष्ट भक्ति से तीर्थंकर गोत्र का बन्ध होता है।
- (v) जीव दया से सुख-सामग्री मिलती है।
- (vi) वीतराग संयम से मोक्ष मिलता है जबकि सराग संयम देव गति का कारण होता है।

**(ब) अशुभ (दुःखदायक) कर्म व उनके फल :**

- (i) हरे वृक्षों के काटने-कटाने से व पशुओं के वध से संतान नहीं होती है।
- (ii) गर्भ गलाने से या गिराने से बांझपना प्राप्त होता है।
- (iii) कंद मूल या कच्चे फलों को तोड़े या तुड़ावे तथा उनमें खुशी मनाते खावे तो गर्भ में ही मृत्यु को प्राप्त होता है या अल्पायुष्य वाला होता है।
- (iv) मधु मक्खियों के छाते जलाने या तुड़ाने से या देव, गुरु की निन्दा से प्राणी अंधे, बहरे व गूंगे होते हैं।
- (v) पर स्त्री पुरुष सेवन से पेट में पथरी जमती है।

- (vi) पति को सताकर सती का ढोंग करने से बाल विधवा होती है ।  
 (vii) नियम लेकर भंग करने से लघु वय में स्त्री/पति का वियोग होता है ।  
 (viii) किसी की संतान का वियोग करने से लघुवय में माता-पिता मर जाते हैं ।  
 (ix) दम्पती में झगड़ा कराने से पति/पत्नी में प्रेम नहीं होता है ।

### पुण्य-पाप के चार रूप :

पुण्य-पाप के स्वरूप को भलीभाँति समझने हेतु इनके चार रूपों को भी समझना आवश्यक है, जो इस प्रकार हैं—

(१) पुण्यानुबंधी पुण्य—वह दशा जिसमें पुण्य का उदय हो और साथ ही प्रवृत्ति भी उत्तम हो जिससे ऐसे पुण्य का अर्जन भी होता रहे कि जो समुज्ज्वल भविष्य का कारण बने ।<sup>१</sup> इस प्रकार के जीव वर्तमान में सुखी रहते हैं और भविष्य में भी सुखी होते हैं । यह जीव को शुभ से शुभतर की ओर ले जाता है ।<sup>२</sup> यह ज्ञान सहित और निदान रहित, धर्म का आचरण करने से अर्जित होता है । अर्थात् शुद्ध रीति से श्रावक या साधु धर्म के पालन से पुण्यानुबंधी पुण्य का अर्जन होता है । इसका महानतम् फल तीर्थकरत्व है तथा उससे उतरता फल मोक्ष पाने वाले चक्रवर्ती रूप होता है । श्री हरिभद्र सूरि ने लिखा है—जिसके प्रभाव से शाश्वत सुख और मोक्ष रूप समस्त सम्पदा की प्राप्ति हो ऐसे पुण्यानुबंधी पुण्य का मनुष्यों को सभी प्रकार से सेवन करना चाहिए अर्थात् श्रावक और साधु के धर्म का विशेष रूप से पालन करना चाहिए ।

(२) पापानुबंधी पुण्य—जो पूर्व पुण्य का सुख रूप फल पाते हुए वर्तमान में पाप का अनुबंध कर रहे हैं, वे इस भेद में आते हैं । ऐसे प्राणी पाप करते हुए भी पूर्व पुण्योदय से सुखी व समृद्ध होते हैं जिससे सामान्य प्राणियों को संदेह होता है कि पाप करके भी सुखी रहते हैं तो फिर धर्म करना व्यर्थ है । किन्तु वे नहीं जानते कि वर्तमान में जो सुख मिल रहा है वह पूर्व के पुण्य का फल है । जब वह समाप्त होता है तो ऐसे प्राणियों की दुर्गति निश्चित होती है । हिटलर, मुसोलिनी इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं । आगमों में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का उदाहरण आता है जो चक्रवर्ती होकर भी पाप का संचय कर नरक में गया । इस प्रकार जो पुण्य वर्तमान में सुख रूप फल देकर भी भविष्य को दुष्प्रवृत्ति से अंधकारमय

१—मोक्षमार्ग पृ. ५७४ ।

२—श्री हरिभद्र सूरि कृत अष्टक प्रकरण के २४वें अष्टक में ।

बनावे, दुर्गति में ले जावे, जीव को पतनोन्मुख करे, उसे पापानुबंधी पुण्य कहते हैं ।

(३) पुण्यानुबंधी पाप—पूर्व भव में किए पाप रूप अशुभ कर्मों का फल पाते हुए भी जो शुभ प्रवृत्ति से पुण्य बंध करावे, उसे पुण्यानुबंधी पाप कहते हैं । इस भेद में चण्डकौशिक सर्प का उदाहरण प्रसिद्ध है । पाप का उदय होते हुए भी भगवान् महावीर के निमित्त से उसने शुभ भावों में प्रवृत्ति कर शुभ का बंध कर लिया । पाप स्थिति में रहकर भी पुण्य का अर्जन कर लेना, भविष्य को समुज्ज्वल बना लेना, इस भेद का लक्ष्य है । नंदन मरिण्यार का जीव मेंढक भी इसी भेद में आता है जो तिर्यंच भव में श्रावक धर्म की साधना कर देवगति का अधिकारी बना और अंत में मोक्ष प्राप्त करेगा ।

(४) पापानुबंधी पाप—पूर्व भव के पाप से जो यहाँ भी दुःखी रहते हैं और आगे भी दुःख (पाप कर्म) का संचय करते हैं । कुत्ता, बिल्ली, सिंहादि हिंसक व क्रूर प्राणी इसी भेद में आते हैं । तंदुल मत्स्य इसका उदाहरण है जो थोड़े से जीवन में ही सातवीं नारक का बंध कर लेता है । कसाई आदि भी इसी भेद में समाहित होते हैं ।

उपर्युक्त प्रकार से पुण्य-पाप बंध के चार प्रकार माने गए हैं । इनमें पुण्यानुबंधी पुण्य साधक के लिए सर्वोत्तम एवं उपादेय है । पापानुबंधी पाप एवं पापानुबंधी पुण्य दोनों हेय हैं । पुण्यानुबंधी पाप शुभ भविष्य का निर्माता होने से वह भी साधक के लिए हितकारी है । जब तक समस्त कर्म क्षय नहीं होते सभी जीवों को इन चार भेदों में से किसी न किसी भेद में रहना ही होता है ।

**तत्त्व दृष्टि से पुण्य-पाप की अवधारणा :**

तत्त्व दृष्टि से विचार करें तो पुण्य-पाप दोनों ही पुद्गल की दशाएँ हैं जो अस्थायी, परिवर्तनशील एवं अंत में आत्मा से विलग होने वाली होती हैं । कहा भी है—

“पुण्य-पाप फल पाय, हरख-बिलखो मत भाय ।

यह पुद्गल पर्याय, उपज, नासत फिर थाय ॥”<sup>१</sup>

अतः पुण्योदय में हषित होना व पापोदय में विलाप करना दोनों ही ज्ञानियों की दृष्टि में उचित नहीं है । पुण्य-पाप बंध का मुख्य आधार भाव है । कषायों की मंदता में पुण्य प्रकृतियों का और तीव्र कषायों में पाप प्रकृतियों का बंध होता है । शुभ अध्यवसायों में कषाय मंद रहती है । मंद कषाय में यदि योग प्रवृत्ति भी मंदतम रहे तो जघन्य कोटि का शुभ बंध होता है और तीव्र, तीव्रतर

और तीव्रतम रहे तो रस एवं योग की तीव्रता में पुण्य-बंध भी मध्यम और उत्कृष्ट श्रेणी का होता है। जैसे ज्ञान सहित देव गुरु के प्रति भक्ति भाव की तन्मयता भी तीर्थंकर गोत्र बंधने का एक कारण है। ऐसे समय कषायों की मंदता किन्तु योगों की तीव्रतम प्रवृत्ति होती है जिससे शुभ का उत्कृष्ट बंध हो जाता है।

एकेन्द्रिय जीवों के केवल काय-योग ही है और वह भी जघन्य प्रकार का। उनमें शुभाशुभ अध्यवसाय भी मंद होते हैं कारण बिना मन के विशेष तीव्र अध्यवसाय नहीं हो सकते। इस कारण वे न तो इतना पुण्य अर्जन कर सकते हैं कि मरकर देव हो सकें और न इतना पाप अर्जन कर सकते हैं कि मरकर नरक में चले जावें। वे साधारणतया अपनी काया या जाति के योग्य ही शुभाशुभ कर्म बंध करते हैं। यदि अध्यवसायों की शुद्धि हुई तो विकलेन्द्रिय या पंचेन्द्रिय हो जाते हैं। विकलेन्द्रिय भी मन के अभाव में अधिक आगे नहीं बढ़ सकते।

पुण्य-पाप में भी भाव प्रधान है। भावों के परिवर्तन से पुण्य क्रिया से पाप और पाप क्रिया से भी पुण्य का बंध संभव है। कभी-कभी शुभ भाव से किया कृत्य भी विवेक के अभाव में अशुभ परिणाम वाला हो सकता है। जैसे देवी देवता की मूर्ति के आगे पूजा-हवन एवं बलिदान में बकरा, पाड़ा आदि प्राणियों का वध देव पूजा की शुभ भावना से किया जाता है। वध करने वालों का उन बलि किए जाने वाले प्राणियों के प्रति कोई द्वेष भाव भी नहीं होता। वे अपना धर्म मानते हुए प्रसन्नता से बलि करते हैं। फिर भी मिथ्यात्व, हृदय की कठोरता, निर्दयता एवं विवेक हीनता के चलते उन्हें प्रायः अशुभ कर्म बंधते हैं। उनके तथाकथित शुभ विचारों का फल अत्यल्प होने से उसका कोई महत्त्व नहीं।

विवेकपूर्वक शुभभावों से दान देने से पुण्य बंध होता है। भले ही दी हुई वस्तु का दुरुपयोग हो तो भी पाप बंध की संभावना नहीं रहती है। इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त मननीय है।

एक सेठ ने एक बाबा जोगी को भोजन की याचना करने पर सेके हुए चने दिए। उस बाबा ने उन चनों को तालाब में डालकर मछलियाँ पकड़ीं और पकाकर खा गया। सामान्यतः कथाकार कहते हैं कि इसका पाप चने देने वाले सेठ को भी लगा। किन्तु कर्म सिद्धान्त इसे नहीं मानता। सेठ ने उस संन्यासी को भूखा जानकर उसके द्वारा याचना करने पर खाने हेतु चने दिए। वह भिखारियों को चने देता था। उसका उद्देश्य भूखों की क्षुधा शान्त कर उन्हें सुखी करना था। उसे यह आशंका ही नयी थी कि एक संन्यासी होकर इतना

क्षुद्र होगा और दिए चनों से मछलियाँ मारेगा। अतः वह इस पाप का भागीदार नहीं हो सकता। दाता के भावों में और क्रिया में इस पाप की आंशिक कल्पना तक भी नहीं थी। अतः वह सेठ सर्वथा निर्दोष है। जब माचिस विक्रेता से कोई माचिस खरीद कर घर जलावे तो वह विक्रेता उसके लिए अपराधी नहीं माना जाता, तब शुभ भाव से विवेकपूर्वक दिए हुए अनुकम्पा दान के दुरुपयोग का पाप दानदाता को किस प्रकार लग सकता है ?

एक प्रबुद्ध वर्ग यह भी कथन करता है कि जिस तरह पाप से भौतिक हानि होती है वैसे ही पुण्य से भौतिक लाभ ही होता है, आत्मिक लाभ तो कुछ नहीं होता फिर पुण्य कर्म क्यों किए जावें ? इसका उत्तर यह है कि वस्तुतः पुण्य से आत्मिक लाभ कुछ नहीं होता हो, ऐसा एकान्त नियम नहीं है। वस्तुतः पुण्य से जहाँ भौतिक लाभ होते हैं वहाँ आत्मिक लाभ भी। जैसे मनुष्य जन्म, आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल, धर्म श्रवण, धर्म प्राप्ति आदि सब पुण्य से ही होते हैं। बिना मनुष्य भव के जीव धर्म साधना ही नहीं कर सकता। एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रियादि दशाग्रों में तो जीव धर्म का स्वरूप ही नहीं समझ सकता। जीव को पुण्य के निमित्त से उत्तम साधन मिलने पर ही वह धर्म साधना में गति करता है। माता मरुदेवी, संयती राजर्षि, परदेशी राजा, भृगुपुत्र आदि मिथ्यास्वी थे। उन्हें पुण्य के फलस्वरूप ही धर्म के उत्तम निमित्त मिले और वे धर्मात्मा बने। अनादि मिथ्यादृष्टि को जब प्रथम बार सम्यक्त्व लाभ होता है तब उसे उपशम भाव के साथ पुण्योदय की अनुकूलता रहना आवश्यक होती है, इसी निमित्त से उसके दर्शन मोहनीय का पर्दा हटता है। पुण्य क्रिया के साथ यदि वासना का विष न हो, तो उससे आत्मिक लाभ होता है और पुण्यानुबंधी पुण्य तो नियमतः आत्मिक लाभ पूर्वक होता है।

अन्त में सभी आत्मार्थियों से निवेदन है कि पुण्य-पाप का यथार्थ स्वरूप जैसा सर्वज्ञ बीतराग भगवन्तों ने प्ररूपित किया है, उस पर कर्म सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में जानकारी के अनुसार यदकिंचित् प्रकाश डालने का इस लेख में प्रयास किया है। इसमें कुछ अन्यथा लिखने में आया हो तो कृपा कर सूचित करावें जिससे भूल सुधार हो सके।

कर्म सिद्धान्त के अनुसार पुण्य-पाप की अवधारणाओं को उनकी हेय, ज्ञेय एवं उपादेयता की वस्तुस्थितियों को ध्यान में लाकर उनसे हम अपने जीवन और समाज को लाभान्वित करें। अशुभ से शुभ और शुभ से शुद्ध की ओर अग्रसर होवें, बस यही हार्दिक सद्भावना है।



भारतीय चिन्तन धारा मानवीय व्यक्तित्व में निहित संभावनाओं की चरितार्थता का मार्ग आरोपित करने के पक्ष में नहीं है—वह मानती है कि मार्ग उसके स्वभाव से निर्धारित होता है और वही सही है। इसीलिए यहाँ अग्रध्यात्म के क्षेत्र में मार्गों का आनन्त्य लक्षित होता है। सच्चा एवम् परिणत-प्रज्ञ निर्देशक शिष्य की योग्यता के अनुसार ही दीक्षा दान करता है और उसका मार्ग निर्धारित करता है। मर्मज्ञों की धारणा है कि मानव अभावों में 'स्वभाव' को खो तो नहीं देता, परन्तु उस पर इतना आवरण डाल लेता है कि वह रहकर भी 'नहीं' सा हो जाता है। स्वभावेतर पदार्थों के बोध के औषे और बहिर्मुखी स्रोत 'स्वभाव-बोध' की क्षमता को दबाए हुए हैं। आवश्यकता है इन आवरणों को जीर्ण कर उस क्षमता के अनावरण की, ताकि उसकी शाश्वत भूख मिट जाय, काम्य उपलब्ध हो जाय, स्वभाव में प्रतिष्ठित हो जाय।

स्वभाव की उपलब्धि निषेधात्मक नहीं, विधेयात्मक है—वह दुःख निवृत्ति रूप निषेधात्मक उपलब्धि नहीं है, प्रत्युत अग्र्य-निरपेक्ष स्वभावात्मक सुखोपलब्धि है। कहा जाता है कि कुछ लोगों का स्वभाव रक्ष (द्रवीभावानुपेत) होता है और कुछ लोगों का द्रवीभावात्मक। पहली प्रकार की प्रकृति वालों का मार्ग 'ज्ञान मार्ग' है—ब्रह्म विद्या का मार्ग है और दूसरी प्रकार की प्रकृति वालों का मार्ग 'भक्ति मार्ग' है। ब्रह्म विद्या और भक्ति में मधुसूदन सरस्वती ने चार आधारों पर भेद किया है—स्वरूप, फल, साधन और अधिकार। उन्होंने कहा—(१) द्रवीभाव पूर्वक मन की भगवदाकार सविकल्पक वृत्ति भक्ति है जबकि द्रवीभावानुपेत अद्वितीय आत्म मात्र गोचर निविकल्पक मनोवृत्ति ब्रह्म विद्या या ज्ञान है। (२) भगवद् गुणगरिमग्रथित ग्रंथ का श्रवण भक्ति का साधन है जबकि तत्त्वमसि आदि वेदांत महावाक्य ब्रह्म विद्या का साधन है। (३) भगवद् विषयक प्रेम का प्रकर्ष भक्ति का फल है जबकि सर्वानर्थ मूल अविद्या निवृत्ति ही ब्रह्मविद्या का फल है। (४) भक्ति में प्राणिमात्र का अधिकार है जबकि ब्रह्म विद्या में साधनचतुष्टय सम्पन्न परमहंस परिव्राजक का ही अधिकार है। भक्तिमार्ग स्वतंत्र है, ज्ञान-विज्ञान सभी उसके आधीन हैं। भक्त को भगवान् प्रसन्न होकर 'बुद्धि योग' प्रदान करता है जिसमें ब्रह्मविद्या निरपेक्ष अविद्या का नाश हो जाता है। भक्त भक्ति उसी तरह करता है जैसे उत्तम भोजन को पेटू। पेटू तृप्ति के लिए भोजन करता है पर भोजन की विविधाकार परिणतियां जाठर अग्नि करती है—अभिप्राय यह कि ज्ञान-विज्ञान

भक्त के लिए आनुषंगिक और अनिवाय उपलब्धि है—उसके लिए वह ज्ञान-मार्गियों की तरह भ्रम नहीं करता। वह तो सर्वात्मना आराध्य के प्रति समर्पित हो जाता है और आराध्य कृपा करके वह स्वयं उसे उपलब्ध हो जाता है। वह मानता है कि जिसे माना है उसी में अपने को डुबो दो, लीन कर दो—समर्पित कर दो। उसे साधन से नहीं पाया जा सकता, हाँ वह स्वयं ही साधन बन जाय और अपने को उपलब्ध करा दे—यह संभव है। भक्ति वह तत्त्व है जो की नहीं जाती 'जैहि पै बनि आवै'—हो जाती है—जिससे बन गई, बन गई अन्यथा प्रयत्न करते रहो—निष्फल। गज-राज सुरसरि की विपरीत धार में बह जाता है—लाख प्रयत्न के बावजूद—जबकि मछली निष्प्रयास तर जाती है। ज्ञान से 'स्वरूप का बोध हो जाता है, भक्ति से 'स्वरूप' बोध के बाद कल्पित भेद की भूमि पर रस क्रीड़ा चलती रहती है। भक्ति कर्म नहीं है, भाव है, जो स्वरूप-साक्षात्कार के अनन्तर श्रमर होती है। जब तक स्वरूप साक्षात्कार नहीं है, तब तक अविद्या का साम्राज्य है। अविद्या से अहंकार का प्रादुर्भाव होता है और 'अहंकार विमूढात्मार्कताऽ-हमिति मन्यते'—अहंकार-ग्रस्त व्यक्ति स्वयं को कर्ता मानता है यह अविद्या-जनित-अहंकार-मूलक-कर्तृत्व बोध जब तक रहेगा, तब तक जो कुछ भी होगा—वह कर्तृत्व-सापेक्ष होने से 'कर्म' ही कहा जायगा—'भक्ति' नहीं। फलतः वास्तविक भाव राज्य का उदय अविद्या निवृत्ति एवं स्वरूप-साक्षात्कार के बाद होता है। यही 'भाव' प्रगाढ़ होकर 'प्रेम' बनता है—'भावः स एव सान्द्रत्मा बुधै प्रेमा निगधते'—

यह सब कुछ चित्त की एकतानता से संभव है—जो तब तक संभव नहीं है जब तक मलात्मक आवरण जीर्ण न हो। मलशान्ति के निमित्त निष्काम भाव से कर्म का सम्पादन अपेक्षित है।

बात यह है कि 'कर्म' का त्याग तो सर्वात्मना संभव है नहीं। जहाँ मरना, जीना, सांस लेना और छोड़ना भी 'कर्म' है—वहाँ कर्म का स्वरूपतः त्याग तो संभव नहीं। सच्चा कर्मत्याग फलासक्ति का त्याग है। कर्म रूपी बिच्छू का डंक है—आसक्ति। इसी के कारण आवरणों का होना संभव होता है। फलतः इसी आसक्ति का त्याग होने से कर्म अकर्म हो जाते हैं—उनसे आवरणों का अना बंद हो जाता है—शेष को ज्ञानाग्नि भस्मसात् कर देती है। अनासक्त कर्म बंधन नहीं, मुक्ति का साधन बन जाता है—कर्म योग बन जाता है।

गीताकार ने सवाल खड़ा किया कि स्वभाव में प्रतिष्ठित हो जाने के बाद कर्म छोड़ देना चाहिये या करना चाहिए? भगवान् कृष्ण ने सिद्धान्त रूप में कहा कि लोक संग्रह के लिए स्वरूपोपलब्धि के बाद भी कर्म करना चाहिए। इस प्रकार स्वरूप साक्षात्कार से पूर्व मलापहार के निमित्त अनासक्त भाव से और स्वरूप साक्षात्कार के बाद लोक संग्रह के निमित्त कर्म करते रहना चाहिए।

संक्षेप में यही ज्ञान योग, भक्ति योग और कर्मयोग का आशय है। □



ईश्वर की परतन्त्रता से निर्मुक्त होकर आत्म-स्वातन्त्र्य की पृष्ठभूमि में सत्कर्मों की प्रतिष्ठा करना कर्मवाद का प्रमुख सिद्धान्त रहा है। प्रत्येक व्यक्ति में आत्मा की परम शक्ति को प्राप्त करने की क्षमता विद्यमान रहती है जो अविद्या, प्रकृति, अज्ञान, अदृष्ट, मोह, वासना, संस्कार आदि के कारण प्रच्छन्न हो जाती है। मिथ्यादर्शनादि परिणामों से संयुक्त होकर जीव के द्वारा जिनका उपार्जन किया जाता है वे कर्म कहलाते हैं—‘जीवं परतन्त्री कुर्वन्तीति कर्माणि ।’ अथवा ‘मिथ्यादर्शनादिपरिणामैः क्रियन्ते इति कर्माणि ।’ दोनों दर्शनों की दृष्टि से यही कर्म संसरण का कारण होता है और इसी के समूल विनाश हो जाने पर निर्वाण की प्राप्ति होती है।

बौद्धधर्म में कर्म को चैतसिक कहा गया है और वह चित्त के आश्रित रहता है। जैन धर्म में भी कर्म आत्मा के आश्रय से उत्पन्न माने गये हैं। जैन धर्म में त्रियोग (मन, वचन, काय) को आस्रव और बंध तथा संवर और निर्जरा का मूल कारण माना गया है। बौद्धधर्म में भी कर्म तीन प्रकार के हैं (१) चेतना कर्म (मानसिक कर्म) और (२-३) चेतयित्वा कर्म (कायिक और वाचिक कर्म)। इन्हें ‘त्रिदण्ड’ कहा गया है। इनमें से मनोदण्ड हीनतम और सावद्यतम कर्म माना गया है। जैनधर्म की भी यही मान्यता है। उसमें बीस आस्रवों में पाँचवाँ आस्रव योग आस्रव है। उसके तीन भेद होते हैं—मनयोग, वचनयोग और काययोग। इसी तरह कर्म के तीन रूप भी बताये गये हैं—कृत, कारित और अनुमोदन। इनमें यद्यपि तीनों कर्म समान दोषोत्पादक हैं पर कृतकर्म अपेक्षाकृत अधिक दोषी माना जाता है यदि उसके साथ मन का संबंध है।

बौद्धधर्म में कर्म की परिपूर्णता के लिए चार बातों की आवश्यकता बतायी गयी है—

- (१) प्रयोग (चेतना कर्म) अर्थात् इच्छा
- (२) मौल प्रयोग (कार्य प्रारंभ)
- (३) मौल कर्मपथ (विज्ञप्ति कायकर्म तथा शुभ-अशुभ रूप अविज्ञप्ति कर्म), तथा

(४) पृष्ठ (कर्म करने के उपरान्त शेष कर्म) ।

कर्म करने की ये चार क्रमिक स्थितियाँ हैं । इसी तरह कर्म के अन्य प्रकार से भी भेद किये गये हैं—

(१) विज्ञप्ति कर्म (काय-वाक् द्वारा चित्त की अभिव्यक्ति)

(२) अविज्ञप्ति कर्म (विज्ञप्ति से उत्पन्न कुशल-अकुशल कर्म)

‘विसुद्धिमग्न’ में कर्म को अरूपी कहा गया है पर ‘अभिधर्मकोश’ में उसे अविज्ञप्ति अर्थात् रूपी व अप्रतिघ माना गया है । सौत्रान्तिक दर्शन कर्म को अरूपी मानकर जैन दर्शन के समान उसे सूक्ष्म मानता है । बौद्ध दर्शन में कर्म को मानसिक, वाचिक और कायिक मानकर उसे विज्ञप्ति रूप कहा है । उन्हें ‘संस्कार’ भी कहा जाता है । वे वासना और अविज्ञप्ति रूप भी हैं । मानसिक संस्कार कर्म ‘वासना’ कहलाता है और वाचिक तथा कायिक संस्कार कर्म ‘अविज्ञप्ति’ माना जाता है । ये दोनों विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति कर्म भावों के अनुसार शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के होते हैं । जैनधर्म के द्रव्यकर्म और भावकर्म की तुलना किसी सीमा तक इनसे की जा सकती है । वासना और अविज्ञप्ति कर्म जैनधर्म का द्रव्यकर्म (कार्माण शरीर) और संस्कार तथा विज्ञप्ति कर्म जैनधर्म का भावकर्म माना जा सकता है । विज्ञप्तिवादी बौद्धधर्म को वासना के रूप में स्वीकार करते हैं । प्रज्ञाकर गुप्त के अनुसार सारे कार्य वासनाजन्य होते हैं । शून्यवादी बौद्धदर्शन में वासना का स्थान माया या अविद्या को दिया गया है ।

जैनधर्म के समान बौद्धधर्म में भी चेतनाकर्म को मुख्यकर्म माना गया है । उसे चित्त सहगत धर्म कहा है । मानसिक धर्म उसकी अपर संज्ञा है । यह चेतना चित्त को आकार विशेष प्रदान करती है और प्रतिसन्धि (जन्म) के योग्य बनाती है । चेतना के कारण ही शुभाशुभ कर्म होते हैं और तदनुसार ही उसका फल होता है । यह मनसिकार दो प्रकार का है—

(१) योनिशो मनसिकार (अनित्य को अनित्य तथा अनात्मा को अनात्म मानना)

(२) अयोनिशो मनसिकार (अनित्य को नित्य तथा नित्य को अनित्य मानना) ।

इनमें प्रथम सम्यक्त्व और द्वितीय मिथ्यात्व कर्म है जैनधर्म की परिभाषा में । मानसिक, वाचिक और कायिक कर्म को यहाँ ‘योग’ की संज्ञा दी गई है । जिससे आठ कर्मों का छेद हो वे कृतिकर्म हैं और जिनसे पुण्यकर्म का संचय हो वे चित्कर्म हैं । बौद्धधर्म के समान जैनधर्म में भी चेतनाकर्म है जिसे भाव विशेष

कहा गया है। वह कुशल-अकुशल के समान शुद्ध-अशुद्ध होती है। चेतना कर्म के दो रूप हैं—दर्शन और ज्ञान। चेतना, अनुभूति, उपलब्धि और वेदना ये सभी शब्द समानार्थक हैं। योनिशो मनसिकार को ज्ञानचेतना और अयोनिशो मनसिकार को अज्ञानचेतना कह सकते हैं। सम्यग्दृष्टि को ही ज्ञानचेतना होती है और मिथ्यादृष्टि को कर्म तथा कर्मफल चेतना होती है।

जैनधर्म के ज्ञानावरणीय कर्म और दर्शनावरणीय कर्म जैसे कर्म बौद्धधर्म में नहीं मिलते। ज्ञान और दर्शन आत्मा के गुण हैं। बौद्धधर्म आत्मा को मानता नहीं। अतः इन गुणों के विषय में वहाँ अधिक स्पष्ट विवेचन नहीं मिलता। शोभन चैतसिक वेदनीय कर्म के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। मोह, आहीकथ, अनपत्राप्य, औद्धत्य, लोभ, दृष्टि, मान, द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य, कौकृत्य, स्त्यान, मिद्ध एवं विचिकित्सा ये चौदह अकुशल चैतसिक हैं। इन चैतसिकों की तुलना जैनधर्म के भावकर्म से की जा सकती है। मोहनीय कर्म के अन्तर्गत ये सभी भावकर्म आ जाते हैं। बौद्धधर्म के अकुशल कर्म मोहनीय कर्म के भेद-प्रभेदों में समाहित हो जाते हैं। जीवितेन्द्रिय जैनधर्म का आयुर्कर्म है जिसे 'सर्वचित्त साधारण' कहा गया है। नामकर्म की प्रकृतियाँ भी बौद्धधर्म में सरलतापूर्वक मिल सकती हैं।

शोभन चैतसिकों में श्रद्धा आदि शोभन साधारण, सम्मा वाचा आदि तीन विरतियाँ तथा करुणा, मुदिता दो अप्रामान्य चैतसिक जैनधर्म के सम्यग्दर्शन के गुणों में देखे जा सकते हैं। अकुशल कर्मों की समाप्ति होने पर ही साधक श्रद्धा, स्मृति, ह्री, अपभाष्य, अलोभ, अद्वेष, तत्रमध्यस्थता आदि गुणों की प्राप्ति करता है। ऐसे ही समय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। यहाँ दर्शन का अर्थ श्रद्धा है और सप्त तत्त्वों पर भली प्रकार ज्ञानपूर्वक श्रद्धा करना ही सम्यग्दर्शन है। दोनों धर्मों में श्रद्धा को प्राथमिकता दी गई है। एक में सम्यग्दर्शन है तो दूसरा उसे ही सम्मादिष्टी कहता है। यहाँ 'सम्यक्' शब्द विशेषण के रूप में जुड़ा हुआ है जो पदार्थों के यथार्थ ज्ञानमूलक श्रद्धा को प्रस्तुत करता है। सम्यग्दर्शन के निःशंकित, निःकांक्षित आदि आठ अंग शोभन चैतसिकों को और स्पष्ट कर देते हैं। ये वस्तुतः सम्यग्दृष्टि के चित्त की निर्मलता को सूचित करते हुए उसकी विशेषताओं को बताते हैं।

अभिधम्मसंगहो के प्रकीर्णक संग्रह में चित्त चैतसिकों का संयुक्त वर्णन किया गया है। चित्त-चैतसिकों के विविध रूप किस-किस प्रकार से परस्पर मिश्रित हो सकते हैं, इसे यहाँ वेदना, हेतु, कृत्य, द्वार, आलंबन तथा वस्तु का आधार लेकर स्पष्ट किया गया है। वेदना संग्रह के सुख, दुःख, सौमनस्य, दीर्घमनस्व और उपेक्षा को हम वेदनीय कर्म के भेद-प्रभेदों में नियोजित कर सकते हैं। अनुकंपा, दान, पूजा, प्रतिष्ठा, वैयावृत्ति आदि कर्म सात वेदनीय कर्म हैं और

दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, बध, परिदेवन आदि कर्म असाता वेदनीय कर्म हैं। कृत्य संग्रह में निर्दिष्ट प्रतिसंधि, भवंग आवर्जन, दर्शन, श्रवण-घ्राण, आस्वादन, स्पर्श, संवरिच्छन आदि सभी चित्त-चैतसिक के कार्य हैं। इन्हें जैनधर्म के शब्दों में कर्मयुक्त आत्मा के पस्पिन्द कह सकते हैं।

बौद्धधर्म में कर्म के भेद अनेक प्रकार से किये गये हैं। भूमिचतुष्क और प्रतिसंधि चतुष्क का संबंध जीव अथवा चित्त के परिणामों पर आधारित अग्रिम गतियों में जन्म लेने से है। कुशल-अकुशल चेतना के आधार पर बौद्धधर्म में जनककर्म, उपष्टम्भक कर्म (मरणान्तकाल में भावों के अनुसार गति प्राप्तिक), उपपीडक कर्म (कर्म विपाक को गहरा करने वाला) तथा उपघातक कर्म (कर्मफल को समूल नष्ट करने वाला) ये चार भेद किये गये हैं। ये भेद वस्तुतः कर्म की तरतमता पर आधारित हैं। किसी विषय विशेष से इनका संबंध नहीं है। पाकदान पर्याय की दृष्टि से गरुक, आसन्न आदि चतुष्क कर्म समय पर आधारित हैं। विपाक चतुष्क कर्म भी चार हैं—दृष्टधर्मवेदनीय उपपद्यवेदनीय, अपरपर्यायवेदनीय और अहोसिकर्म। इन्हें हम प्रकृतिबंध, स्थितिबंध और अनुभागबंध के साथ तुलना कर सकते हैं। जैनधर्म में वर्णित प्रदेशबंध जैसा विषय बौद्धधर्म में दिखाई नहीं देता।

जैन-बौद्धधर्म में अकुशल कर्मों में मोह और तज्जन्य मिथ्यादृष्टि का स्थान प्रमुख है। मिथ्यादृष्टि को ही दूसरे शब्दों में 'शीलव्रत परामर्श' कहा गया है। जैनधर्म इसी को 'मिथ्यात्व' संज्ञा देता है। सबसे बड़ा अंतर यह है कि जैन धर्म आत्मवादी धर्म है जबकि बौद्धधर्म अनात्मवादी धर्म है। बौद्धधर्म आत्मवाद को मिथ्यात्व कहता है जबकि जैनधर्म आत्मवाद को। इसके बावजूद अन्त में चलकर दोनों एक ही स्थान पर पहुँचते हैं।

जैनधर्म और बौद्धधर्म दोनों पूर्णतः कर्मवादी धर्म हैं इसलिए दोनों धर्मों और उनके दार्शनिकों ने कर्म की सयुक्तिक और गंभीर विवेचना की है। दोनों का कर्मसाहित्य भी काफी समृद्ध है। प्रस्तुत लघु निबंध में इतने विस्तृत विषय को समाहित नहीं किया जा सकता है। यह तो एक महाप्रबंध का विषय है। अतः यहाँ इतना ही कहना अभिषेय रहा है कि दोनों धर्मों के परिभाषित शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाये तो हम पायेंगे कि उनके चित्तन का विषय तो एक है पर शैली और भाषा भिन्न है।



**कर्म का अशुभत्व, शुभत्व एवं शुद्धत्व :**

यद्यपि जैन दृष्टि से 'कर्मणा बध्यतेजन्तुः' की उक्ति ठीक है लेकिन जैनाचार दर्शन में सभी कर्म अथवा क्रियाएँ समान रूप से बन्धन कारक नहीं हैं। उसमें दो प्रकार के कर्म माने गये हैं, एक को कर्म कहा गया है दूसरे को अकर्म, समस्त साम्प्रदायिक क्रियाएँ कर्म की श्रेणी में आती हैं और इर्यापथिक क्रियाएँ अकर्म की श्रेणी में आती हैं। यदि नैतिक दर्शन की दृष्टि से विचार करें तो प्रथम प्रकार के कर्म ही नैतिकता के क्षेत्र में आते हैं और दूसरे प्रकार के कर्म नैतिकता के क्षेत्र से परे हैं। उन्हें अतिनैतिक कहा जा सकता है। लेकिन नैतिकता के क्षेत्र में आने वाले सभी कर्म भी एक समान नहीं होते हैं उनमें से कुछ शुभ और कुछ अशुभ होते हैं। जैन परिभाषा में इन्हें क्रमशः पुण्य कर्म और पाप कर्म कहा जाता है। इस प्रकार जैन विचारणा के अनुसार कर्म तीन प्रकार के होते हैं—१. इर्यापथिक कर्म (अकर्म), २. पुण्य कर्म और ३. पाप कर्म। बौद्ध विचारणा में भी तीन प्रकार के कर्म माने गये हैं—१. अव्यक्त या अकृष्ण अशुक्ल कर्म, २. कुशल या शुक्ल कर्म और ३. अकुशल या कृष्णकर्म। गीता भी तीन प्रकार के कर्म बताती है—१. अकर्म, २. कर्म (कुशल कर्म) और ३. विकर्म (अकुशल कर्म) जैन विचारणा का इर्यापथिक कर्म बौद्ध दर्शन का अव्यक्त या अकृष्ण-अकुशल अशुक्ल कर्म तथा गीता का अकर्म है। इसी प्रकार जैन विचारणा का पुण्य कर्म बौद्ध दर्शन का कुशल (शुक्ल) कर्म तथा गीता का सकाम सात्विक कर्म या कुशल कर्म और जैन विचारणा का पाप कर्म बौद्ध दर्शन का अकुशल (कृष्ण) कर्म तथा गीता का विकर्म है।

पाश्चात्य नैतिक दर्शन की दृष्टि से भी कर्म तीन प्रकार के होते हैं— १. अतिनैतिक, २. नैतिक, ३. अनैतिक। जैन विचारणा का इर्यापथिक कर्म अतिनैतिक कर्म है, पुण्य कर्म नैतिक कर्म है, और पाप कर्म अनैतिक कर्म है। गीता का अकर्म अतिनैतिक शुभ कर्म या कर्म नैतिक और विकर्म अनैतिक है। बौद्ध विचारणा में अनैतिक, नैतिक और अतिनैतिक कर्म को क्रमशः अकुशल, कुशल और अव्यक्त कर्म अथवा कृष्ण, शुक्ल और अकृष्ण, अशुक्ल कर्म कहा गया है। इन्हें निम्न तुलनात्मक तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है :—

कर्म	पाश्चात्य आचार दर्शन	जैन	बौद्ध	गीता
१.	शुद्ध अतिनैतिक कर्म	इर्यापथिक कर्म	अव्यक्त कर्म	अकर्म
२.	शुभ नैतिक कर्म	पुण्य कर्म	कुशल (शुक्ल) कर्म	कर्म (कुशल कर्म)
३.	अशुभ अनैतिक कर्म	पाप कर्म	अकुशल (कृष्ण) कर्म	दिकर्म

आध्यात्मिक या नैतिक पूर्णता के लिए हमें क्रमशः अशुभ कर्मों से शुभ कर्मों की ओर, शुभ कर्मों से शुद्ध कर्मों की ओर बढ़ना होगा। आगे हम इसी क्रम से उन पर थोड़ी अधिक गहराई से विवेचन करेंगे।

### अशुभ या पाप कर्म :

जैन आचार्यों ने पाप की यह परिभाषा दी है कि वैयक्तिक सन्दर्भ में जो आत्मा को बंधन में डाले, जिसके कारण आत्मा का पतन हो, जो आत्मा के आनन्द का शोषण करे और आत्म शक्तियों का क्षय करे वह पाप है।<sup>१</sup> सामाजिक सन्दर्भ में जो परपीड़ा या दूसरों के दुःख का कारण हो वह पाप है (पापाय परपीडन) वस्तुतः जिस विचार एवं आचार से अपना और पर का अहित हो और जिसका फल अनिष्ट प्राप्ति हो वह पाप है। नैतिक जीवन की दृष्टि से वे सभी कर्म जो स्वार्थ, घृणा या अज्ञान के कारण दूसरे का अहित करने की दृष्टि से किए जाते हैं पाप कर्म हैं। मात्र इतना ही नहीं सभी प्रकार का दुर्विचार और दुर्भावनाएँ भी पाप कर्म हैं।

### पाप या अकुशल कर्मों का वर्गीकरण :

जैन दार्शनिकों के अनुसार पाप कर्म १८ प्रकार के हैं :—१. प्राणातिपात-हिंसा, २. मृषावाद-असत्य भाषण, ३. अदत्तादान-चौर्य कर्म, ४. मैथुन-काम विकार या लैंगिक प्रवृत्ति, ५. परिग्रह-ममत्व, मूर्च्छा, तृष्णा या संचय वृत्ति, ६. क्रोध-गुस्सा, ७. मान-अहंकार, ८. माया-कपट, छल, षडयंत्र और कूटनीति, ९. लोभ-संचय या संग्रह की वृत्ति, १०. राग-आसक्ति, ११. द्वेष-घृणा, तिरस्कार, ईर्ष्या आदि, १२. क्लेश-संघर्ष, कलह, लड़ाई, भगड़ा आदि, १३. अभ्याख्यान-दोषारोपण, १४. पिशुनता-चुगली, १५. परपरिवाद-परनिंदा, १६. रति-अरति-हर्ष और शोक, १७. माया मृषा-कपट सहित असत्य भाषण, १८. मिथ्यादर्शनशक्त्य-अयथार्थ श्रद्धा या जीवन दृष्टि।<sup>२</sup>

१—अभि० रा० खण्ड ५, पृष्ठ ८७६।

२—बोल संग्रह, भाग ३, पृष्ठ १८२।

**बौद्ध दृष्टिकोण :**

बौद्ध दर्शन में कायिक, वाचिक और मानसिक आधार पर निम्न १० प्रकार के पापों या अकुशल कर्मों का वर्णन मिलता है :—<sup>१</sup>

- (अ) कायिक पाप : १. प्राणातिपात-हिंसा, २. अदन्नादान-चोरी या स्तेय, ३. कामेसु-मिच्छाचार, कामभोग सम्बन्धी दुराचार,
- (ब) वाचिक पाप : ४. मृषावाद-असत्य भाषण, ५. पिसुनावाचा-पिशुन वचन, ६. परुसावाचा-कठोर वचन, ७. सम्फलाप-व्यर्थ आलाप,
- (स) मानसिक पाप : ८. अभिज्जा-लोभ, ९. व्यापाद-मानसिक हिंसा या अहित चिन्तन, १०. मिच्छादिट्ठी-मिथ्या दृष्टिकोण ।

अभिधम्म संग्रहो में निम्न १४ अकुशल चैतसिक बताए गए हैं : १. मोह-चित्त का अन्धापन, मूढ़ता, २. अहिरिक-निर्लज्जता, ३. अनोत्तपर्य-अ-भीक्ता (पाप कर्म में भय न मानना)<sup>२</sup>, ४. उद्धच्च-उद्धतपन, चंचलता, ५. लोभो-तृष्णा, ६. दिट्ठि-मिथ्या-दृष्टि, ७. मानो-अहंकार, ८. दोसो-द्वेष, ९. इस्सा-ईर्ष्या (दूसरे की सम्पत्ति को न सह सकना), १०. मच्छरियं-मात्स्पर्य (अपनी सम्पत्ति को छिपाने की प्रवृत्ति), ११. कुक्कुच्च-कौकृत्य (कृत-अकृत के बारे में पश्चात्ताप), १२. थीनं, १३. मिद्धं, १४. विचिकिच्छा-विचिकित्सा (संशयालुपल) ।

**गीता का दृष्टिकोण :**

गीता में भी जैन और बौद्ध दर्शन में स्वीकृत इन पापाचरणों या विकर्मों का उल्लेख सम्पदा के रूप में किया गया है। 'गीता रहस्य' में तिलक ने मनु स्मृति के आधार पर निम्न दस प्रकार के पापाचरण का वर्णन किया है।<sup>३</sup>

- (अ) कायिक : १. हिंस, २. चोरी, ३. व्यभिचार ।
- (ब) वाचिक : ४. मिथ्या (असत्य), ५. ताना मारना, ६. कटुवचन, ७. असंगत बोलना ।
- (स) मानसिक : ८. परद्रव्य अभिलाषा, ९. अहित चिन्तन, १०. व्यर्थ आग्रह ।

१—बौद्ध भा० व०, पृष्ठ ४८० ।

२—अभिधम्मस्य संग्रहो, पृष्ठ १६-२० ।

३—मनुस्मृति १२/५-७ ।

### पाप के कारण :

जैन विचारकों के अनुसार पापकर्म की उत्पत्ति के स्थान तीन हैं :—  
१. राग या स्वार्थ, २. द्वेष या घृणा और ३. मोह या अज्ञान। प्राणी राग, द्वेष और मोह से ही पाप कर्म करता है। बुद्ध के अनुसार भी पाप कर्म की उत्पत्ति के स्थान तीन हैं—१. लोभ (राग), २. द्वेष और ३. मोह। गीता के अनुसार काम (राग) और क्रोध ही पाप के कारण हैं।

### पुण्य (कुशल कर्म) :

पुण्य वह है जिसके कारण सामाजिक एवं भौतिक स्तर पर समत्व की स्थापना होती है। मन, शरीर और बाह्य परिवेश के मध्य सन्तुलन बनाना यह पुण्य का कार्य है। पुण्य क्या है इसकी व्याख्या में तत्त्वार्थ सूत्रकार कहते हैं— शुभास्रय पुण्य है।<sup>१</sup> लेकिन जैसा कि हमने देखा पुण्य मात्र आस्रय नहीं है वरन् वह बन्ध और विपाक भी है। दूसरे वह मात्र बन्धन या हेय ही नहीं है वरन् उपादेय भी है। अतः अनेक आचार्यों ने उसकी व्याख्या दूसरे प्रकार से की है। आचार्य हेमचन्द्र पुण्य की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—पुण्य (अशुभ) कर्मों का लाघव है और शुभ कर्मों का उदय है।<sup>२</sup> इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र की दृष्टि में पुण्य अशुभ (पाप) कर्मों की अल्पता और शुभ कर्मों के उदय के फलस्वरूप प्राप्त प्रशस्त अवस्था का द्योतक है। पुण्य के निर्वाण की उपलब्धि में सहायक स्वरूप की व्याख्या आचार्य अभयदेव की स्थानांग सूत्र की टीका में मिलती है। आचार्य अभयदेव कहते हैं पुण्य वह है जो आत्मा को पवित्र करता है अथवा पवित्रता की ओर ले जाता है।<sup>३</sup> आचार्य की दृष्टि में पुण्य आध्यात्मिक साधना में सहायक तत्त्व है। मुनि सुशीलकुमार 'जैन धर्म' नामक पुस्तक में लिखते हैं— पुण्य मोक्षार्थियों की नौका के लिये अनुकूल वायु है जो नौका को भवसागर से शीघ्र पार कर देती है। जैन कवि बनारसीदासजी कहते हैं जिससे भावों की विशुद्धि हो, जिससे आत्मा ऊर्ध्वमुखी होता है अर्थात् आध्यात्मिक विकास की ओर बढ़ता है और जिससे इस संसार में भौतिक-समृद्धि और सुख मिलता है वही पुण्य है।<sup>४</sup>

जैन तत्त्व ज्ञान के अनुसार पुण्य कर्म के अनुसार पुण्य कर्म वे शुभ पुद्गल परमाणु हैं जो शुभ वृत्तियों एवं त्रियाओं के कारण आत्मा की ओर आकर्षित हो बन्ध करते हैं और अपने विपाक के अवसर पर शुभ अध्यवसायों, शुभ

१—तत्त्वार्थ०, पृष्ठ ६/४।

२—योगशास्त्र ४/१०७।

३—स्थानांग टी. १/११-१२।

४—जैन धर्म, पृष्ठ ८४-१०।



विचारों एवं क्रियाओं की ओर प्रेरित करते हैं तथा आध्यात्मिक, मानसिक एवं भौतिक अनुकूलताओं के संयोग प्रस्तुत कर देते हैं। आत्मा की वे मनोदशाएँ एवं क्रियाएँ भी जो शुभ पुद्गल परमाणु को आकर्षित करती हैं भी पुण्य कहलाती हैं। साथ ही दूसरी ओर वे पुद्गल परमाणु जो इन शुभ वृत्तियों एवं क्रियाओं को प्रेरित करते हैं और अपने प्रभाव से धारोग्य, सम्पत्ति एवं सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान एवं संयम के अवसर उपस्थित करते हैं पुण्य कहे जाते हैं। शुभ मनोवृत्तियाँ भाव पुण्य हैं और शुभ पुद्गल परमाणु द्रव्य पुण्य हैं।

### पुण्य या कुशल कर्मों का वर्गीकरण :

भगवती सूत्र में अनुकम्पा, सेवा, परोपकार आदि शुभ प्रवृत्तियों को पुण्योपार्जन का कारण माना है।<sup>१</sup> स्थानांग सूत्र में नव प्रकार के पुण्य बताए गए हैं।<sup>२</sup>

१. अन्न पुण्य : भोजनादि देकर क्षुधात्तं की क्षुधा निवृत्ति करना।
२. पान पुण्य : तृषा (प्यास) से पीड़ित व्यक्ति को पानी पिलाना।
३. लयन पुण्य : निवास के लिये स्थान देना, धर्मशालाएँ आदि बनवाना।
४. शयन पुण्य : शय्या, बिछौना आदि देना।
५. वस्त्र पुण्य : वस्त्र का दान देना।
६. मन पुण्य : मन से शुभ विचार करना। जगत के मंगल की शुभ कामना करना।
७. वचन पुण्य : प्रशस्त एवं संतोष देने वाली वाणी का प्रयोग करना।
८. काय पुण्य : रोगी, दुःखित एवं पूज्य जनों की सेवा करना।
९. नमस्कार पुण्य : गुरुजनों के प्रति आदर प्रकट करने के लिए उनका अभिवादन करना।

बौद्ध आचार दर्शन में भी पुण्य के इस दानात्मक स्वरूप की चर्चा मिलती है। संयुक्त निकाय में कहा गया है—अन्न, पान, वस्त्र, शय्या, आसन एवं चादर के दानों पण्डित पुरुष में पुण्य की धाराएँ आ गिरती हैं। अभिधम्मत्थ संगहो में (१) श्रद्धा, (२) अप्रमत्तता (स्मृति), (३) पाप कर्म के प्रति लज्जा, (४) पाप कर्म के प्रति भय, (५) अलोभ (त्याग), (६) अद्वेष-मैत्री, (७) समभाव, (८-९) मन और शरीर की प्रसन्नता, (१०-११) मन और शरीर का हलकापन, (१२-१३) मन और शरीर की मृदुता, (१४-१५) मन और शरीर की सरलता आदि को भी कुशल चैतसिक कहा गया है।<sup>३</sup>

१—भगवती, ७/१०/१२।

२—स्थानांग ६।

३—अभिधम्मत्थ संगहो (चैतसिक विभाग)।

जैन और बौद्ध विचारणा में पुण्य के स्वरूप को लेकर विशेष अन्तर यह है। जैन विचारणा में संवर, निजरा और पुण्य में अन्तर किया गया है। जबकि बौद्ध विचारणा में ऐसा स्पष्ट अन्तर नहीं है। जैनाचार दर्शन में सम्यक् दर्शन, (श्रद्धा) सम्यक् ज्ञान, (प्रज्ञा) और सम्यक् चारित्र (शील) को संवर और निजरा के अन्तर्गत माना गया है। जबकि बौद्ध आचार दर्शन में धर्म, संघ और बुद्ध के प्रति दृढ़ श्रद्धा, शील और प्रज्ञा को भी पुण्य (कुशल कर्म) के अन्तर्गत माना गया है।

### पुण्य और पाप (शुभ और अशुभ) की कसौटी :

शुभाशुभता या पुण्य-पाप के निर्णय के दो आधार हो सकते हैं। (१) कर्म का बाह्य स्वरूप तथा समाज पर उसका प्रभाव, (२) दूसरा कर्ता का अभिप्राय। इन दोनों में कौन सा आधार यथार्थ है यह विवाद का विषय रहा है। गीता और बौद्ध दर्शन में कर्ता के अभिप्राय को ही कृत्यों की शुभाशुभता का सच्चा आधार माना गया। गीता स्पष्ट रूप से कहती है जिसमें कर्तृत्व भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि निलिप्त है, वह इन सब लोगों को मार भी डाले तथापि यह समझना चाहिए कि उसने न तो किसी को मारा है और न वह उस कर्म से बन्धन में आता है।<sup>१</sup> धम्मपद में बुद्ध वचन भी ऐसा ही है। नैष्कर्म्य स्थिति को प्राप्त ब्राह्मण माता-पिता को, दो क्षत्रिय राजाओं को एवं प्रजा सहित राष्ट्र को मारकर भी निष्पाप होकर जीता है।<sup>२</sup> बौद्ध दर्शन में कर्ता के अभिप्राय को ही पुण्य पाप का आधार माना गया है। इसका प्रमाण सूत्रकृतांग सूत्र के आद्रक बौद्ध सम्वाद में भी मिलता है।<sup>३</sup> जहाँ तक जैन मान्यता का प्रश्न है विद्वानों के अनुसार उसमें भी कर्ता के अभिप्राय को ही कर्म की शुभाशुभता का आधार माना गया है। मुनि सुशीलकुमारजी लिखते हैं—शुभ-अशुभ कर्म के बंध का मुख्य आधार मनोवृत्तियाँ ही हैं। एक डॉक्टर किसी को पीड़ा पहुँचाने के लिए उसका व्रण चीरता है, उससे चाहे रोगी को लाभ ही हो जाए परन्तु डॉक्टर तो पाप कर्म के बन्ध का ही भागी होगा। इसके विपरीत वही डॉक्टर करुणा से प्रेरित होकर व्रण चीरता है और कदाचित् उससे रोगी की मृत्यु हो जाती है तो भी डॉक्टर अपनी शुभ भावना के कारण पुण्य का बन्ध करता है।<sup>४</sup> प्रज्ञाचक्षु पंडित सुखलालजी भी यही कहते हैं—पुण्य बन्ध और पाप बन्ध की सच्ची कसौटी केवल ऊपर की क्रिया नहीं है, किन्तु उसकी यथार्थ कसौटी कर्ता का आशय ही है।<sup>५</sup>

१—गीता १८/१७।

२—धम्मपद २४९।

३—सूत्रकृतांग २/६/२७-४२।

४—जैन धर्म, पृष्ठ १६०।

५—दर्शन और चिन्तन : खण्ड २, पृष्ठ २२६।

इन कथनों के आधार पर तो यह स्पष्ट है कि जैन विचारणा में भी कर्मों की शुभाशुभता के निर्णायक का आधार मनोवृत्तियों ही हैं। फिर भी जैन विचारणा में कर्म का बाह्य स्वरूप उपेक्षित नहीं है। यद्यपि निश्चय दृष्टि की अपेक्षा से मनोवृत्तियाँ ही कर्मों की शुभाशुभता की निर्णायक हैं तथापि व्यवहार दृष्टि में कर्म का बाह्य स्वरूप ही सामान्यतया शुभाशुभता का निश्चय करता है। सूत्रकृतांग में आर्द्रककुमार बौद्धों की एकांगी धारणा का निरसन करते हुए कहते हैं जो मांस खाता हो चाहे न जानते हुए भी खाता हो तो भी उसको पाप लगता ही है। हम जानकर नहीं खाते इसलिए हम को दोष (पाप) नहीं लगता ऐसा कहना एकदम असत्य नहीं तो क्या है ?<sup>१</sup>

इससे यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन दृष्टि में मनोवृत्ति के साथ ही कर्मों का बाह्य स्वरूप भी शुभाशुभता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में सामाजिक दृष्टि या लोक व्यवहार में तो यही प्रमुख निर्णायक होता है। सामाजिक न्याय में तो कर्म का बाह्य स्वरूप ही उसकी शुभाशुभता का निश्चय करता है क्योंकि आन्तरिक वृत्ति को व्यक्ति स्वयं जान सकता है दूसरा नहीं। जैन दृष्टि एकांगी नहीं है। वह समन्वयवादी और सापेक्षवादी है। वह व्यक्ति सापेक्ष होकर मनोवृत्ति को कर्मों की शुभाशुभता का निर्णायक मानती है और समाज सापेक्ष होकर कर्मों के बाह्य स्वरूप पर उनकी शुभाशुभता का निश्चय करती है। उसमें द्रव्य (बाह्य) और भाव (आन्तरिक) दोनों का मूल्य है। उसमें योग (बाह्य क्रिया) और भाव (मनोवृत्ति) दोनों ही बन्धन के कारण माने गये हैं, यद्यपि उसमें मनोवृत्ति ही प्रबल कारण है। वह वृत्ति और क्रिया में विभेद नहीं मानती है। उसकी समन्वयवादी दृष्टि में मनोवृत्ति शुभ हो और क्रिया अशुभ हो, यह सम्भव नहीं है। मन में शुभ भाव होते हुए पापाचरण सम्भव नहीं है। वह एक समालोचक दृष्टि से कहती है मन में सत्य को समझते हुए भी बाहर से दूसरी बातें (अशुभाचरण) करना क्या संयमी पुरुषों का लक्षण है ? उसकी दृष्टि में सिद्धान्त और व्यवहार में अन्तर आत्म-प्रवर्चना और लोक छलना है। मानसिक हेतु पर ही जोर देने वाली धारणा का निरसन करते हुए सूत्रकृतांग में कहा गया है—कर्म बन्धन का सत्य ज्ञान नहीं बताने वाले इस वाद को मानने वाले कितने ही लोग संसार में फंसते रहते हैं कि पाप लगने के तीन स्थान हैं स्वयं करने से, दूसरे से कराने से, दूसरों के कार्य का अनुमोदन करने से। परन्तु यदि हृदय पाप मुक्त हो तो इन तीनों के करने पर भी निर्वाण अवश्य मिले। यह वाद अज्ञान है, मन से पाप को पाप समझते हुए जो दोष करता है, उसे निर्दोष नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह संयम (वासना निग्रह) में शिथिल है। परन्तु भोगासक्त लोग उक्त बातें मानकर पाप में पड़े रहते हैं।<sup>२</sup>

१—सूत्रकृतांग २/६/२७-४२।

२—सूत्रकृतांग १/१/२४-२७-२६।

पाश्चात्य आचार दर्शन में भी मुखवादी विचारक कर्म की फलश्रुति के आधार पर उनकी शुभाशुभता का निश्चय करते हैं जबकि माटिन्यू कर्म प्रेरक पर उनकी शुभाशुभता का निश्चय करता है। जैन विचारणा के अनुसार इन दोनों पाश्चात्य विचारणाओं में अपूर्ण सत्य रहा हुआ है। एक का आधार लोक दृष्टि या समाज दृष्टि है। दूसरी का आधार परमार्थ दृष्टि या शुद्ध दृष्टि है। एक व्यावहारिक सत्य है और दूसरा पारमार्थिक सत्य। नैतिकता व्यवहार से परमार्थ की ओर प्रयाण है अतः उसमें दोनों का ही मूल्य है। कर्म के शुभाशुभत्व के निर्णय की दृष्टि से कर्म के हेतु और परिणाम के प्रश्न पर गहराई से विवेचन जैन विचारणा में किया गया है।

चाहे हम कर्ता के अभिप्राय को शुभाशुभता के निर्णय का आधार मानें, या कर्म के समाज पर होने वाले परिणाम को। दोनों ही स्थितियों में किस प्रकार का कर्म पुण्य कर्म या उचित कर्म कहा जावेगा और किस प्रकार का कर्म पाप कर्म या अनुचित कर्म कहा जावेगा यह विचार आवश्यक प्रतीत होता है। सामान्यतया भारतीय चिन्तन में पुण्य-पाप की विचारणा के सन्दर्भ में सामाजिक दृष्टि ही प्रमुख है। जहाँ कर्म-अकर्म का विचार व्यक्ति सापेक्ष है, वहाँ पुण्य-पाप का विचार समाज सापेक्ष है। जब हम कर्म, अकर्म या कर्म के बन्धनत्व का विचार करते हैं तो वैयक्तिक कर्म प्रेरक या वैयक्तिक चेतना की विशुद्धता (वीतरागता) ही हमारे निर्णय का आधार बनती है लेकिन जब हम पुण्य-पाप का विचार करते हैं तो समाज कल्याण या लोकहित ही हमारे निर्णय का आधार होता है। वस्तुतः भारतीय चिन्तन में जीवनादर्श तो शुभाशुभत्व की सीमा से ऊपर उठना है उस सन्दर्भ में वीतराग या अनासक्त जीवन दृष्टि का निर्माण ही व्यक्ति का परम साध्य माना गया है और वही कर्म के बन्धकत्व या अबन्धकत्व का प्रमापक है। लेकिन जहाँ तक शुभ-अशुभ का सम्बन्ध है उसमें 'राग' या आसक्ति का तत्त्व तो रहा हुआ है। शुभ और अशुभ दोनों ही राग या आसक्ति तो होती ही है अन्यथा राग के अभाव में कर्म शुभाशुभ से ऊपर उठकर अतिनैतिक होगा। यहाँ प्रमुखता राग की उपस्थिति या अनुपस्थिति की नहीं बरन् उसकी प्रशस्तता या अप्रशस्तता की है। प्रशस्त राग शुभ या पुण्य बन्ध का कारण माना गया है और अप्रशस्त राग अशुभ या पाप बन्ध का कारण है। राग की प्रशस्तता उसमें द्वेष के तत्त्व की कमी के आधार पर निर्भर होती है। यद्यपि राग और द्वेष साथ-साथ रहते हैं तथापि जिस राग के साथ द्वेष की मात्रा जितनी अल्प और कम तीव्र होगी वह राग उतना प्रशस्त होगा और जिस राग के साथ द्वेष की मात्रा और तीव्रता जितनी अधिक होगी वह उतना ही अप्रशस्त होगा।

द्वेष विहीन विशुद्ध राग या प्रशस्त राग ही प्रेम कहा जाता है। उस प्रेम

से परार्थ या परोपकार वृत्ति का उदय होता है जो शुभ का सृजन करती है। उसी से लोक मंगलकारी प्रवृत्तियों के रूप में पुण्य कर्म निसृत होते हैं। जबकि द्वेष युक्त अप्रशस्त राग ही घृणा को जन्म देकर स्वार्थ वृत्ति का विकास करता है उससे अशुभ, अमंगलकारी पाप कर्म निसृत होते हैं। संक्षेप में जिस कर्म के पीछे प्रेम और परार्थ होते हैं वह पुण्य कर्म और जिस कर्म के पीछे घृणा और स्वार्थ होते हैं वह पाप कर्म।

जैन आचार दर्शन पुण्य कर्मों के वर्गीकरण में जिन तथ्यों पर अधिक बल देता है वे सभी समाज सापेक्ष हैं। वस्तुतः शुभ-अशुभ के वर्गीकरण में सामाजिक दृष्टि ही प्रधान है। भारतीय चिन्तकों की दृष्टि में पुण्य और पाप की समग्र चिन्तना का सार निम्न कथन में समाया हुआ है कि “परोपकार पुण्य है और पर-पीड़न पाप है।” जैन विचारकों ने पुण्य बन्ध के दान, सेवा आदि जिन कारणों का उल्लेख किया है उनका प्रमुख सम्बन्ध सामाजिक कल्याण या लोक मंगल से है। इसी प्रकार पाप के रूप में जिन तथ्यों का उल्लेख किया गया है वे सभी लोक अमंगलकारी तत्त्व हैं।<sup>१</sup> इस प्रकार हम कह सकते हैं जहाँ तक शुभ-अशुभ या पुण्य-पाप के वर्गीकरण का प्रश्न है हमें सामाजिक सन्दर्भ में ही उसे देखना होगा। यद्यपि बन्धन की दृष्टि से उस पर विचार करते समय कर्ता के आशय को भुलाया नहीं जा सकता है।

### सामाजिक जीवन में आचरण के शुभत्व का आधार :

यद्यपि यह सत्य है कि कर्म के शुभत्व और अशुभत्व का निर्णय अन्य प्राणियों या समाज के प्रति किए गए व्यवहार अथवा दृष्टिकोण के सन्दर्भ में होता है। लेकिन अन्य प्राणियों के प्रति हमारा कौन सा व्यवहार या दृष्टिकोण शुभ होगा और कौनसा व्यवहार या दृष्टिकोण अशुभ होगा इसका निर्णय किस आधार पर किया जाए? भारतीय चिन्तन ने इस सन्दर्भ में जो कसौटी प्रदान की है, वह यही है कि जिस प्रकार का व्यवहार हम अपने लिए प्रतिकूल समझते हैं वैसा आचरण दूसरे के प्रति नहीं करना और जैसा व्यवहार हमें अनुकूल है वैसा व्यवहार दूसरे के प्रति करना यही शुभाचरण है और इसके विपरीत जो व्यवहार हमें प्रतिकूल है वैसा व्यवहार दूसरे के प्रति करना और जैसा व्यवहार हमें अनुकूल है वैसा व्यवहार दूसरों के प्रति नहीं करना अशुभाचरण है। भारतीय ऋषियों मात्र का यही सन्देश है कि “आत्मनः प्रतिकूलानि पेरषां मा समाचरेत्” जिस आचरण को तुम अपने लिए प्रतिकूल समझते हो वैसा आचरण दूसरों के प्रति मत करो। संक्षेप में सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि ही व्यवहार के शुभत्व का प्रमाण है।

१—देखिये १८ पाप स्थान, प्रतिक्रमण सूत्र।

### जैन दृष्टिकोण :

जैन दर्शन के अनुसार जिसकी संसार के सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि है वही नैतिक कर्मों का स्रष्टा है।<sup>१</sup> दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है समस्त प्राणियों को जो अपने समान समझता है और जिसका सभी के प्रति समभाव है वह पाप कर्म का बन्ध नहीं करता है।<sup>२</sup> सूत्रकृतांग में धर्माकर्म (शुभाशुभत्व) के निर्णय में अपने समान दूसरे को समझना यही दृष्टिकोण स्वीकार किया गया है।<sup>३</sup> सभी को जीवित रहने की इच्छा है, कोई भी मरना नहीं चाहता, सभी को प्राण प्रिय है, सुख शान्तिप्रद है और दुःख प्रतिकूल है। इसलिए वही आचरण श्रेष्ठ है जिसके द्वारा किसी भी प्राण का हनन नहीं हो।<sup>४</sup>

### बौद्ध दर्शन का दृष्टिकोण :

बौद्ध विचारणा में भी सर्वत्र आत्मवत् दृष्टि को ही कर्म के शुभत्व का आधार माना गया है। सुत्तनिपात में बुद्ध कहते हैं—जैसा मैं हूँ वैसे ही ये दूसरे प्राणी भी हैं और जैसे ये दूसरे प्राणी हैं वैसे ही मैं हूँ। इस प्रकार सभी को अपने समान समझकर, किसी की हिंसा या घात नहीं करना चाहिए।<sup>५</sup> धम्मपद में भी बुद्ध ने यही कहा है कि—सभी प्राणी दण्ड से डरते हैं, मृत्यु से सभी भय खाते हैं, सबको जीवन प्रिय है अतः सबको अपने समान समझकर न मारे और न मारने की प्रेरणा करें। सुख चाहने वाले प्राणियों को, अपने सुख की चाह से जो दुःख देता है वह मरकर सुख नहीं पाता। लेकिन जो सुख चाहने वाले प्राणियों को, अपने सुख की चाह से दुःख नहीं देता वह मर कर सुख को प्राप्त होता है।<sup>६</sup>

### गीता एवं महाभारत का दृष्टिकोण :

मनुस्मृति, महाभारत और गीता में भी हमें इसी दृष्टिकोण का समर्थन मिलता है। गीता में कहा गया है कि जो सुख और दुःख सभी में दूसरे प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि रखकर व्यवहार करता है वही परमयोगी है।<sup>७</sup> महाभारत में अनेक स्थानों पर इस दृष्टिकोण का समर्थन हमें मिलता है।

१—अनुयोगद्वार सूत्र १२६ ।

२—दशवै० ४/६ ।

३—सूत्रकृतांग २/२/४ पृष्ठ १०४ ।

४—दशवै० ६/११ ।

५—सुत्तनिपात ३७/२७ ।

६—धम्मपद १२६-१३१-१३३ ।

७—गीता ६/३२ ।

उसमें कहा गया है कि जो जैसा अपने लिए चाहता है वैसा ही व्यवहार दूसरे के प्रति भी करे ।<sup>१</sup> त्याग-दान-सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय सभी में दूसरे को अपनी आत्मा के समान मान कर व्यवहार करना चाहिए ।<sup>२</sup> जो व्यक्ति दूसरे प्राणियों के प्रति अपने समान व्यवहार करता है वही स्वर्ग के सुखों को प्राप्त करता है ।<sup>३</sup> जो व्यवहार स्वयं को प्रिय लगता है वैसा ही व्यवहार दूसरों के प्रति किया जाए । हे युधिष्ठिर धर्म और अधर्म की पहिचान का यही लक्षण है ।<sup>४</sup>

### पाश्चात्य दृष्टिकोण :

पाश्चात्य दर्शन में भी सामाजिक जीवन में दूसरों के प्रति व्यवहार करने का यही दृष्टिकोण स्वीकृत है कि जैसा व्यवहार तुम अपने लिए चाहते हो वैसा ही दूसरे के लिए करो । कान्ट ने भी कहा है कि केवल उसी नियम के अनुसार काम करो जिसे तुम एक सार्वभौम नियम बन जाने की इच्छा कर सकते हो । मानवता चाहे वह तुम्हारे अन्दर हो या किसी अन्य के सदैव से साध्य बनी रहे, साधन कभी न हो ।<sup>५</sup> कान्ट का इस कथन का आशय भी यही निकलता है कि नैतिक जीवन के संदर्भ में सभी को समान मानकर व्यवहार करना चाहिए ।

### शुभ और अशुभ से शुद्ध की ओर :

जैन विचारणा में शुभ एवं अशुभ अथवा मंगल-अमंगल की वास्तविकता स्वीकार की गई है । उत्तराध्ययन सूत्र में नव तत्त्व माने गये हैं जिसमें पुण्य और पाप को स्वतंत्र तत्त्व के रूप में गिना गया ।<sup>६</sup> जबकि तत्त्वार्थ सूत्र में उमास्वाति ने जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष इन सातों को ही तत्त्व कहा है । वहाँ पर पुण्य और पाप का स्वतंत्र तत्त्व के रूप में स्थान नहीं है ।<sup>७</sup> लेकिन यह विवाद अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत नहीं होता क्योंकि जो परम्परा उन्हें स्वतंत्र तत्त्व नहीं मानती है वह भी उनको आस्रव व बन्ध तत्त्व के अन्तर्गत तो मान लेती है । यद्यपि पुण्य और पाप मात्र आस्रव नहीं हैं वरन् उनका बन्ध भी होता है और विपाक भी होता है । अतः आस्रव के दो विभाग शुभास्रव और अशुभास्रव करने से काम पूर्ण नहीं होता वरन् बन्ध और विपाक में भी दो-दो भेद करने होंगे । इस वर्गीकरण की कठिनाई से बचने के लिए ही पाप एवं पुण्य को दो स्वतंत्र तत्त्व के रूप में मान लिया है ।

१—म० भा० शा० २५८/२१ ।

२-३—म० भा० अनु० ११३/६-१० ।

४—म० भा० सुभाषित संग्रह से उद्धृत ।

५—नीति सर्व, पृष्ठ २६८ से उद्धृत ।

६—उत्तरा० २८/१४ ।

७—तत्त्वार्थ० १/४ ।

फिर भी जैन विचारणा निर्वाण मार्ग के साधन के लिए दोनों को हेय और त्याज्य मानती है क्योंकि दोनों ही बन्धन का कारण हैं। वस्तुतः नैतिक जीवन की पूर्णता शुभाशुभ या पुण्य-पाप से ऊपर उठ जाने में है। शुभ (पुण्य) और अशुभ (पाप) का भेद जब तक बना रहता है नैतिक पूर्णता नहीं आती है। अशुभ पर पूर्ण विजय के साथ ही व्यक्ति शुभ (पुण्य) से भी ऊपर उठकर शुद्ध दशा में स्थित हो जाता है।

### जैन दृष्टिकोण :

ऋषिभांसित सूत्र में ऋषि कहता है पूर्वकृत पुण्य और पाप संसार-संतति के मूल हैं।<sup>१</sup> आचार्य कुन्दकुन्द पुण्य-पाप दोनों को बन्धन का कारण मानते हुए भी दोनों के बन्धकत्व का अन्तर भी स्पष्ट कर देते हैं। समयसार ग्रन्थ में वे कहते हैं अशुभ कर्म पाप (कुशील) और शुभ कर्म पुण्य (मुशील) कहे जाते हैं। फिर भी पुण्य कर्म भी संसार (बन्धन) का कारण होता है। जिस प्रकार स्वर्ण की बेड़ी भी लोह बेड़ी के समान ही व्यक्ति को बन्धन में रखती है। उसी प्रकार जीव कृत सभी शुभाशुभ कर्म भी बन्धन का कारण होते हैं।<sup>२</sup> आचार्य दोनों को ही आत्मा की स्वाधीनता में बाधक मानते हैं। उनकी दृष्टि में पुण्य स्वर्ण बेड़ी है और पाप लोह बेड़ी। फिर भी आचार्य पुण्य को स्वर्ण बेड़ी कहकर उसकी पाप से किञ्चित् श्रेष्ठता सिद्ध कर देते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र का कहना है कि पार-माथिक दृष्टिकोण से पुण्य और पाप दोनों में भेद नहीं किया जा सकता क्योंकि अन्ततोगत्वा दोनों ही बन्धन हैं।<sup>३</sup> इसी प्रकार पं० जयचन्द्रजी ने भी कहा है—

“पुण्य पाप दोऊ करम, बंधरूप दुइ मानि ।

शुद्ध आत्मा जिन लह्यो, बंदू चरन हित जानि ॥”

अनेक जैनाचार्यों ने पुण्य को निर्वाण के लक्ष्य, दृष्टि से हेय मानते हुए भी उसे निर्वाण का सहायक तत्त्व स्वीकार किया है। यद्यपि निर्वाण की स्थिति को प्राप्त करने के लिए अन्ततोगत्वा पुण्य को छोड़ना होता है फिर भी वह निर्वाण में ठीक उसी प्रकार सहायक है जैसे साबुन, वस्त्र के मैल को साफ करने में सहायक है। शुद्ध वस्त्र के लिए साबुन का लगा होना जिस प्रकार अनावश्यक है उसे भी अलग करना होता है, वैसे ही निर्वाण या शुद्धात्म दशा में पुण्य का होना भी अनावश्यक है। उसे भी क्षय करना होता है। लेकिन जिस प्रकार साबुन मैल को साफ करता है और मैल की सफाई होने पर स्वयं अलग हो जाता है—

१—इसि० ६/२ ।

२—समयसार १४५—१४६ ।

३—प्रवचनसार टीका १/७२ ।

४—समयसार टीका पृष्ठ २०७ ।



वैसे ही पुण्य भी पाप रूप मल को अलग करने में सहायक होता है और उसके अलग हो जाने पर स्वयं भी अलग हो जाता है। जिस प्रकार एरण्ड बीज या अन्य रेचक औषधि मल के रहने तक रहती है और मल निकल जाने पर वह भी निकल जाती है वैसे ही पाप की समाप्ति पर पुण्य भी अपना फल देकर समाप्त हो जाते हैं। वे किसी भी नव कर्म संतति को जन्म नहीं देते हैं। अतः वस्तुतः व्यक्ति को अशुभ कर्म से बचना है। जब वह अशुभ (पाप) कर्म से ऊपर उठ जाता है उसका शुभ कर्म भी शुद्ध कर्म बन जाता है। द्वेष पर पूर्ण विजय पा जाने पर राग भी नहीं रहता है अतः राग-द्वेष के अभाव में उससे जो कर्म निःसृत होते हैं वे शुद्ध (इर्यापथिक) होते हैं।

पुण्य (शुभ) कर्म के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि पुण्यो-पाजन की उपरोक्त क्रियाएँ जब अनासक्तभाव से की जाती हैं तो वे शुभ बन्ध का कारण न होकर कर्मक्षय (संवर और निर्जरा) का कारण बन जाती हैं। इसी प्रकार संवर और निर्जरा के कारण संयम और तप जब आसक्तभाव फलाकांक्षा (निदान अर्थात् उनके प्रतिफल के रूप में किसी निश्चित फल की कामना करना) से युक्त होते हैं तो वे कर्म क्षय अथवा निर्वाण का कारण न होकर बन्धन का ही कारण बनते हैं। चाहे वह सुखद फल के रूप में क्यों नहीं हों। जैनान्तर दर्शन में अनासक्त भाव या राग-द्वेष से रहित होकर किया गया शुद्ध कार्य ही मोक्ष या निर्वाण का कारण माना गया है और आसक्ति से किया गया शुभ कार्य भी बन्धन का ही कारण समझा गया। यहाँ पर गीता की अनासक्त कर्म योग की विचारणा जैन दर्शन के अत्यन्त समीप आ जाती है। जैन दर्शन का अन्तिम लक्ष्य आत्मा को अशुभ कर्म से शुभ कर्म की ओर और शुभ से शुद्ध कर्म (वीतराग दशा) की प्राप्ति है। आत्मा का शुद्धोपयोग ही जैन नैतिकता का अन्तिम साध्य है।

### बौद्ध दृष्टिकोण :

बौद्ध दर्शन भी जैन दर्शन के समान नैतिक साधना की अन्तिम अवस्था में पुण्य और पाप दोनों से ऊपर उठने की बात कहता है और इस प्रकार समान विचारों का प्रतिपादन करता है। भगवान् बुद्ध सुत्तनिपात में कहते हैं जो पुण्य और पाप को दूर कर शांत (सम) हो गया है, इस लोक और परलोक के यथार्थ स्वरूप को जान कर (कर्म) रज रहित हो गया है, जो जन्म-मरण से परे हो गया है, वह श्रमण स्थिर, स्थितात्मा कहलाता है।<sup>१</sup> सभिय परिव्राजक द्वारा बुद्ध वंदना में पुनः इसी बात को दोहराया गया है। वह बुद्ध के प्रति कहता है 'जिस प्रकार सुन्दर पुण्डरीक कमल पानी में लिप्त नहीं होता उसी प्रकार शुद्ध पुण्य और पाप दोनों में लिप्त नहीं होते।'<sup>२</sup> इस प्रकार हम

१—सुत्तनिपात ३२/११ ।

२—सुत्तनिपात ३२/३८ ।

देखते हैं कि बौद्ध विचारणा का भी अन्तिम लक्ष्य शुभ और अशुभ से ऊपर उठना है ।

### गीता का दृष्टिकोण :

स्वयं गीताकार ने भी यह संकेत किया है कि मुक्ति के लिए शुभाशुभ दोनों प्रकार के कर्म फलों से मुक्त होना आवश्यक है । श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं हे अर्जुन ! तू जो भी कुछ कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है, अथवा तप करता है, वह सभी शुभाशुभ कर्म मुझे अर्पित कर दे अर्थात् उनके प्रति किसी प्रकार की आसक्ति या कर्तृत्व भाव मत रख । इस प्रकार संन्यास-योग से युक्त होने पर तू शुभाशुभ फल देने वाले कर्म बन्धन से छूट जावेगा और मुझे प्राप्त होवेगा ।<sup>१</sup> गीताकार स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करता है कि शुभ कर्म और अशुभ कर्म दोनों ही बन्धन हैं और मुक्ति के लिए उनसे ऊपर उठना आवश्यक है । बुद्धिमान व्यक्ति शुभ और अशुभ या पुण्य और पाप दोनों को ही त्याग देता है ।<sup>२</sup> सच्चे भक्त का लक्षण बताते हुए पुनः कहा गया है कि जो शुभ और अशुभ दोनों का परित्याग कर चुका है अर्थात् जो दोनों से ऊपर उठ चुका है वह भक्तियुक्त पुरुष मुझे प्रिय है ।<sup>३</sup> डॉ० राधाकृष्णन् ने गीता के परिचयात्मक निबन्ध में भी इसी धारणा को प्रस्तुत किया । वे आचार्य कुन्दकुन्द के साथ सम स्वर ही कहते हैं—चाहे हम अच्छी इच्छाओं के बन्धन में बन्धे हों या बुरी इच्छाओं के, बन्धन तो दोनों ही हैं । इससे क्या अन्तर पड़ता है कि जिन जंजीरों में हम बन्धे हैं वे सोने की हैं या लोहे की ।<sup>४</sup> जैन दर्शन के समान गीता भी हमें यही बताती है कि प्रथमतः जब पुण्य कर्मों के सम्पादन द्वारा पाप कर्मों का क्षय कर दिया जाता है तदनन्तर वह पुरुष राग-द्वेष के द्वन्द्व से मुक्त होकर दृढ़ निश्चय पूर्वक मेरी भक्ति करता है ।<sup>५</sup> इस प्रकार गीता भी नैतिक जीवन के लिए अशुभ कर्म से शुभ कर्म की ओर और शुभ कर्म से शुद्ध या निष्काम कर्म की ओर बढ़ने का संकेत देती है । गीता का अन्तिम लक्ष्य भी शुभाशुभ से ऊपर निष्काम जीवन-दृष्टि का निर्माण है ।

### पाश्चात्य दृष्टिकोण :

पाश्चात्य आचार दर्शन में अनेक विचारकों ने नैतिक जीवन की पूर्णता के लिए शुभाशुभ से परे जाना आवश्यक माना है । ब्रेडले का कहना है कि

१—गीता ६/२८ ।

२—गीता २/५० ।

३—गीता १२/१६ ।

४—भगवत् गीता (रा०) पृष्ठ ५६ ।

५—गीता ७/२८ ।

नैतिकता हमें उससे परे ले जाती है।<sup>१</sup> नैतिक जीवन के क्षेत्र में शुभ और अशुभ का विरोध बना रहता है लेकिन आत्म पूर्णता की अवस्था में यह विरोध नहीं रहना चाहिए। अतः पूर्ण आत्म-साक्षात्कार के लिए हमें नैतिकता के क्षेत्र (शुभाशुभ के क्षेत्र) से ऊपर उठना होगा। ब्रैडले ने नैतिकता के क्षेत्र से ऊपर धर्म (आध्यात्म) का क्षेत्र माना है। उसके अनुसार नैतिकता का अन्त धर्म में होता है। जहाँ व्यक्ति शुभाशुभ के द्वन्द्व से ऊपर उठकर ईश्वर से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। वे लिखते हैं कि अन्त में हम ऐसे स्थान पर पहुँच जाते हैं, जहाँ पर क्रिया एवं प्रक्रिया का अन्त होता है, यद्यपि सर्वोत्तम क्रिया सर्वप्रथम यहाँ से ही आरम्भ होती है। यहाँ पर हमारी नैतिकता ईश्वर से तादात्म्य में चरम अवस्था में फलित होती है और सर्वत्र हम उस अमर प्रेम को देखते हैं, जो सदैव विरोधाभास पर विकसित होता है, किन्तु जिसमें विरोधाभास का सदा के लिए अन्त हो जाता है।<sup>२</sup>

ब्रैडले ने जो भेद नैतिकता और धर्म में किया वैसा ही भेद भारतीय दर्शनों ने व्यावहारिक नैतिकता और पारमार्थिक नैतिकता में किया है। व्यावहारिक नैतिकता का क्षेत्र शुभाशुभ का क्षेत्र है। यहाँ आचरण की दृष्टि समाज सापेक्ष होती है और लोक मंगल ही उसका साध्य होता है। पारमार्थिक नैतिकता का क्षेत्र शुद्ध चेतना (अनासक्त या बीतराग जीवन दृष्टि) का है, यह व्यक्ति सापेक्ष है। व्यक्ति को बन्धन से बचाकर मुक्ति की ओर ले जाना ही इसका अन्तिम साध्य है।

### शुद्ध कर्म (अकर्म) :

शुद्ध कर्म का तात्पर्य उस जीवन व्यवहार से है जिसमें क्रियाएँ राग-द्वेष से रहित होती हैं तथा जो आत्मा को बन्धन में नहीं डालता है। अबन्धक कर्म ही शुद्ध कर्म है। जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शन इस प्रश्न पर गहराई से विचार करते हैं कि आचरण (क्रिया) एवं बन्धन के मध्य क्या सम्बन्ध है? क्या कर्मणा बध्यते जन्तुः की उक्ति सर्वांश सत्य है? जैन, बौद्ध एवं गीता की विचारणा में यह उक्ति कि कर्म से प्राणी बन्धन में आता है सर्वांश या निरपेक्ष सत्य नहीं है। प्रथमतः कर्म या क्रिया के सभी रूप बन्धन की दृष्टि से समान नहीं हैं फिर यह भी सम्भव है कि आचरण एवं क्रिया के होते हुए भी कोई बन्धन नहीं हो। लेकिन यह निर्णय कर पाना कि बन्धक कर्म क्या है और अबन्धक कर्म क्या है, अत्यन्त ही कठिन है। गीता कहती है कर्म (बन्धक कर्म) क्या है? और अकर्म (अबन्धक कर्म) क्या है? इसके सम्बन्ध में विद्वान् भी

१—इथिकल स्टडीज, पृष्ठ ३१४।

२—इथिकल स्टडीज, पृष्ठ ३४२।

मोहित हो जाते हैं।<sup>१</sup> कर्म के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान अत्यन्त गहन विषय है। यह कर्म समीक्षा का विषय अत्यन्त गहन और दुष्कर क्यों है, इस प्रश्न का उत्तर हमें जैनागम सूत्रकृतांग में भी मिलता है। उसमें बताया गया है कि कर्म, क्रिया या आचरण समान होने पर भी बन्धन की दृष्टि से वे भिन्न-भिन्न प्रकृति के हो सकते हैं। मात्र आचरण, कर्म या पुरुषार्थ को देखकर यह निर्णय देना सम्भव नहीं होता है, कि वह नैतिक दृष्टि से किस प्रकार का है। ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही समान वीरता को दिखाते हुए (अर्थात् समान रूप से कर्म करते हुए) भी अधूरे ज्ञानी और सर्वथा अज्ञानी का, चाहे जितना पराक्रम (पुरुषार्थ) हो, पर वह अशुद्ध है और कर्म बन्धन का कारण है, परन्तु ज्ञान एवं बोध सहित मनुष्य का पराक्रम शुद्ध है और उसे उसका कुछ फल नहीं भोगना पड़ता। योग्य रीति से किया हुआ तप भी यदि कीर्ति की इच्छा से किया गया हो तो शुद्ध नहीं होता।<sup>२</sup> कर्म का बन्धन की दृष्टि से विचार उसके बाह्य स्वरूप के आधार पर ही नहीं किया जा सकता है, उसमें कर्ता का प्रयोजन, कर्ता का विवेक एवं देशकालगत परिस्थितियाँ भी महत्त्वपूर्ण तथ्य हैं और कर्मों का ऐसा सर्वांगपूर्ण विचार करने में विद्वत् वर्ग भी कठिनाई में पड़ जाता है। कर्म में कर्ता के प्रयोजन को जो कि एक आन्तरिक तथ्य है, जान पाना सहज नहीं होता है।

लेकिन फिर भी कर्ता के लिए जो कि अपनी मनोदशा का ज्ञान भी है यह आवश्यक है कि कर्म और अकर्म का यथार्थ स्वरूप समझे क्योंकि उसके अभाव में मुक्ति सम्भव नहीं है। गीता में कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि मैं तुम्हें कर्म के उस रहस्य को बताऊँगा जिसे जानकर तू मुक्त हो जावेगा।<sup>३</sup> वास्तविकता यह है कि नैतिक विकास के लिए बन्धक और अबन्धक कर्म के यथार्थ स्वरूप को जानना आवश्यक है। बन्धकत्व की दृष्टि से कर्म के यथार्थ स्वरूप के सम्बन्ध में समालोच्य आचार दर्शनों का दृष्टिकोण निम्नानुसार है।

### जैन दर्शन में कर्म-अकर्म विचार :

कर्म के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिए उस पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है—(१) उसकी बन्धनात्मक शक्ति के आधार पर और (२) उसकी शुभाशुभता के आधार पर। कर्म का बन्धनात्मक शक्ति के आधार पर विचार करने पर हम पाते हैं कि कुछ कर्म बन्धन में डालते हैं जबकि कुछ कर्म बन्धन में नहीं डालते हैं। बन्धक कर्मों को कर्म और अबन्धक कर्मों को अकर्म कहा जाता है। जैन विचारणा में कर्म और अकर्म के यथार्थ स्वरूप की

१—गीता ४/१६।

२—सूत्रकृतांग १/८/२२-२४।

३—गीता ४/१६।

विवेचना सर्वप्रथम आचारांग एवं सूत्रकृतांग में मिलती है। सूत्रकृतांग में कहा गया है कि कुछ कर्म को वीर्य (पुरुषार्थ) कहते हैं, कुछ अकर्म को वीर्य (पुरुषार्थ) कहते हैं।<sup>१</sup> इसका तात्पर्य यह है कि कुछ विचारकों की दृष्टि में सक्रियता ही पुरुषार्थ या नैतिकता है जबकि दूसरे विचारकों की दृष्टि में निष्क्रियता ही पुरुषार्थ या नैतिकता है। इस सम्बन्ध में महावीर अपने दृष्टि-कोण को प्रस्तुत करते हुए, यह स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं कि कर्म का अर्थ शरीरादि की चेष्टा एवं अकर्म का अर्थ शरीरादि की चेष्टा का अभाव ऐसा नहीं मानना चाहिए। वे अत्यन्त सीमित शब्दों में कहते हैं। प्रमाद कर्म है, अप्रमाद अकर्म है।<sup>२</sup> प्रमाद को कर्म और अप्रमाद को अकर्म कहकर महावीर यह स्पष्ट कर देते हैं कि अकर्म निष्क्रियता की अवस्था नहीं, वह तो सतत जागरूकता है। अप्रमत्त अवस्था या आत्म-जागृति की दशा में सक्रियता अकर्म होती है जबकि प्रमत्त दशा या आत्म-जागृति के अभाव में निष्क्रियता भी कर्म (बन्धन) बन जाती है। वस्तुतः किसी क्रिया का बन्धकत्व मात्र क्रिया के घटित होने में नहीं बरन् उसके पीछे रहे हुए कषाय भावों एवं राग-द्वेष की स्थिति पर निर्भर है।

जैन दर्शन के अनुसार राग-द्वेष एवं कषाय जो कि आत्मा की प्रमत्त दशा है किसी क्रिया को कर्म बना देते हैं। लेकिन कषाय एवं आसक्ति से रहित क्रिया हुआ कर्म-अकर्म बन जाता है। महावीर ने स्पष्ट रूप से कहा है कि जो आस्रव या बन्धन कारक क्रियाएँ हैं वे ही अनासक्ति एवं विवेक से समन्वित होकर मुक्ति के साधन बन जाती हैं।<sup>३</sup> इस प्रकार जैन विचारणा में कर्म और अकर्म अपने बाह्य स्वरूप की अपेक्षा कर्ता के विवेक और मनोवृत्ति पर निर्भर होते हैं। जैन विचारणा में बन्धकत्व की दृष्टि से क्रियाओं को दो भागों में बांटा गया है। (१) इर्यापथिक क्रियाएँ (अकर्म) और (२) साम्परायिक क्रियाएँ (कर्म या विकर्म) इर्यापथिक क्रियाएँ निष्काम वीतराग दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति की क्रियाएँ हैं जो बन्धन कारक नहीं है जबकि साम्परायिक क्रियाएँ आसक्त व्यक्ति की क्रियाएँ हैं जो बन्धन कारक हैं। संक्षेप में वे समस्त क्रियाएँ जो आस्रव एवं बन्ध का कारण हैं, कर्म हैं और वे समस्त क्रियाएँ जो संवर एवं निर्जरा का हेतु हैं अकर्म हैं। जैन दृष्टि में अकर्म या इर्यापथिक कर्म का अर्थ है राग-द्वेष एवं मोह रहित होकर मात्र कर्तृत्व अथवा शरीर, निर्वाह के लिए किया जाने वाला कर्म। जबकि कर्म का अर्थ है राग-द्वेष एवं मोह सहित क्रियाएँ। जैन दर्शन के अनुसार जो क्रिया व्यापार राग-द्वेष और मोह से युक्त होता है बन्धन में डालता है और इसलिए वह कर्म है और जो क्रिया-व्यापार राग-द्वेष और मोह से रहित होकर कर्तव्य निर्वाह या शरीर निर्वाह के लिए किया जाता है वह बन्धन का कारण

१—सूत्रकृतांग १/८/१-२।

२—सूत्रकृतांग १/८/३।

३—आचारांग १/४/२/१।

नहीं है अतः अकर्म है। जिन्हें जैन दर्शन में इर्यापथिक क्रियाएँ या अकर्म कहा गया है उन्हें बौद्ध परम्परा अनुपचित, अव्यक्त या अकृष्ण, अशुक्ल कर्म कहती है और जिन्हें जैन परम्परा साम्परायिक क्रियाएँ या कर्म कहती हैं उन्हें बौद्ध परम्परा उपचित कर्म या कृष्ण-शुक्ल कर्म कहती है। आएँ, जरा इस सम्बन्ध में विस्तार से विचार करें।

### बौद्ध दर्शन में कर्म-अकर्म का विचार :

बौद्ध विचारणा में भी कर्म और उनके फल देने की योग्यता के प्रश्न को लेकर महाकर्म विभंग में विचार किया गया है, जिसका उल्लेख श्रीमती सुमादास गुप्ता ने अपने प्रबन्ध “भारत में नैतिक दर्शन का विकास” में किया है।<sup>१</sup> बौद्ध दर्शन का प्रमुख प्रश्न यह है कि कौन से कर्म उपचित होते हैं। कर्म के उपचित से तात्पर्य संचित होकर फल देने की क्षमता के योग्य होने से है। दूसरे शब्दों में कर्म के बन्धन कारक होने से है। बौद्ध परम्परा का उपचित कर्म जैन परम्परा के विषयोदयी कर्म से और बौद्ध परम्परा का अनुपचित कर्म जैन परम्परा के प्रदेशोदयी कर्म (इर्यापथिक कर्म) से तुलनीय है। महाकर्म विभंग में कर्म की कृत्यता और उपचितता के सम्बन्ध को लेकर कर्म का एक चतुर्विध वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है।

१. वे कर्म जो कृत (सम्पादित) नहीं हैं लेकिन उपचित (फल प्रदाता) हैं—वासनाओं के तीव्र आवेग से प्रेरित होकर किये गये ऐसे कर्म संकल्प जो कार्य रूप में परिणित न हो पाये हैं, इस वर्ग में आते हैं। जैसे किसी व्यक्ति ने क्रोध या द्वेष के वशीभूत होकर किसी को मारने का संकल्प किया हो लेकिन वह उसे मारने की क्रिया को सम्पादित न कर सका हो।

२. वे कर्म जो कृत हैं लेकिन उपचित भी हैं—वे समस्त ऐच्छिक कर्म जिनको संकल्प पूर्वक सम्पादित किया गया है, इस कोटि में आते हैं। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि अकृत उपचित कर्म और कृत उपचित कर्म दोनों शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के हो सकते हैं।

३. वे कर्म जो कृत हैं लेकिन उपचित नहीं हैं—अभिधम्मकोष के अनुसार निम्न कर्म कृत होने पर उपचित नहीं होते हैं अर्थात् अपना फल नहीं देते हैं :—

(अ) वे कर्म जिन्हें संकल्प पूर्वक नहीं किया गया है अर्थात् जो सचिन्त्य नहीं हैं, उपचित नहीं होते हैं।

१—डेवलपमेन्ट आफ मारल फिलासफी इन इंडिया, पृष्ठ १६८-१७४।

- (ब) वे कर्म जो सचिन्त्य होते हुए भी सहसाकृत हैं, उपचित नहीं होते हैं। इन्हें हम आकस्मिक कर्म कह सकते हैं। आधुनिक मनो-विज्ञान में इन्हें विचार प्रेरित कर्म (आइडिया मोटर एक्टिविटी) कहा जा सकता है।
- (स) भ्रान्ति वश किया गया कर्म भी उपचित नहीं होता।
- (द) कृत कर्म के करने के पश्चात् यदि अनुताप या ग्लानि हो तो उसका प्रकटन करके पाप विरति का व्रत लेने से कृत कर्म उपचित नहीं होता।
- (ई) शुभ का अभ्यास करने से तथा आश्रय बल से (बुद्ध के शरणागत हो जाने से) भी पाप कर्म उपचित नहीं होता।

४. वे कर्म जो कृत भी नहीं हैं और उपचित भी नहीं हैं—स्वप्नावस्था में किए गए कर्म इसी प्रकार के होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं प्रथम दो वर्गों के कर्म प्राणी को बन्धन में डालते हैं लेकिन अन्तिम दो प्रकार के कर्म प्राणी को बन्धन में नहीं डालते हैं।

बौद्ध आचार दर्शन में भी राग-द्वेष और मोह से युक्त होने पर कर्म को बन्धन कारक माना जाता है जबकि राग-द्वेष और मोह से रहित कर्म को बन्धन कारक नहीं माना जाता है। बौद्ध दर्शन भी राग-द्वेष और मोह रहित अर्हत के क्रिया व्यापार को बन्धन कारक नहीं मानता है। ऐसे कर्मों को अकृष्ण-अशुक्ल या अव्यक्त कर्म भी कहा गया है।

**गीता में कर्म-अकर्म का स्वरूप :**

गीता भी इस सम्बन्ध में गहराई से विचार करती है कि कौन सा कर्म बन्धन कारक और कौन सा कर्म बन्धन कारक नहीं है ? गीताकार कर्म को तीन भागों में वर्गीकृत कर देता है। (१) कर्म, (२) विकर्म, (३) अकर्म। गीता के अनुसार कर्म और विकर्म बन्धन कारक हैं जबकि अकर्म बन्धन कारक नहीं हैं।

(१) कर्म—फल की इच्छा से जो शुभ कर्म किये जाते हैं, उसका नाम कर्म है।

(२) विकर्म—समस्त अशुभ कर्म जो वासनाओं की पूर्ति के लिए किए जाते हैं, विकर्म हैं। साथ ही फल की इच्छा एवं अशुभ भावना से जो दान, तप, सेवा आदि शुभ कर्म किये जाते हैं वे भी विकर्म कहलाते हैं। गीता में कहा गया

है जो तप मूढ़तापूर्वक हठ से मन, वाणी, शरीर की पीड़ा सहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने की नीयत से किया जाता है वह तापस कहलाता है ।<sup>१</sup> साधारणतया मन, वाणी एवं शरीर से होने वाले हिंसा, असत्य, चोरी आदि निषिद्ध कर्म मात्र ही विकर्म, समझे जाते हैं, परन्तु वे बाह्य रूप से विकर्म प्रतीत होने वाले कर्म भी कभी कर्ता की भावनानुसार कर्म या अकर्म के रूप में बदल जाते हैं । आसक्ति और अहंकार से रहित होकर शुद्ध भाव एवं मात्र कर्तव्य बुद्धि से किये जाने वाले हिंसादि कर्म (जो देखने में विकर्म से प्रतीत होते हैं) भी फलोत्पादक न होने से अकर्म ही हैं ।<sup>२</sup>

(३) अकर्म—फलासक्ति रहित हो अपना कर्तव्य समझ कर जो भी कर्म किया जाता है उस कर्म का नाम अकर्म है । गीता के अनुसार परमात्मा में अभिन्न भाव से स्थित होकर कर्तापन के अभिमान से रहित पुरुष द्वारा जो कर्म किया जाता है, वह मुक्ति के अतिरिक्त अन्य फल नहीं देने वाला होने से अकर्म ही है ।<sup>३</sup>

**अकर्म की अर्थ विवक्षा पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार :**

जैसा कि हमने देखा जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शन, क्रिया व्यापार को बन्धकत्व की दृष्टि से दो भागों में बांट देते हैं । (१) बन्धक कर्म और (२) अबन्धक कर्म । अबन्धक क्रिया व्यापार को जैन दर्शन में अकर्म या इर्यापथिक कर्म । बौद्ध दर्शन में अकृष्ण-अशुक्ल कर्म या अव्यक्त कर्म तथा गीता में अकर्म कहा गया है । प्रथमतः सभी समालोच्य आचार दर्शनों की दृष्टि में अकर्म कर्म-अभाव नहीं है । जैन विचारणा के शब्दों में कर्म प्रकृति के उदय को समझ कर बिना राग-द्वेष के जो कर्म होता है, वह अकर्म ही है । मन, वाणी, शरीर की क्रिया के अभाव का नाम ही अकर्म नहीं । गीता के अनुसार व्यक्ति की मनोदशा के आधार से क्रिया न करने वाले व्यक्तियों का क्रिया त्याग रूप अकर्म भी कर्म बन सकता है । और क्रियाशील व्यक्तियों का कर्म भी अकर्म बन सकता है । गीता कहती है कर्मेन्द्रियों की सब क्रियाओं को त्याग, क्रिया रहित पुरुष जो अपने को सम्पूर्ण क्रियाओं का त्यागी समझता है, उसके द्वारा प्रकट रूप से कोई काम होता हुआ न दीखने पर भी त्याग का अभिमान या आग्रह रहने के कारण उससे वह त्याग रूप कर्म होता है । उसका वह त्याग का अभिमान या आग्रह अकर्म को भी कर्म बना देता है ।<sup>४</sup> इसी प्रकार कर्तव्य प्राप्त

१—गीता १७/१६ ।

२—गीता १८/१७ ।

३—गीता ३/१० ।

४—गीता ३/६ ।



होने पर भय या स्वार्थ वश कर्तव्य कर्म से मुंह मोड़ना, विहित कर्मों का त्याग कर देना आदि में भी कर्म नहीं होते, परन्तु इस अकर्म दशा में भी भय या राग भाव अकर्म को भी कर्म बना देता है।<sup>१</sup> जबकि अनासक्त वृत्ति और कर्तव्य की दृष्टि से जो कर्म किया जाता है। वह राग-द्वेष के अभाव के कारण अकर्म बन जाता है। उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि कर्म और अकर्म का निर्णय केवल शारीरिक क्रियाशीलता या निष्क्रियता से नहीं होता। कर्ता के भावों के अनुसार ही कर्मों का स्वरूप बनता है।

इस रहस्य को सम्यक् रूपेण जानने वाला ही गीताकार की दृष्टि में मनुष्यों में बुद्धिमान योगी है।<sup>२</sup> सभी विवेच्य आचार दर्शनों में कर्म-अकर्म विचार में वासना, इच्छा या कर्तृत्व भाव ही प्रमुख तत्त्व माना गया है। यदि कर्म के सम्पादन में वासना, इच्छा या कर्तृत्व बुद्धि का भाव नहीं है तो वह कर्म बन्धक कारक नहीं होता है। दूसरे शब्दों में बन्धन की दृष्टि से वह कर्म-अकर्म बन जाता है, वह क्रिया अक्रिया हो जाती है। वस्तुतः कर्म-अकर्म विचार में क्रिया प्रमुख तत्त्व नहीं होती है, प्रमुख तत्त्व है कर्ता का चेतन पक्ष। यदि चेतना जाग्रत है, अप्रमत्त है, विशुद्ध है, वासना शून्य है, यथार्थ दृष्टि सम्पन्न है तो फिर क्रिया का बाह्य स्वरूप अधिक भूल्य नहीं रख सकता। पूज्यपाद कहते हैं “जो आत्म तत्त्व में स्थिर है वह बोलते हुए भी नहीं बोलता है, चलते हुए भी नहीं चलता है, देखते हुए भी नहीं देखता है।<sup>३</sup>” आचार्य अमृतचन्द्र सूरी का कथन है रागादि (भावों) से मुक्त युक्त आचरण करते हुए यदि हिंसा (प्राणघात) हो जावे तो वह हिंसा नहीं है।<sup>४</sup> अर्थात् हिंसा और अहिंसा, पाप और पुण्य बाह्य परिणामों पर निर्भर नहीं होते हैं वरन् उसमें कर्ता की चित्तवृत्ति ही प्रमुख है। उत्तराध्ययन सूत्र में भी स्पष्ट रूप से कहा गया है—भावों से विरक्त जीव शोक रहित हो जाता है, वह कमल पत्र की तरह संसार में रहते हुए भी लिप्त नहीं होता।<sup>५</sup>

गीताकार भी इसी विचार दृष्टि को प्रस्तुत करते हुए कहता है जिसने कर्म फलासक्ति का त्याग कर दिया है, जो वासना शून्य होने के कारण सदैव ही आकांक्षा रहित है और आत्म तत्त्व में स्थिर होने के कारण आलम्बन रहित है, वह क्रियाओं को करते हुए भी कुछ नहीं करता है।<sup>६</sup> गीता का अकर्म जैन दर्शन के संवर और निर्जरा से भी तुलनीय है। जिस प्रकार जैन दर्शन में संवर एवं निर्जरा के हेतु किया जाने वाला समस्त क्रिया व्यापार मोक्ष का हेतु होने से अकर्म ही माना गया है। उसी प्रकार गीता में भी फलाकांक्षा से रहित होकर ईश्वरीय आदेश के पालनार्थ जो नियत कर्म किया जाता है वह अकर्म ही माना

१ - गीता १८/७।

२—गीता ४/१८।

३—इष्टोपदेश ४१।

४—पुरुषार्थ० ४५।

५—उत्तरा० ३२/६६।

६—गीता ४/२०।

गया है। दोनों में जो विचार साम्य है वह एक तुलनात्मक अध्येता के लिए काफी महत्त्वपूर्ण है। गीता और जैनागम आचारांग में मिलने वाला निम्न विचार साम्य भी विशेष रूपेण द्रष्टव्य है। आचारांग सूत्र में कहा गया है 'अग्रकर्म और मूल कर्म के भेदों में विवेक रखकर ही कर्म कर।' ऐसे कर्मों का कर्ता होने पर भी वह साधक निष्कर्म ही कहा जाता है। निष्कर्मता के जीवन में उपाधियों का आधिक्य नहीं होता, लौकिक प्रदर्शन नहीं होता। उसका शरीर मात्र योग क्षेत्र का (शारीरिक क्रियाओं) वाहक होता है।<sup>१</sup> गीता कहती है आत्म विजेता, इन्द्रियजित सभी प्राणियों के प्रति समभाव रखने वाला व्यक्ति कर्म का कर्ता होने पर निष्कर्म कहा जाता है। वह कर्म से लिप्त नहीं होता। जो फलासक्ति से मुक्त होकर कर्म करता है वह नैष्ठिक शान्ति प्राप्त करता है। लेकिन जो फलासक्ति से बन्धा हुआ है वह कुछ नहीं करता हुआ भी कर्म बन्धन से बन्ध जाता है।<sup>२</sup> गीता का उपरोक्त कथन सूत्रकृतांग के निम्न कथन से भी काफी निकटता रखता है। सूत्रकृतांग में कहा गया है मिथ्या दृष्टि व्यक्ति का सारा पुरुषार्थ फलासक्ति से युक्त होने के कारण अशुद्ध होता है और बन्धन का हेतु है। लेकिन सम्यक् दृष्टि वाले व्यक्ति का सारा पुरुषार्थ शुद्ध है क्योंकि वह निर्वाण का हेतु है।<sup>३</sup>

इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों ही आचार दर्शनों में अग्रकर्म का अर्थ निष्क्रियता तो विवक्षित नहीं है लेकिन फिर भी तिलकजी के अनुसार यदि इसका अर्थ निष्काम बुद्धि से किये गये प्रवृत्तिमय सांसारिक कर्म माना जाय तो वह बुद्धि संगत नहीं होगा। जैन विचारणा के अनुसार निष्काम बुद्धि से युक्त होकर अथवा वीतरागावस्था में सांसारिक प्रवृत्तिमय कर्म का किया जाना ही सम्भव नहीं। तिलकजी के अनुसार निष्काम बुद्धि से युक्त हो युद्ध लड़ा जा सकता है।<sup>४</sup> लेकिन जैन दर्शन को यह स्वीकार नहीं।<sup>५</sup> उसकी दृष्टि में अग्रकर्म का अर्थ मात्र शारीरिक अनिवार्य कर्म ही अभिप्रेत है। जैन दर्शन की इर्या-पथिक क्रियाएँ प्रमुखतया अनिवार्य शारीरिक क्रियाएँ ही हैं।<sup>६</sup> गीता में भी अग्रकर्म का अर्थ शारीरिक अनिवार्य कर्म के रूप में ग्रहित है (४/२१) आचार्य शंकर ने अपने गीता भाष्य में अनिवार्य शारीरिक कर्मों को अग्रकर्म की कोटि में माना है।

लेकिन थोड़ा अधिक गहराई से विचार करने पर हम पाते हैं कि जैन विचारणा में भी अग्रकर्म अनिवार्य शारीरिक क्रियाओं के अतिरिक्त निरपेक्ष रूप

१—आचारांग १/३/२/४, १/३/१/११०—देखिए आचारांग (संतबाल) परिशिष्ट पृष्ठ ३६-३७।

२—गीता ५/७, ५/१२।

३—सूत्रकृतांग १/८/२२-२३।

४—गीता रहस्य ४/१६ (टिप्पणी)।

५—सूत्रकृतांग २/२/१२।

६—गीता (शां०) ४/२१।

से जनकल्याणार्थ किये जाने वाले कर्म तथा कर्मक्षय के हेतु किया जाने वाला तप, स्वाध्याय आदि भी समाविष्ट है। सूत्रकृतांग के अनुसार जो प्रवृत्तियाँ प्रमाद रहित हैं, वे अकर्म हैं। तीर्थंकरों की संघ प्रवर्तन आदि लोक कल्याण कारक प्रवृत्तियाँ एवं सामान्य साधक के कर्मक्षय (निर्जरा) के हेतु किये गये सभी साधनात्मक कर्म अकर्म हैं। संक्षेप में जो कर्म राग-द्वेष से रहित होने से बन्धन कारक नहीं हैं वे अकर्म ही हैं। गीता रहस्य में भी तिलकजी ने यही दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है—कर्म और अकर्म का जो विचार करना हो तो वह इतनी ही दृष्टि से करना चाहिए कि मनुष्य को वह कर्म कहाँ तक बढ़ करेगा, करने पर भी जो कर्म हमें बढ़ नहीं करता उसके विषय में कहना चाहिए कि उसका कर्मत्व अथवा बन्धकत्व नष्ट हो गया। यदि किसी भी कर्म का बन्धकत्व अर्थात् कर्मत्व इस प्रकार नष्ट हो जाय तो फिर वह कर्म अकर्म ही हुआ—कर्म के बन्धकत्व से यह निश्चय किया जाता है कि वह कर्म है या अकर्म।<sup>१</sup> जैन और बौद्ध आचार दर्शन में अर्हत के क्रिया व्यापार को तथा गीता में स्थितप्रज्ञ के क्रिया व्यापार को बन्धन और विपाक रहित माना गया है, क्योंकि अर्हत या स्थितप्रज्ञ में राग-द्वेष और मोह रूपी वासनाओं का पूर्णतया अभाव होता है अतः उसका क्रिया व्यापार बन्धन कारक नहीं होता है और इसलिए वह अकर्म कहा जाता है। इस प्रकार तीनों ही आचार दर्शन इस सम्बन्ध में एक मत हैं कि वासना एवं कषाय से रहित निष्काम कर्म अकर्म है और वासना सहित सकाम कर्म ही कर्म है, बन्धन कारक है।

उपरोक्त आधारों पर से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कर्म-अकर्म विवक्षा में कर्म का चैतनिक पक्ष ही महत्त्वपूर्ण रहता है। कौन सा कर्म बन्धन कारक है और कौन सा कर्म बन्धन कारक नहीं है इसका निर्णय क्रिया के बाह्य स्वरूप से नहीं वरन् क्रिया के मूल में निहित चेतना की रागात्मकता के आधार पर होगा। पं० मुखलालजी कर्म ग्रंथ की भूमिका में लिखते हैं कि साधारण लोग यह समझ बैठते हैं कि अमुक काम नहीं करने से अपने को पुण्य-पाप का लेप नहीं लगेगा। इससे वे काम को छोड़ देते हैं पर बहुधा उनकी मानसिक क्रिया नहीं छूटती। इससे वे इच्छा रहने पर भी पुण्य-पाप के लेप (बन्ध) से अपने को मुक्त नहीं कर सकते। यदि कषाय (रागादिभाव) नहीं है तो ऊपर की कोई भी क्रिया आत्मा को बन्धन में रखने में समर्थ नहीं है। इससे उल्टा यदि कषाय का वेग भीतर वर्तमान है तो ऊपर से हजार यत्न करने पर भी कोई अपने को बन्धन से छुड़ा नहीं सकता। इसी से यह कहा जाता है कि आसक्ति छोड़कर जो काम किया जाता है, वह बन्धक नहीं होता है।<sup>२</sup> ○

१—गीता रहस्य, पृष्ठ ६६४।

२—कर्मग्रन्थ—प्रथम भाग की भूमिका, पृष्ठ २५-२६।

□ श्री धर्मचन्द्र जैन

सांख्यदर्शन के प्रवर्तक थे महर्षि कपिल । कपिल ने सांख्यदर्शन का प्रणयन करते हुए मूल रूप से जैनदर्शन के सदृश दो ही तत्त्व स्वीकार किए—पुरुष और प्रकृति । कपिल के पुरुष को जैनदर्शन में जीव एवं प्रकृति को अजीव शब्द से पुकारा जा सकता है । जिस प्रकार जैनदर्शन में जीव एवं अजीव के सम्बन्ध से ही अन्य समस्त तत्त्वों की उत्पत्ति स्वीकार की गई है, उसी प्रकार सांख्यदर्शन में पुरुष एवं प्रकृति के संयोग से ही समस्त तत्त्वों की उत्पत्ति मानी गई है । सांख्यदर्शन में पञ्चीस तत्त्व माने गए हैं—प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्राएँ, पाँच महाभूत एवं पुरुष । शेष्वर सांख्य के अनुयायी ईश्वर को भी छद्मीसर्वाँ तत्त्व मानते हैं ।

### कर्म-परिचय :

यद्यपि सांख्यदर्शन में 'कर्म' शब्द का प्रयोग कहीं नहीं हुआ है किन्तु जैनदर्शन में प्रयुक्त 'कर्म' शब्द की अर्थाभिव्यक्ति मिलती है । तभी तो ईश्वर-कृष्ण विरचित 'सांख्यकारिका' के प्रारम्भ में ही आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक इन तीनों प्रकार के दुःखों के आत्यन्तिक क्षय की बात कही गई है । जैनदर्शन में दुःखों को कर्मों का फल माना गया है और कर्मों का विभाजन ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय आदि रूपों से आठ भागों में किया गया है । सांख्यदर्शन में भी जो कुछ सुख-दुःख होते हैं वे अविवेक अथवा अनादि अविद्या के कारण होते हैं । यह अविवेक ही कर्मों का अथवा संसार में भ्रमण करने का मूल कारण है । इसकी समाप्ति होने पर कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है और दुःख-सुख से पुरुष सदा के लिए मुक्त हो जाता है । फिर वह जीवनमुक्ति (अरिहन्तावस्था) एवं विदेहमुक्ति (सिद्धावस्था) को भी प्राप्त कर लेता है । शरीर के रहते हुए जीवनमुक्ति की अवस्था रहती है तथा शरीर के छूटने के पश्चात् विदेहमुक्ति की अवस्था आजाती है ।

### पुरुष एवं उसका संयोग :

जैनदर्शन तथा सांख्यदर्शन में एक मूलभूत अन्तर यह है कि जैनदर्शन जीव को ही समस्त सुख-दुःखों (कर्मों) का कर्ता एवं भोक्ता प्रतिपादित करता है जबकि सांख्यदर्शन इसको अकर्ता एवं द्रष्टा के रूप में प्रतिपादित करता है ।

‘सांख्यकारिका’ में कहा गया है—‘न प्रकृतिर्न न विकृतिः पुरुषः ।’ अर्थात् पुरुष न कारण है और न कार्य ही । वह त्रिगुणातीत, विवेकी, विषयी, चेतन, अप्रसवंधर्मी, अविकारी, कूटस्थ, नित्य, मध्यस्थ, द्रष्टा एवं अकर्ता होता है । जो गुण एक कर्मरहित जीव में जैनदर्शन बतलाता है वे ही गुण सांख्यदर्शन एक पुरुष में निरूपित करता है । ‘सांख्यकारिका’ में निरूपित सिद्धान्त के अनुसार वस्तुतः यह चेतन पुरुष न कभी बन्ध को प्राप्त हुआ है और न होगा—

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।

संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥

अर्थात् किसी पुरुष का न तो बन्धन होता है और न संसरण और मोक्ष ही । अनेक पुरुषों के आश्रय से रहने वाली प्रकृति का ही संसरण, बन्धन और मोक्ष होता है । वास्तव में प्रकृति ही समस्त सृष्टि का मूल कारण है । प्रकृति से ही बुद्धि, अहंकार, मन, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, पंचतन्त्रमात्राएँ एवं पञ्चमहाभूत उद्भूत हुए हैं । प्रकृति ही समस्त दृश्य है । फिर भी प्रकृति एकाकिनि रहकर कुछ भी नहीं कर सकती । पुरुष का संयोग होने पर ही प्रकृति सृष्टि का निर्माण करने में सक्षम होती है । प्रकृति का पुरुष के साथ वैसा ही संयोग है जैसा अन्धे एवं पंगु व्यक्ति का संयोग होता है—‘पङ्क्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ।’ पंगु एवं अन्धा व्यक्ति जिस प्रकार मिलकर अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेते हैं उसी प्रकार प्रकृति के संयोग से पुरुष अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेता है । प्रकृति का पुरुष के साथ यह संयोग कैवल्य की प्राप्ति के लिए ही होता है, किन्तु यह संयोग अनादिकाल से चला आ रहा है ।

### बन्धन-प्रक्रिया :

प्रकृति एवं पुरुष का संयोग ही बन्धन है । यह बन्धन अविवेक के कारण होता है । वास्तव में तो पुरुष निर्विकार, अकर्ता एवं द्रष्टा है और प्रकृति कर्त्री है किन्तु प्रकृति पुरुष का संयोग पाकर ही कार्य करती है । प्रश्न तो तब उपस्थित होता है जब पुरुष अकर्ता, द्रष्टा एवं निर्विकार होते हुए भी अपने को सुखी, दुःखी एवं बन्धन में बँधा हुआ अनुभव करता है । सांख्यदर्शनशास्त्री इसका समाधान करते हुए कहते हैं—बुद्धि एक ऐसा तत्त्व है जिसमें चेतन पुरुष भी संक्रान्त होता है और अनुभूयमान वस्तु भी संक्रात होती है । फलस्वरूप चेतन पुरुष उस वस्तु से प्रभावित अनुभव होता है और बंधन को प्राप्त हो जाता है । यद्यपि पुरुष एवं प्रकृति अत्यन्त भिन्न हैं तथापि पुरुष को इस पार्थक्य का बोध नहीं रहता, इसलिए वह अपने को बँधा हुआ अनुभव करता है । ‘सांख्यकारिका’ में कहा है—

तस्मान्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गन् ।

गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥

अर्थात् दोनों के संयोग से अचेतन बुद्धि आदि प्रकृति चेतन सदृश प्रतीत होते हैं और उसी प्रकार प्रकृति-गुणों के कर्ता होने पर भी उदासीन पुरुष कर्ता सा प्रतीत होता है। यही बंधन है। जब तक यह संयोग चलता रहता है, भोग होता रहता है। लेकिन जब विवेकख्याति द्वारा पुरुष एवं प्रकृति का भेद ज्ञात हो जाता है तब बंधन समाप्त हो जाता है, कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है।

### असत्कार्यवाद :

सांख्यदर्शन का मूल सिद्धान्त असत्कार्यवाद है। असत्कार्यवाद के अनुसार कार्य अपने कारण में अव्यक्तावस्था में विद्यमान रहता है, नया उत्पन्न नहीं होता। तिलों में तेल पहले से अव्यक्तावस्था में विद्यमान रहता है तभी तो उसमें से तेल निकलता है। रेत में से तेल नहीं निकलता क्योंकि उसमें पहले से विद्यमान नहीं होता। संक्षेप में किसी कार्य की अव्यक्तावस्था कारण एवं कारण की व्यक्तावस्था कार्य कही जा सकती है।

यही कारण है कि पुरुष को अकर्ता एवं द्रष्टा प्रतिपादित किया गया है। उसको संदेव निर्विकार बतलाया गया है। वह न बन्धन को प्राप्त होता है और न मुक्त होता है—यह बात भी इसीलिए कही गयी है।

### प्रकृति का उपकार :

प्रकृति पुरुष के भोग एवं कैवल्य के लिए प्रवृत्त होती है। वह प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिए सृष्टि का निर्माण करती है। ईश्वरकृष्ण ने कहा है— 'जैसे बछड़े के बढ़ने के लिए अचेतन दुग्ध स्वतः निकलता है, वैसे ही पुरुष के मोक्ष के लिए प्रकृति भी स्वतः प्रवृत्त होती है।' प्रकृति के विषय में यहाँ तक कह दिया गया कि जिस प्रकार अपनी इच्छा पूर्ति के लिए व्यक्ति कार्य में प्रवृत्त होते हैं, उसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष के मोक्ष के लिए प्रवृत्त होती है।

### कैवल्य :

पुरुष एवं प्रकृति का पार्थक्य-बोध ही कैवल्य का कारण है। इस पार्थक्य-बोध को विवेकख्याति नाम दिया जाता है। इसमें तत्त्वों के अभ्यास को भी कारण माना गया है। 'सांख्यकारिका' में कैवल्य का स्वरूप बतलाते हुए ईश्वरकृष्ण ने कहा है—

एवं तत्त्वाभ्यासान्नाऽस्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् ।

अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥

अर्थात् तत्त्व-ज्ञान का अभ्यास करने से 'न मैं (क्रियावान्) हूँ, न मेरा (भोक्तृत्व) है और न मैं कर्ता हूँ—इस प्रकार सम्पूर्ण एवं विपर्ययरहित होने

से विशुद्ध केवलज्ञान उत्पन्न होता है। तब विमल एवं द्रष्टा के समान निष्क्रिय पुरुष विवेकज्ञान के सामर्थ्य से प्रकृति को देखता है। चेतन पुरुष 'मैंने उसे देख लिया है'—यह विचार करके उदासीन हो जाता है और प्रकृति भी 'उसने मुझे देख लिया है'—यह सोचकर व्यापार शून्य हो जाती है।

जैसे नर्तकी रङ्गस्थ दर्शकों के समक्ष नृत्य के लिए एक बार उपस्थित होने के बाद फिर नृत्य नहीं करती, उसी प्रकार प्रकृति पुरुष के समक्ष अपने को प्रकट कर देने के बाद फिर उस विषय में प्रवृत्त नहीं होती। यथा—

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् ।  
पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाशय विनिवर्तते प्रकृतिः ॥

### विदेह मुक्ति :

विवेकख्याति (सम्यग्ज्ञान) होने के पश्चात् भी शरीर का विनाश नहीं होता। शरीर का विनाश होते ही विदेहमुक्ति हो जाती है। किन्तु प्रश्न उठता है कि प्रकृति का पृथक् रूप से दर्शन कर लेने के पश्चात् एवं उसका व्यापार समाप्त हो जाने के पश्चात् भी शरीर के रहने का क्या औचित्य है? सांख्य-कारिकाकार ने उसका समाधान करते हुए कहा है—

सम्यग्ज्ञानाधिगमात् धर्मादीनामकारणप्राप्ती ।  
तिष्ठतिसंस्कारवशात् चक्रभ्रमिवदृष्टशरीरः ॥

अर्थात् तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो जाने से सञ्चित धर्म; अधर्म इत्यादि कर्मों का बीजभाव तो नष्ट हो जाता है किन्तु प्रारब्ध कर्मों के अवशिष्ट संस्कारों के सामर्थ्य से साधक वैसे ही शरीर धारण किए रहता है, जैसे दण्ड से चलाई गई कुम्हार की चाक फिर दण्ड-चालन न होने पर भी पूर्व उत्पन्न वेग नामक संस्कार से घूमती रहती है।

जिस प्रकार जैनदर्शन में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अन्तराय नामक चार घनघाति कर्मों का क्षय करने पर केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है, किन्तु फिर भी शरीर बना रहता है। अन्य चार कर्मों के समाप्त होने पर ही आत्मा सिद्धावस्था को प्राप्त करती है; उसी प्रकार सांख्यदर्शन में सञ्चित कर्मों का विनाश हो जाने के पश्चात् भी प्रारब्ध कर्मों के बल पर शरीर बना रहता है, उसके विनाश होते ही विदेहावस्था प्राप्त हो जाती है।

### उपसंहार :

सत्य एक ही है किन्तु उसका प्रस्तुतीकरण भिन्न-भिन्न हो सकता है। जैनदर्शन में बंधन एवं मुक्ति की प्रक्रिया तथा कर्मों का स्वरूप जिस सूक्ष्म रूप में प्रतिपादित किया गया है, सांख्यदर्शन में उसको भिन्न रूप में प्रतिपादित करने

का प्रयास किया गया है। जीव (पुरुष) को सांख्यदर्शन अकर्ता मानता हुआ भी बंधन एवं मुक्ति की प्रक्रिया से गुजरता है।

जैनदर्शन की भाँति सांख्यदर्शन भी पुनर्जन्म को स्वीकार करता है। जैनदार्शनिक जिसे कार्मणशरीर कहते हैं, सांख्यदार्शनिक उसे लिङ्गशरीर अथवा सूक्ष्म-शरीर कहते हैं। विदेहमुक्ति होने पर यह लिङ्गशरीर समाप्त हो जाता है।

सत्त्व, रजस्, तमस् इन तीनों गुणों से युक्त प्रकृति को सांख्यदर्शन कर्त्री मानता है तथा इसे ही पुरुष को मुक्ति दिलाने में सहायक भी मानता है। प्रकृति एवं पुरुष का संयोग ही कर्म (संस्कार) को उत्पन्न करता है जिसके फलस्वरूप भोग प्राप्त होता है। अंत में कैवल्य की प्राप्ति विवेकख्याति (सम्यग्ज्ञान) से होती है।



## श्रातमराम

### राग—मांड

अष्ट करम म्हारो काँई करसी जी, में म्हारे घर राखूं राम ।  
इन्द्री द्वारे चित्त बौरत है, तिन वश हूँ नहीं करस्युं काम ॥ अष्ट० ॥१॥

इनको जोर इतोही मुझपै, दुःख विखलावे इन्द्री घाम ।  
जाको जातू में नहीं मानूं, भेदविज्ञान करूँ विश्राम ॥ अष्ट० ॥२॥

कहु राग कहु दोष करत थो, तब विधि आते मेरे घाम ।  
सो विभाव नहीं धारूँ कबहूँ, शुद्ध स्वभाव रहूँ अभिराम ॥ अष्ट० ॥३॥

जिनवर मुनि गुरु की बलि जाऊँ, जिन बतलाया मेरा ठाम ।  
सुखी रहत हूँ दुःख नहीं व्यापत, 'बुधजन' हरषत आठों घाम ॥ अष्ट० ॥४॥

— बुधजन



‘मीमांसा’ शब्द ‘मान’ धातु से जिज्ञासा अर्थ में ‘सन्’ प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। ‘जिज्ञासा’ रूप विशेष अर्थ में ही मीमांसा पद की निष्पत्ति सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। इस प्रकार मीमांसा शब्द का अर्थ होता है— जिज्ञासा और जानने की इच्छा। जैमिनी ऋषि ने तत्कालीन मत-मतान्तरों को संकलित किया तथा उन पर अपने विचारों को जोड़कर सूत्रों की रचना की। जैमिनी के मीमांसा-सूत्र में १६ अध्याय हैं। ‘अघातो धर्म जिज्ञासा’ इसका प्रथम सूत्र है और “विद्यते वाऽन्यकालत्वाद्यथायाज्या सम्प्रैषो यथा याज्या सम्प्रैषः” अन्तिम सूत्र है। प्रथम बारह अध्यायों की विषयवस्तु अन्तिम चार अध्यायों (१३ से १६ तक) की विषयवस्तु से बिलकुल भिन्न है तथा ये अन्तिम चार अध्याय ‘संकर्षण काण्ड’ के नाम से जाने जाते हैं। शबर स्वामी ने प्रथम १२ अध्यायों पर ही अपना भाष्य लिखा है। अतः मीमांसा का यह भाग (अन्तिम चार अध्याय) उत्सन्नप्राय हो चुका है। मीमांसा सूत्र (प्रथम १२ अध्याय) की कुल सूत्र संख्या २६२१ है जो शेष पांच दर्शन-तंत्रों (सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक एवं वेदान्त) के सूत्रों की सम्मिलित संख्या के बराबर है।

मीमांसा-दर्शन में चार बिन्दुओं पर प्रमुख रूपेण चर्चा की गई है : (१) धर्म का स्वरूप; (२) कर्म एवं इसका धर्म से सम्बन्ध; (३) वेदों की विषयवस्तु (विशेष रूप से धर्म और कर्म के प्रत्यय) तथा (४) वेदों का विश्लेषण करने की पद्धति का सोदाहरण प्रस्तुतिकरण (जिससे हम उन्हें सही-सही समझ सकें)।

जैमिनी ने धर्म की परिभाषा ‘चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः’ (१.१.२) कहकर दी है। जैमिनी के अनुसार क्रिया में प्रेरक वचन से लक्षित होने वाला अर्थ धर्म कहलाता है।<sup>१</sup> दूसरे शब्दों में, चोदना द्वारा विश्लेषित अर्थ ही धर्म है। धर्म

१. जैमिनी सूत्र में धर्म की चर्चा हेतु निम्न सूत्र द्रष्टव्य हैं :—

अध्याय	पाद	सूत्र संख्या
१	१	१-५; २४-२६
१	३	१-१४,
२	१	६-१२
२	४	१-२
६	१	१-४

स्वयं में लक्ष्य है जो कि स्वयं में शुभ और अशुभ नहीं है। स्पष्टता के लिये एक उदाहरण लें। मान लीजिये कि एक कानून या आदेश है जो कहता है कि 'किसी की हत्या नहीं करनी चाहिये' या सफाई रखो, या सफाई रखना चाहिये आदि आदि। लेकिन अगर कानून की अवज्ञा करने पर दण्ड का विधान न हो तो कोई भी व्यक्ति उस कानून या राज्यादेश का पालन नहीं करेगा। जिस प्रकार सभी नागरिक मामलों में राज्यादेश सर्वशक्तिमान है उसी प्रकार धार्मिक कृत्यों में वैदिक आदेश<sup>१</sup> हमें बाँधता है क्योंकि इस आदेश को मानने पर भावी जीवन में पुरस्कार मिलेगा। इस दृष्टि से चोदना पद का अर्थ हुआ वैदिक आदेश (या ईश्वरीय आदेश) जो किसी व्यक्ति को कर्म करने के लिए प्रेरित करता है अथवा किसी विशिष्ट प्रकार का कर्म करने से रोकता है। अतः चोदना वैदिक आज्ञा या निर्देश है जो वैदिक ग्रन्थों में निहित है।

धर्म की उत्पत्ति कर्म<sup>२</sup>, जो कि जीवन का नियम है, के द्वारा होती है। अतः यहाँ कर्म के स्वरूप, कर्म के भेद, कर्म का कारण, उद्देश्य एवं उपकरणों आदि पर चर्चा करना अत्यन्त आवश्यक है। मीमांसा-दर्शन में कर्म का तात्पर्य वैदिक यज्ञ सम्बन्धी कर्मकाण्ड के अनुष्ठान के रूप में समझा जाता है। वैसे कर्म हमारी प्रकृति का अविभाज्य अंग है। यह नित्य एवं सार्वजनीन है। कर्म के प्रत्यय में भौतिक वस्तुएँ तथा स्थान या दिक् अनिवार्य रूप से पूर्वकल्पित होता है। कर्म को उद्देश्य के आधार पर भी विशेषित कर सकते हैं तथा यह अंशों से युक्त होता है।<sup>३</sup> कर्म में दैहिक अंगों की गति अनिवार्य है। मानसिक कर्मों

१. वेदों के रचनाकार के बारे में प्रमुख रूप से दो मत हैं—(१) वेद ईश्वर प्रणीत हैं और द्वितीय अपौरुषेय। हमें वेदों को परम्परा से चले आ रहे आदेशों के रूप में समझना चाहिये। इस दृष्टि से इनके रचनाकार के बारे में प्रश्न उठाना निरर्थक है। उदाहरण के रूप में हम किसी पारिवारिक परम्परा को ले सकते हैं। यह परम्परा किसने डाली? यह प्रश्न निरर्थक है। प्रश्न यह अधिक समीचीन है कि यह परम्परा कितनी समयानुकूल है। इस परम्परा के मूलभूत आधार क्या हैं? वेदों में तीन प्रकार के कर्मों—नित्य-नैमित्तिक, निषिद्ध एवं काम्य कर्मों की बात की गई है। जिनका आधार है कि व्यक्ति के विकास के साथ सामाजिक समायोजन। वेदों के आदेशों को आकार के रूप में लेना चाहिये और उसमें विषयवस्तु समयानुकूल भर सकते हैं। लेकिन ध्यान यह रहे कि यह व्यक्ति के और समाज के विकास में सहायक होनी चाहिये।
२. कर्म के बारे में चर्चा मीमांसा-सूत्र के लगभग सभी अध्यायों में हुई है।
३. यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि मीमांसा एक प्रमुख कर्म में कर्म-शृंखलाओं को स्वीकार करता है। अतः प्रश्न होता है कि मौलिक या प्राथमिक कर्म शृंखला क्या है? इस प्रकार की चर्चा अमरीकी दार्शनिक आर्थर सी. डाण्टो ने की है। इस संदर्भ में मेरा लेख—'आर्थर सी, डाण्टो के 'मूल-क्रिया' के प्रत्यय का विश्लेषण'; दार्शनिक त्रैमासिक, वर्ष २४/अप्रैल १९७८, अंक २, दृष्टव्य है।

जैसे कि विचार करना, कल्पना करना, ज्ञान प्राप्त करना आदि को भी समग्र एवं खण्डों के रूप में समझा जा सकता है।

वेद प्रतिपाद्य कर्म तीन प्रकार के हैं—(१) काम्य कर्म, (२) निषिद्ध कर्म तथा (३) नित्य-नैमित्तिक कर्म। जो कर्म स्वर्ग आदि सुख को देने वाले पदार्थों के साधक हों उन्हें काम्य कर्म कहा जाता है। स्वर्ग की कामना करने वाले व्यक्ति द्वारा ज्योतिष्टोमेन यज्ञ करने को काम्य कर्म के उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। श्रुति वाक्यों में कामना विशेष की सिद्धि के लिये यागादि कर्म का विधान है अतः इन्हें 'काम्य कर्म' कहा गया है। जिन कर्मों को करने से अनिष्ट हो जैसे कि मृत्योपरान्त नरक की प्राप्ति आदि उन्हें निषिद्ध कर्म कहा गया है। उदाहरण के रूप में मांस का भक्षण, ब्राह्मण की हत्या, आदि निषिद्ध कर्म कहे गये हैं। नित्य-नैमित्तिक कर्म वे हैं जिन्हें करने पर कोई पुरस्कार या लाभ तो नहीं मिलता मगर न करने पर दोष लगता है। उदाहरण के रूप में संध्योपासना करना, कर्म परम्परा के पालन हेतु स्वाद्ध करना आदि को ले सकते हैं।

वेद प्रतिपाद्य इन तीनों प्रकार के कर्मों को तीन प्रकार के कर्त्तव्यों के रूप में समझ सकते हैं : क्योंकि इनमें 'चाहिये' का भाव छिपा हुआ है। कुछ कर्मों को नहीं करना चाहिये (निषिद्ध कर्म), कुछ कर्मों को अनिवार्य रूप से करना चाहिये (नित्य-नैमित्तिक कर्म) तथा स्वर्गादि सुख की प्राप्ति के लिये धार्मिक कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये (काम्य कर्म)। प्रथम दो प्रकार के कर्त्तव्य सामाजिक एवं व्यक्तिगत प्रकार के हैं और तृतीय प्रकार का कर्त्तव्य पूर्णरूपेण व्यक्तिगत है। विधि की दृष्टि से अर्थात् याज्ञादि कर्मों के निष्पादन में अन्य व्यक्तियों का संदर्भ आवश्यक हो सकता है लेकिन फल की दृष्टि से यह कर्त्तव्य पूर्णरूपेण व्यक्तिगत है।

इन कर्मों के करने पर मिलने वाले फल के बारे में जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। उदाहरण के रूप में 'यजेत् स्वर्गकामः' आदि आदेश वाक्यों के आधार पर कर्म करने पर यज्ञ (कारण) और स्वर्ग (उद्देश्य या फल) के बीच कोई साक्षात् सम्बन्ध दिखाई नहीं देता और कहा जा रहा है कि फल की निष्पत्ति तत्काल न होकर बाद में होती है, तब प्रश्न यह है कि फल काल में कर्म की सत्ता के अभाव में फलोत्पादक किस प्रकार होता है ?

मीमांसकों ने इस समस्या के समाधान हेतु 'अपूर्वं' के प्रत्यय को स्वीकार किया है। इन विचारकों के अनुसार अपूर्वं क्षणिक कर्म का कालान्तर में भावी

फल के साथ कार्य कारणभात्र के उपपत्त्यर्थ एक शक्ति है जो कर्म से उत्पन्न होती है और व्यक्ति की आत्मा में रहती है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक कर्म में अपूर्व (पुण्यापुण्य) उत्पन्न करने की शक्ति रहती है।

कुमारिल ने अपने ग्रन्थ 'तन्त्रवार्तिक' में अपूर्व के स्वरूप पर चर्चा की है। उनके अनुसार अपूर्व प्रधान कर्म में अथवा कर्त्ता में एक योग्यता है जो कर्म करने से पूर्व नहीं थी और जिसका अस्तित्व शास्त्र के आधार पर सिद्ध होता है। कर्म द्वारा उत्पन्न निश्चित शक्ति जो परिणाम तक पहुँचती है, अपूर्व है। अपूर्व का अस्तित्व अर्थापत्ति से सिद्ध होता है। कर्त्ता द्वारा किया गया यज्ञ कर्त्ता में साक्षात् शक्ति उत्पन्न करता है जो उसके अन्दर अन्यान्य शक्तियों की भांति जन्म भर विद्यमान रहती है और जीवन के अन्त में प्रति ज्ञात पुरस्कार प्रदान करती है।

लेकिन दूसरी ओर प्रभाकर और उनके अनुयायी यह स्वीकार नहीं करते कि कर्म कर्त्ता के अन्दर एक निश्चित क्षमता उत्पन्न करता है जो अन्तिम परिणाम का निकटतम कारण है। कर्त्ता में इस प्रकार की क्षमता प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी सिद्ध नहीं होती। दूसरे शब्दों में प्रभाकर के अनुसार क्षमता की कल्पना कर्म में करना चाहिये न कि कर्त्ता में।

मीमांसकों ने अपूर्व के चार प्रकारों की चर्चा की है—(१) परमापूर्व, (२) समुदायापूर्व (३) उत्पत्त्यपूर्व एवं (४) अंगापूर्व। साक्षात् फल को उत्पन्न करने वाले अपूर्व को परमापूर्व या फलापूर्व कहते हैं। यह अन्तिम फल की प्राप्ति कराता है। जहाँ कई भाग मिलकर एक कर्म कहा जाता है वहाँ समुदायापूर्व

१. कर्म और फल के बीच सम्बन्ध की व्याख्या कई प्रकार से की गई है—

- (१) कर्म से उत्पन्न शक्ति जो जीव में किसी न किसी रूप में सुरक्षित रहती है और समयानुसार स्वयं परिणाम उत्पन्न करती है (यह मत जैन, बौद्ध और मीमांसकों का है।)
- (२) स्वयं इस शक्ति में फल उत्पन्न करने का सामर्थ्य नहीं होता, इसके अनुरूप फल उत्पन्न करने के लिये ईश्वर की आवश्यकता पड़ती है (यह मत नैयायिकों एवं वेदान्तियों का है)।

प्रथम मत के अनुसार ऋत्, अदृष्ट, अपूर्व या संस्कार आदि प्राकृतिक कारण-कार्य नियम की भांति फल उत्पन्न करता है। कर्मोत्पन्न शक्ति और फल में सीधा सम्बन्ध रहता है। दूसरे मत के अनुसार शक्ति या नियम में कारणात्मक सामर्थ्य नहीं हो सकता। यह सामर्थ्य केवल चेतन सत्ता में हो सकता है। यह सत्ता ईश्वर है।

२. कुमारिल

होता है। उदाहरण के रूप में दर्श पूर्णमास याग को ले सकते हैं। समुदाय के प्रत्येक यज्ञ का अपना अपूर्व होता है जिसे उत्पत्त्यपूर्व अपूर्व कहते हैं। अंगों से उत्पन्न होने वाला अपूर्व अंगापूर्व कहलाता है।

मीमांसा-दर्शन में कर्म सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन के बाद यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या ये दार्शनिक मात्र कर्म काण्ड (अर्थात् व्यक्ति को क्या करना चाहिये) के बारे में चर्चा करने के अतिरिक्त कुछ नहीं कहते? उनके द्वारा कर्म-काण्ड का किया गया विवेचन कर्म से सम्बन्धित क्या दृष्टि प्रदान करता है? इन प्रश्नों पर विवेचन सम्भवतः हमें उनके कर्म सम्बन्धी विचारों को उचित प्रकार से समझने में सहायक हो सकता है।

जैसा कि हम पहले कह आये हैं कि कर्म हमारे स्वाभाविक अंग हैं, इन्हें त्यागा नहीं जा सकता। मीमांसक दो प्रकार के कर्मों में भेद करते हैं। प्रथम सहजकर्म और द्वितीय ऐच्छिक कर्म। ऐच्छिक कर्मों से बुद्धि का सम्बन्ध होता है। ऐच्छिक कर्म एक काल में एक ही हो सकता है। क्रिया का अर्थ है विषय या वस्तु का देश के साथ संयोग। लेकिन इससे कर्म का प्रत्यय सीमित एवं स्थानीय नहीं कहा जा सकता क्योंकि एक ही विषय दो अलग-अलग कालों में अलग-अलग स्थानों पर हो सकता है। उदाहरण के रूप में अगर हम यह कहें कि 'यह व्यक्ति मथुरा का रहने वाला है' तो हम उसे एक ही स्थान में सीमित नहीं कर सकते। (देखिये जैमिनी सूत्र अध्याय १, पाद ३, सूत्र १६-२५) कर्म का कारण कोई उद्देश्य—संतोष या सुख प्राप्ति की इच्छा—होता है। केवल जीवित प्राणियों के कर्मों का उद्देश्य होता है। अकर्म में भी उद्देश्य होता है। कर्म, उद्देश्य एवं परिणाम में उसी प्रकार का सम्बन्ध है जिस प्रकार का विभिन्न अंगों का शरीर के साथ होता है। इच्छा जो कर्मों का आधार है, का सम्बन्ध ज्ञान से होता है। इच्छा को मनस् के गुण के रूप में ले सकते हैं।

मीमांसा मत के अनुसार कर्म क्रिया पद द्वारा अभिव्यक्त होता है। क्रिया पद के अर्थ के लिये कर्त्ता और विषय की पूर्व कल्पना करनी पड़ती है। प्रत्येक क्रिया में आदेश छिपा रहता है। क्रिया को सार्थक तभी कहा जा सकता है जबकि उसमें आदेश निहित हो जैसे कि यजेत स्वर्गकामः।<sup>१</sup> कर्म (गति) के ज्ञान के बारे में प्रभाकर का मत है कि हमें इसका ज्ञान अनुमान के द्वारा होता है और कुमारिल के अनुसार प्रत्यक्ष द्वारा। प्रभाकर का मत है कि हम वस्तु का केवल किसी स्थान विशेष से जुड़ना और अलग होना देखते हैं और उसके आधार पर कर्म या गति का अनुभव करते हैं। कुमारिल कहते हैं कि हमें गति-

१. इस बिन्दु की व्याख्या यहाँ सम्भव नहीं है। देखें मेरा लेख—भावना का तत्त्व-मीमांसीय स्वरूप : ३१ वीं ऑल इण्डिया औरियन्टल कान्फ्रेंस, जयपुर, १९८२।

कर्म का प्रत्यक्ष होता है क्योंकि यह वस्तु में ही होती है इसी से वह स्थान के किसी एक बिन्दु से जुड़ती है और अन्य से विलग होती है ।

कुमारिल कर्ता को ही कर्म का कारण मानता है जबकि प्रभाकर का यह मत है कि कर्मों को किसी विशिष्टकर्ता, उसकी इच्छाओं और प्रेरणाओं से स्वतंत्र करके विश्लेषित किया जा सकता है । प्रभाकर कर्म के विश्लेषण में निम्न पदों की चर्चा करते हैं—(१) कार्यता ज्ञान, (२) चिकीर्षा, (३) कृति, (५) चेष्टा और (६) बाह्य व्यवहार । दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि कुमारिल कर्म की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं जबकि प्रभाकर कर्म की व्याख्या में हेतु उपागम की सहायता लेते हैं ।<sup>१</sup>

## दोहे

सुख-दुःख आते ही रहें, ज्यों भाटा ज्यों ज्वार ।  
 मन विचलित होवे नहीं, देख चढ़ाव-उतार ॥  
 कपट रहे ना कुटिलता, रहे न मिथ्याचार ।  
 शुद्ध धर्म ऐसा जगे, होय स्वच्छ व्यवहार ॥  
 सहज सरल मृदु नीर-सा, मन निर्मल हो जाय ।  
 त्यागे कुलिश, कठोरता, गांठ न बंधने पाय ॥  
 जो ना देखे स्वयं को, वही बांधता बन्ध ।  
 जिसने देखा स्वयं को, काट लिए दुःख द्वन्द्व ॥  
 राग द्वेष की, मोह की, जब तक मन में खान ।  
 तब तक सुख का, शान्ति का, जरा न नाम निशान ॥  
 भोक्ता बनकर भोगते, बंधन बंधते जायं ।  
 द्रष्टा बनकर देखते, बंधन खुलते जायं ॥  
 पाप होय भट रोक ले, करे न बारम्बार ।  
 धर्मवान जाग्रत रहे, अपनी भूल सुधार ॥

—सत्यनारायण गोयनका

१. विस्तृत विवेचना के लिये मेरे निम्न लेख द्रष्टव्य हैं—

१. Kumarila & Prabhakara's understanding of actions. Indian Philosophical Quarterly, Vol. XI, No. 1, January, 1984.
२. मीमांसा का अर्थवाद और कुछ दार्शनिक समस्याएँ : परामर्श, खण्ड ५, अंक ३, १९८४,

## मसीही धर्म में कर्म की मान्यता

□ डॉ. ए. बी. शिवाजी

समस्त धर्मों में कर्म के प्रत्यय को स्वीकार किया गया है किन्तु उसकी मान्यता प्रत्येक धर्म में विभिन्न प्रकार की है। हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म और जैन धर्म में कर्म की प्रधानता इतनी अधिक है कि उसी के आधार पर पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। यदि तीनों धर्मों का निष्कर्ष निकाला जावे तो यह विदित होता है कि कर्मों से छुटकारा पाना ही मोक्ष, निर्वाण और कैवल्य है। दूसरे शब्दों में कर्म की विवेचना यह हो सकती है कि कर्म, कार्य और कारण का ही रूप है जो कभी भी समाप्त नहीं होता। इसी कारण कर्मों का विभाजन शुभ और अशुभ रूप से यह ध्यान में रखकर किया जाता है कि मनुष्य जो कुछ बोता है, वही काटता है।

मसीही धर्म में यद्यपि कर्म को मान्यता दी है जैसा कि पौलुस लिखता है—“वह हर एक को उसके कामों के अनुसार बदला देगा।”<sup>१</sup> नये नियम में ही एक अन्य स्थान पर पौलुस लिखता है—“घोखा न खाओ, परमेश्वर ठट्टों में नहीं उड़ाया जाता, क्योंकि मनुष्य जो कुछ बोता है वही काटेगा।”<sup>२</sup> अर्थात् कर्म मनुष्य करता है और कर्म का न्याय कोई अदृष्ट शक्ति करती है, जिसको परमेश्वर, ईश्वर, भगवान् कहते हैं। जैन धर्म और बौद्ध धर्म में तो ईश्वर को भी मान्यता प्राप्त नहीं है। इस कारण मनुष्य ही अपने कर्मों को स्वतंत्र रूप से करता है और उनके परिणामों को भोगता है, किन्तु मसीही धर्म में कर्म के साथ विश्वास और ईश्वर के अनुग्रह पर जो प्रभु यीशु मसीह के द्वारा प्राप्त होता है, जोर दिया जाता है जिसका हम आगे चलकर अध्ययन करेंगे।

### हिन्दू धर्म और जैन धर्म में कर्म विषयक भिन्नता :

हिन्दू धर्मावलम्बी की मान्यता यह है कि कर्म अमूर्त है जबकि जैन धर्म की विचारधारा के अनुसार कर्म मूर्त है।

हिन्दू धर्म और जैन धर्म में कर्मों की मान्यता विषयक दूसरी भिन्नता स्मृति से सम्बन्ध रखती है। हिन्दू धर्मावलम्बी यह मानते हैं कि माया के कारण पूर्वजन्म में किये हुए कर्म याद नहीं रहते जबकि जैन धर्म के मतानुसार स्मृति अज्ञान

के कारण से नहीं होती । यदि जीव तप और शुभ कर्मों के द्वारा प्रयास करे तो जीव अज्ञान से छुटकारा पा लेता है और उसे समस्त पूर्व जन्मों और कृतियों की स्मृति हो जाती है ।<sup>१</sup> भारतीय दर्शन के अवलोकन से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दू धर्म, जैन धर्म और बौद्ध धर्म में भले ही कर्म विषयक एवं उसकी मान्यता के संबंध में भिन्नता हो, किन्तु वे सभी कर्म ही को प्रधानता देते हैं और नैतिकता का आधार कर्म ही को मानते हैं । भारतीय विद्वानों ने कर्म सिद्धान्त पर बल देते हुए यह दर्शाया है कि मसीही धर्म में कर्म विचार की कमी है जैसा कि आचार्य रजनीश ने 'महावीर वाणी' में कहा है कि "इस्लाम और ईसाइयत में बहुत मौलिक आचार की कमी है, कर्म के विचार की ।"<sup>२</sup>

हिन्दू धर्म में ईश्वर को सत्ता को स्वीकार किया गया है किन्तु ईश्वर कर्म के व्यापार में हस्तक्षेप नहीं करता । कर्म की मान्यता को बताते हुए लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने लिखा है कि "कर्म का यह चक्र जब एक बार आरम्भ हो जाता है, तब उसे फिर परमेश्वर भी नहीं रोक सकता ।"<sup>३</sup> एक अन्य स्थान पर उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि "कर्म अनादि है; और उसके अखंड व्यापार में परमेश्वर भी हस्तक्षेप नहीं करता ।"<sup>४</sup> इसका अर्थ यह हुआ कि कर्म की अपनी पृथक् सत्ता है व ईश्वर की अलग पृथक् सत्ता है । इस प्रकार द्वैत की विचारधारा जन्म लेती है । कर्म को अनादि कहना और परमेश्वर का हस्तक्षेप न मानने के कारण ही पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय दर्शन एवं धर्म में मान्यता प्राप्त कर्म के प्रत्यय की आलोचना की है ।

#### पाश्चात्य विद्वानों द्वारा आलोचना :

फरक्यूअर ने अपनी पुस्तक 'दी क्राउन ऑफ हिन्दूइज्म' में कर्म की आलोचना करते हुए लिखा है कि कर्म और पुनर्जन्म ने एक नये सिद्धान्त को रूप

१. "The other point of difference they stress on is that while Hindus think Karma, as formless, Jains believe Karma to have shape. Karma according to its origin does inflict hurt or benefit, it Must have a form. Some Hindus believe that it is owing to maya (illusion) that all remembrance of the deeds done in previous birth, which led to the accumulation of Karma is forgotten; but Jains hold that it is owing to Ajnana (ignorance) and when the soul by means of austerity and good actions has got rid of Ajnana it attains omniscience and remembers all the births it has undergone and all that happened in them." Heart of Jainism—Stevenson, P. 175.

२. महावीर वाणी—आचार्य रजनीश, पृ. ५०५

३. गीता रहस्य—बालगंगाधर तिलक, पृ. २७९ (हिन्दी अनुवाद) ४. वही—पृ. २८८



दिया है जब कि धरातल पर वह जन्म और मृत्यु का सिद्धान्त है, वह एक हिन्दू नैतिक सिद्धान्त है ।<sup>१</sup>

हाँग मंहोदय ने कर्म के विषय में एक ही प्रश्न उठाया है कि क्या कर्म नैतिक रूप से संतुष्टि देता है ?

ए. सी. बोक्वेट का मत है कि सांसारिक न्याय के रूप में कर्म सिद्धान्त अपने आप में निन्दनीय है ।<sup>२</sup>

डॉ. ए. एस. थियोडोर का मत है कि कर्म सिद्धान्त के न्यायतावाद में दया, पश्चात्ताप, क्षमा, पापों का शोधन करने का स्थान नहीं है ।<sup>३</sup>

‘गीता रहस्य’ में बाल गंगाधर तिलक एवं अन्य भारतीय विद्वानों द्वारा कर्म के प्रत्यय के प्रतिपादन के द्वारा जो तथ्य सामने आते हैं उनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि कर्म का यह विचार ईश्वर और मनुष्य की स्वतन्त्रता दोनों को छीन लेता है । इसी आधार पर पाश्चात्य विद्वान् सिडनी केव ने अपनी पुस्तक ‘रिडेम्पशन—हिन्दूइज्म एण्ड क्रिश्चियनिटि’ में तीन बातें प्रकट की हैं कि इस सिद्धान्त के कारण संसार बुरे से बहुत बुरा होता जा रहा है । अछूत, अछूत ही रहेंगे और कोढ़ी, कोढ़ी ही । शुभ कर्म जो अर्जित किये गये, उनका परिणाम अगले जीवन में होगा जिसका सम्बन्ध वर्तमान के जीवन और उसकी चेतना से सम्बन्धित नहीं है । दूसरा तथ्य यह कि यदि कर्म दृष्टिकोण ठीक है तो कोढ़ी, लंगड़े, अन्धे और दुःखी व्यक्ति सभी को अभियुक्त (Criminals) गिना जाना चाहिए क्योंकि वे अपने पूर्व जन्म के किये गये अशुभ कर्मों का दण्ड (Punishment) भोग रहे हैं । तीसरा तथ्य यह कि कर्म सिद्धान्त भूतकाल के पाप और वर्तमान के दुःख सम्बन्ध बताने में असफल रहा है क्योंकि भूतकाल की हमें स्मृति नहीं है और कर्म सिद्धान्त हमें कोई आशा नहीं दिलाता कि नैतिक संघर्ष के द्वारा पाप और बुराई से छुटकारा हो जावेगा ।<sup>४</sup>

स्टीफन नेल गांधी जी की हत्या को लेकर प्रश्न उठाते हैं और लिखते हैं—

“The heaviest blow at the traditional doctrine of Karma was dealt by Mr. Gandhi, not by his teaching but by the manner of his death at the hand of an assassin. If all misfortune is the fruit of

१. The crown of Hinduism—Farquhar, P. 212

२. Christian Faith and Non-Christian Religion—A. C. Bonquet, P. 196

३. Religion and Society vol. No. XIV, No. 4, 1967

४. Redemption : Hinduism and Christianity—Sydney Cave. P. 185, 186, 187

ancient deeds, then such a violent death should be evidence of gravely sinful part.”<sup>1</sup>

इसी प्रकार एक भारतीय मसीह लेखक ने अपने विचारों को निम्न रूप से प्रगट किया है—

“जब रामचन्द्रजी को १४ वर्ष का बनवास दिया गया, तो उन्होंने उसे क्यों ग्रहण कर लिया ? क्या वे अपने प्रारब्ध के कारण उसे ग्रहण करने को बाध्य थे, या अपनी माता कौशल्या के कारण ?”<sup>२</sup>

**मसीही धर्म में कर्म :**

मसीही धर्म में कर्म, विश्वास और पश्चात्ताप पर अधिक बल दिया गया है। केवल एक ही प्रत्यय मनुष्य को उद्धार दिलाने में सहायक नहीं हो सकता। एक स्थान पर कर्म की महत्ता पर बल देते हुए याकूब जो प्रभु यीशु मसीह का भाई था, अपनी पत्नी में लिखता है कि “सो तुमने देख लिया कि मनुष्य केवल विश्वास से ही नहीं कर्मों से भी धर्मी ठहरता है।”<sup>३</sup> अर्थात् कर्मों के साथ विश्वास भी आवश्यक है और विश्वास कर्मों के द्वारा सिद्ध होता है जैसा कि एक अन्य स्थान पर याकूब का ही कथन है कि “सो तुमने देख लिया कि विश्वास ने उसके कर्मों के साथ मिलकर प्रभाव डाला है और कर्मों से विश्वास सिद्ध हुआ।<sup>४</sup> याकूब विश्वास और कर्म दोनों को साथ-साथ लेकर चलता है परन्तु उसका भुकाव कर्म की ओर है।

उपरोक्त कथन के तारतम्य में ही वह कहता है—“जैसे देह आत्मा बिना मरी है, वैसा ही विश्वास भी कर्म बिना मरा हुआ है।”<sup>५</sup> एक अन्य स्थान पर वह लिखता है कि “हे निकम्म मनुष्य क्या तू यह भी नहीं जानता कि कर्म बिना विश्वास व्यर्थ है ?”<sup>६</sup> इन कथनों से स्पष्ट है कि मसीह धर्म में कर्म और विश्वास व्यक्ति के सहायक हैं। जहाँ याकूब ने कर्म के ऊपर बल दिया, पौलुस विश्वास पर बल देता है। उसका कथन है कि “मनुष्य विश्वास से धर्मी ठहरता है कर्मों से नहीं।”<sup>७</sup> यह तथ्य स्पष्ट कर देता है कि मनुष्य के कर्म उसका उद्धार नहीं कर सकते। वह अपने कर्मों पर घमण्ड नहीं कर सकता। पौलुस की विचारधारा में कर्म की अपेक्षा विश्वास का महत्त्व है। इसी कारण रोमियों की पत्री में वह कहता है कि “यदि इब्राहीम कर्मों से धर्मी ठहराया जाता तो उसे घमण्ड करने

१. Christian Faith and other faiths—Stephen Neill P. 86

२. वेदान्त और बाइबल—आचार्य जेम्स दयाल खीष्टानन्द पृ. ५३

३. याकूब की पत्री २ : २४

४. याकूब की पत्री २ : २२

५. याकूब की पत्री २ : २६

६. याकूब की पत्री २ : २०

७. रोमियों ५ : १

की जगह होती, परन्तु परमेश्वर के निकट नहीं।”<sup>१</sup> यह कथन करने वाला वही पौलुस है जो प्रभु यीशु मसीह का आरम्भ में शत्रु था किन्तु दर्शन पाने के बाद वह मसीह धर्म का अनन्य भक्त हुआ और अन्य शिष्यों के साथ यह विश्वास करने वाला हुआ कि “प्रभु यीशु मसीह पर विश्वास कर तो तू और तेरा घराना उद्धार पायेगा”<sup>२</sup> प्रभु यीशु मसीह पर विश्वास ही उसका जीवन दर्शन था। नये नियम में उसके द्वारा लिखित कई पत्रियों में इस बात के प्रमाण हैं। जीवन में मोक्ष का आधार कर्म नहीं, विश्वास है। एक स्थान पर पौलुस कहता है कि “विश्वास से धर्मी जन-जीवित रहेगा।”<sup>३</sup> एक अन्य स्थान पर वह कहता है कि “यह बात प्रगट है कि व्यवस्था के द्वारा परमेश्वर के यहाँ कोई धर्मी नहीं ठहरता क्योंकि धर्मीजन विश्वास से जीवित रहेगा।”<sup>४</sup>

प्रभु यीशु मसीह के अन्य शिष्यों ने भी विश्वास पर बल दिया है। इसी विश्वास को लेकर यूहन्ना प्रभु यीशु मसीह के शब्दों को लिखता है कि “यदि तुम विश्वास न करोगे कि मैं वही हूँ तो अपने पापों में मरोगे।”<sup>५</sup>

### मसीह धर्म में शरीर और आत्मा के कर्म :

मसीही धर्म में शरीर और आत्मा के कर्मों को गिनाया गया है। पवित्र शास्त्र बाइबल का दृष्टिकोण हमारे धार्मिक कार्यों के प्रति जो बिना विश्वास के हैं, मँले चिथड़ों के समान हैं। पुराने नियम में यशय्याह नबी की पुस्तक में बताया गया है कि “हम तो सब के सब अशुद्ध मनुष्य के से हैं और हमारे धर्म के काम सब के सब मँले चिथड़ों के समान हैं।”<sup>६</sup> फिर भी शरीर और आत्मा के कर्मों में भेद किये गये हैं। इन भेदों का वर्णन पौलुस ने किया है। वह लिखता है—“शरीर के काम तो प्रकट हैं अर्थात् व्यभिचार, गन्दे काम, लुचपन, मूर्ति पूजा, टोना, बैर, भगड़ा, ईर्ष्या, क्रोध, विरोध, फूट, विधर्म, डाह, मतवलापन, लीला, क्रीड़ा, ऐसे-ऐसे काम करने वाले परमेश्वर के राज्य के वारिस न होंगे। पर आत्मा का फल प्रेम, आनन्द, मेल, धीरज, कृपा, भलाई, विश्वास, नम्रता और संयम हैं, ऐसे-ऐसे कामों के विरोध में कोई व्यवस्था नहीं।”<sup>७</sup>

### कर्मों के द्वारा ईश्वर की महिमा :

कभी-कभी शुभ कर्म करने वाला व्यक्ति अर्थात् धर्मी व्यक्ति भी ईश्वर पर दोष लगाता है कि उसे अच्छे कर्म करते हुए भी विपत्ति, दुःख उठाने पड़ते हैं। बाइबल में ऐसे तीन उदाहरण हैं। एक पुराने नियम में और दो नये नियम में।

१. रोमियो ४ : २

२. प्रेरितो के काम १६ : ३१

३. रोमियो १ : १७

४. गलतियो ३ : ११

५. यूहन्ना ८ : २४

७. गलतियो ५ : १६-२३

६. यशय्याह ६४ : ६

जिसके द्वारा मसीह धर्म में कर्म का ज्ञान होता है कि अच्छे कर्म करने पर भी विपत्ति आती है, बिना कर्म किये भी जन्म से अंधा होना पड़ता है और अशुभ कर्म करने के बाद भी उद्धार हो जाता है। पुराने नियम (old testament) में अय्यूब नामक एक धर्मी व्यक्ति का बयान है। परमेश्वर उसे शैतान के हाथों सौंपता है और उस पर विपत्ति आती है फिर भी अय्यूब ईश्वर पर दोष नहीं लगाता जैसा कि लिखा है—“इन सब बातों में भी अय्यूब ने न तो पाप किया और न परमेश्वर पर मूर्खता से दोष लगाया”<sup>१</sup> और शैतान परमेश्वर के भक्त के सामने पराजित होता है क्योंकि जैसा कहा गया है कि “धर्मी पर बहुत सी विपत्तियां पड़ती तो हैं परन्तु यहोवा उनको उन सब से मुक्त करता है।”<sup>२</sup> विपत्ति पड़ने पर भी अय्यूब विचलित नहीं हुआ और उसके कर्मों के द्वारा परमेश्वर की महिमा हुई।<sup>३</sup>

दूसरा वर्णन एक जन्म के अंधे का है जो नये नियम में यूहन्ना के नौवें अध्याय में वर्णित है। प्रभु यीशु मसीह के चेले उससे पूछते हैं “रब्बी किस ने पाप किया था कि यह अन्धा जन्मा, इस मनुष्य ने, या उसके माता-पिता ने ?” यीशु ने उत्तर दिया कि न तो इसने पाप किया था, न इसके माता-पिता ने, परन्तु यह इसलिये हुआ कि परमेश्वर के काम उसमें प्रकट हों।” इसी कारण मसीही धर्म पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास नहीं करता।

तीसरा वर्णन प्रभु यीशु मसीह के एक मित्र लाजर का है जो यूहन्ना रचित सुसमाचार के ग्यारहवें अध्याय में वर्णित है कि प्रभु यीशु मसीह को लाजर की बीमारी का संदेश भेजा जाता है और उस समय वे कहते हैं कि “यह बीमारी मृत्यु की नहीं, परन्तु परमेश्वर की महिमा के लिए है कि उसके द्वारा परमेश्वर के पुत्र की महिमा हो।”

एक अन्य उदाहरण डाकू का है जिसने जीवन भर अशुभ कर्म किये, प्रभु यीशु मसीह की मृत्यु के समय दो डाकू भी उनके साथ क्रूस पर लटकाये गये थे। एक प्रभु यीशु मसीह की निन्दा कर कह रहा था कि अपने आप को और हमें बचा। दूसरा डाकू पहिले डाकू को डांटता है कि हम तो अपने कुकर्म का दण्ड पा रहे हैं किन्तु इस पवित्र मनुष्य ने क्या किया ? और तब वह यीशु मसीह से कहता है कि “जब तू अपने राज्य में आए, तो मेरी सुधि लेना।” प्रभु यीशु मसीह ने उस डाकू से कहा कि “आज हो तू मेरे साथ स्वर्ग लोक में होगा।”<sup>४</sup>

इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य अपने पूर्व जन्म के कर्मों को नहीं भोगता और न ही पूर्वजन्म के कर्मों का कोई उत्तरदायित्व है।

१. अय्यूब १ : २२

२. भजन संहिता ३४ : १६

३. सम्पूर्ण अध्यायन के लिए पढ़िये अय्यूब १ और २

४. लुका २३ : ३६-४३

### कर्म और अनुग्रह :

मसीही धर्म में कर्म के साथ ही अनुग्रह का बहुत अधिक महत्त्व है क्योंकि उद्धार अनुग्रह के ही कारण है। यदि ईश्वर अनुग्रह न करे तो कर्म व्यर्थ है। बाइबल में लिखा है—“जो मुझ से, हे प्रभु, हे प्रभु कहता है, उनमें से हर एक स्वर्ग के राज्य में प्रवेश न करेगा।”<sup>१</sup> मसीही धर्म इसीलिए अनुग्रह का प्रचार करता है क्योंकि लिखा है—“क्योंकि विश्वास के द्वारा अनुग्रह ही से तुम्हारा उद्धार हुआ है, और यह तुम्हारी ओर से नहीं, वरन् परमेश्वर का दान है और न कर्मों के कारण, ऐसा न हो कि कोई घमण्ड करे।”<sup>२</sup> जीवन में पवित्रता अनुग्रह के ही द्वारा आती है। पौलुस लिखता है कि “मैं परमेश्वर के अनुग्रह को व्यर्थ नहीं ठहराता, क्योंकि यदि व्यवस्था के द्वारा धार्मिकता होती तो मसीह का मरना व्यर्थ होता।”<sup>३</sup> पौलुस का पूर्ण विश्वास था कि प्रभु यीशु मसीह की मृत्यु ही अनुग्रह को पृथ्वी पर मानवता के लिए लाई है।

अनुग्रह को कभी भी क्रय नहीं किया जा सकता और न ही धार्मिक कर्मों के द्वारा अर्जित किया जा सकता है किन्तु अनुग्रह उन्हीं पर होता है जो परमेश्वर की आज्ञा मानता है। पौलुस समझाते हुए लिखता है “पाप की मजदूरी तो मृत्यु है परन्तु परमेश्वर का वरदान हमारे प्रभु यीशु मसीह में अनन्त जीवन है।”<sup>४</sup> इसी अनुग्रह के बारे में वह आगे कहता है—“तो उसने हमारा उद्धार किया; और यह धर्म के कार्यों के कारण नहीं, जो हमने आप किए, पर अपनी दया के अनुसार नए जन्म के स्नान, और पवित्र आत्मा के हमें नया बनाने के द्वारा हुआ।”<sup>५</sup>

### उपसंहार :

मसीही धर्म में कर्म की मान्यता होते हुए भी अनुग्रह का महत्त्व है। वास्तव में परमेश्वर का प्रेम मनुष्य जाति के लिए उसका अनुग्रह है जिसके द्वारा मनुष्य को मोक्ष प्राप्त होता है। एक गुजराती लेखक धनजी भाई फकीर भाई अनुग्रह के बारे में लिखते हैं कि “अनुग्रह कोई जादू का प्रभाव नहीं है अथवा कोई तत्त्व अथवा कोई दान नहीं है किन्तु अनुग्रह एक व्यक्ति है जो प्रभु यीशु मसीह स्वयं हैं।”<sup>६</sup> इस कारण मसीही धर्म में कर्म, विश्वास और अनुग्रह का एक संगम है।



१. भक्ती ७ : २१

२. इफिसियों २ : ८-९

३. गलतियों २ : २१

४. रोमियों ६ : २३

५. तीतुस ३ : ५

६. Kristopanišhed—Dhānji Bhai Fakir Bhai, P. 21

□ डॉ० निजाम उद्दीन

इस्लाम धर्म संसार के परित्याग की, विरक्ति की ओर ले जाने वाला धर्म नहीं; तर्क दुनिया या रहबानियत का संदेश देने वाला नहीं। वह कर्म का संदेश देता है, संयम से जीवन व्यतीत करने का मार्ग प्रशस्त करता है। इस लोक के साथ परलोक पर भी उसकी दृष्टि रहती है और परलोक को इहलोक पर प्राथमिकता देता है। मनुष्य कर्म करने में पूर्णतः स्वतन्त्र है, उसे अपने कर्मों का फल भी निश्चित रूप में भोगना है और 'रोज़े-मशहूर' में—'अन्तिम निर्णय' के दिन उसे अल्लाह के दरबार में हाज़िर होकर अपने कर्मों का हिसाब देना होता है—“जो व्यक्ति सत्कर्म करेगा चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, बशर्ते कि वह मोमिन हो, उसे हम संसार में पवित्र जीवन व्यतीत करायेंगे और परलोक में ऐसे व्यक्तियों को उनके प्रतिकार, पुण्य, उत्तम कर्मों के अनुसार प्रदान किये जायेंगे।”<sup>१</sup>

जैसा कर्म वैसा फल मिलेगा। स्वर्ग और नरक का—जन्नत व दोज़ख का निर्णय लोगों के हक़ में कर्मों के आधार पर ही होगा—डॉ० इक़बाल ने ठीक फरमाया है:—

अमल से जिदगी बनती है जन्नत भी जहन्नम भी,  
यह खाकी अपनी फ़ितरत में, न नुरी है न नारी है।

कुरआन में बार-बार यह घोषणा की गई है—“व बशिरिल्लजीना आमनू व आमिलुस्तुआलिहाति अन्नालाहुम जन्नातिन तजरी मिन-तहतहल अन्हार।”<sup>२</sup>

ए पैगम्बर! ख़ुशख़बरी सुना दीजिए उन लोगों को जो ईमान लाए और काम किये अच्छे, इस बात की कि निःसंदेह उनके लिए जन्नतें (स्वर्ग) हैं जिनके नीचे नहरें बहती हैं।

१—कुरआन, नहल—१२५

२—अलबक़र, २५

लेकिन कर्मों का दारोमदार नीयत पर है। जो जैसी नीयत करेगा उसे वैसा ही मिलेगा। पैगम्बरे-इस्लाम का फ़रमाना है—“कर्म का दारोमदार नीयत पर है और प्रत्येक आदमी को वही मिलेगा जिसकी उसने नीयत की।” अल्लाह कण-भर बुराई, कण-भर भलाई को देखने वाला है। ‘सूरे अलजलजाल’ में अल्लाह ने फ़रमाया है—“जो कोई एक कण समान नेकी करेगा, उसे देखेगा और जो कण समान कुकर्म करेगा, उसे देखेगा”। ‘सूरे अलहज’ में उल्लेख है—“वअबुदु रब्बाकुम वफ़अलू ला अल्लाकुम तुफलिहून”<sup>१</sup> अर्थात् अपने रब की बंदगी करो और भलाई के कर्म करो ताकि हित-कल्याण प्राप्त करो। इस प्रकार कुरआन में तथा अन्तिम पैगम्बर मुहम्मद साहब (सन् ५७१-६३२) ने बार-बार सत्कर्म करने का आदेश दिया है और साथ ही उस व्यक्ति को श्रेष्ठ माना है जो संयमी है—

“इन्ना अकरामाकुम इन्दल्लाहि अतक्काकुम” (अलहजारात, १२/१२) तुम में सर्वाधिक आदरणीय वह है जो तुम में सबसे अधिक संयमी है। इस प्रकार नेक कर्म करना तथा संयमपूर्वक जीवन व्यतीत करना कुरआन का संदेश है और इस्लाम धर्म का एक बुनियादी सिद्धान्त है। ईमान वालों में सबसे अच्छा उस व्यक्ति का ईमान है जिसका आचरण, व्यवहार सबसे अच्छा हो, और जो अपने घरवालों के साथ भी सद्व्यवहार करने में उत्तम हो। अल्लाह ने उस व्यक्ति को नापसन्द किया है जो संसार में दंगा-फसाद पैदा करता है। कुरआन में कहा गया है—“वल्लाहु ला युहिब्बुल मुफसिदीन” (अल-माइदा, ६४) और अल्लाह फ़साद करने वालों से प्रेम नहीं करता ‘ला इकराहा फ़िदीन’ (अल-बक़र) दीन, धर्म के मामले में कोई ज़ोर-जबरदस्ती नहीं। इस प्रकार यहाँ अनावश्यक हिंसा को मान्यता भी नहीं दी गई। इस्लाम बल का नहीं, शान्ति का धर्म है। ‘इस्लाम’ शब्द का अर्थ है अमन व सलामती। यह शान्ति, सुरक्षा प्रदान करने वाला धर्म है और इसमें किसी एक जाति या सम्प्रदाय के लिए मार्गदर्शन नहीं, वरन् सकल मानवजाति के लिए मार्गदर्शन है। यहाँ रंगों-नस्ल का कोई भेदभाव नहीं। नेक अमल और तक्रवा या संयम पर यहाँ विशेष बल दिया गया है। नेक कर्म, सत्कर्म को यहाँ व्यापक रूप में रेखांकित किया गया है। कुरआन में फ़रमाया गया है—

“नेकी यह नहीं है कि तुमने अपने मुख पूर्व की ओर कर लिए या पश्चिम की ओर, वरन् नेकी यह है कि मनुष्य अल्लाह को, क़यामत या अन्तिम दिन को, फ़रिश्तों (देवदूतों) को, अल्लाह द्वारा अवतरित पुस्तक को, और उसके पैगम्बरों को हृदय से—सच्चे मन से स्वीकार करे और अल्लाह के प्रेम में अपना प्रिय धन सम्बन्धियों, अनाथों, याचकों, भिक्षुओं पर, सहायता के लिए हाथ फैलाने

वालों पर और दासों की—बंधकों की मुक्ति पर खर्च करे, नमाज़ कायम करे, ज़कात (वार्षिक लाभ का २½ प्रतिशत) दे। और नेक वे लोग हैं जो प्रण करें, वायदा करें तो उसे पूर्ण करें, और तंगी एवं मुसोबत के समय में, सत्य और असत्य के संघर्ष में सब करें। यह है सत्यवादी लोग, और यही लोग मुत्तकी हैं, संयमी हैं।”

‘तक्रवा’ क्या है ? इस पर भी विचार करना आवश्यक है। कुरआन में तक्रवा करने वाले को, संयमी को इस रूप में व्यंजित किया गया है—“जो अदृश्य या गैब पर विश्वास करते हैं, ईमान लाते हैं, नमाज़ कायम करते हैं—नियमित रूप में नमाज़ पढ़ते हैं, और जो अन्न हमने उनको दिया है उसमें से व्यय करते हैं, जो किताब (कुरआन) तुम पर उतारी गई है और जो किताबें तुमसे पहले उतारी गई हैं, उन सब पर ईमान लाते हैं और आखिरत पर विश्वास करते हैं ऐसे लोग अपने रब की तरफ से सद्मार्ग पर हैं और वही पुण्य, लाभ प्राप्त करने वाले हैं।” ‘सूरे आले-इमरान’ में फ़रमाया गया है—“जो प्रत्येक दशा में अपना धन खर्च करते हैं; चाहे अच्छी दशा में हों या चाहे दुर्दशा में हों, जो शोध को पी जाते हैं और दूसरों के दोष क्षमा कर देते हैं, ऐसे नेक लोग अल्लाह को बहुत पसन्द हैं और जिनकी दशा यह है कि यदि कोई अश्लील कार्य उनसे हो जाये या किसी गुनाह को करके अपने ऊपर अत्याचार कर बैठते हैं तो अल्लाह उन्हें याद आता है और उससे वे अपने दोषों को क्षमा चाहते हैं और अल्लाह के अतिरिक्त और कौन है जो गुनाह क्षमा कर सकता है ? और वह कभी जानबूझकर अपने किये पर आग्रह नहीं करते। ऐसे लोगों का प्रत्युपकार उनके रब के पास यह है कि वह उन्हें क्षमा कर देगा और ऐसे उपवनों में उन्हें दाखिल करेगा, जिनके नीचे नहरें बहती होंगी और वहाँ वह सदैव रहेंगे।” क्या अच्छा बदला है नेक, सत्कर्म करने वालों के लिए।

इस्लाम धर्म में कर्मों के स्वरूप पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है—

(१) ऐसे कर्म जिनका समाज से सम्बन्ध है, उन्हें लौकिक कर्म कह सकते हैं। मनुष्य परस्पर अन्य मनुष्यों से जो व्यवहार करता है वे कर्म इसी श्रेणी में आयेंगे।

(२) आध्यात्मिक कर्म वे हैं जिनका संबंध नमाज़, रोज़ा, हज़ और ज़कात से है। मनुष्य को अल्लाह के अतिरिक्त किसी की पूजा-इबादत नहीं करनी चाहिए, अल्लाह के अतिरिक्त कोई आराध्य नहीं, यह इस्लाम धर्म का प्रमुख सिद्धान्त है और इस पर अमल करना प्रत्येक मुसलमान का कर्तव्य है। इसी को



‘तौहीद’ कहते हैं और इसी में इस्लाम धर्म का मूलमंत्र (कलमा) समाहित है—  
 “ला इलाहा इल्लल्लाह मुहम्मदुर्रसूलल्लाह ।” अर्थात् अल्लाह के सिवाय कोई  
 पूज्य नहीं—इबादत के योग्य नहीं, मुहम्मद अल्लाह के रसूल हैं—संदेश-  
 वाहक हैं ।

जब हम सामाजिक कर्मों की ओर ध्यान देते हैं तो निम्न बातें सामने  
 आती हैं । इन्हें भी अल्लाह का आदेश मानना चाहिए—

(१) माता-पिता के साथ, सद्ब्यवहार करो; यदि तुम्हारे पास उनमें  
 से कोई एक या दोनों वृद्ध होकर रहें तो उन्हें उफ़ तक न कहो, न उन्हें झिड़क  
 कर उत्तर दो, वरन् उनसे सादर बातें करो, नम्रता और दया के साथ उनके  
 सामने झुक कर रहो और दुआ करो—परवरदिगार ! उन पर दया-कृपा कर,  
 जिस तरह प्रेम, दया, करुणा के साथ उन्होंने मेरा पालन-पोषण किया है ।

(२) अपने सम्बन्धियों को, याचकों को, अनाथों को, दीन-निर्धन को  
 अपना हक—अधिकार दो ।

(३) मितव्ययी बनो, अधिक या फ़जूल व्यय करने वाले शैतान के भाई  
 हैं और शैतान ने अपने परमात्मा का एहसान नहीं माना ।

(४) बलात्कार के पास भी न फटको, यह बहुत ही बुरा कर्म है और  
 बहुत ही बुरा मार्ग है ।

(५) अनाथ के माल-सम्पत्ति के पास मत जाओ, एक उत्तम अच्छा  
 मार्ग अपनाओ जब तक कि वह वयस्कता को प्राप्त न हो ।

(६) प्रण या वचन की पाबन्दी करो, निःसंदेह वचन के बारे में तुम्हें  
 उत्तरदायी होना पड़ेगा ।

(७) पृथ्वी पर अकड़ कर मत चलो, न तुम पृथ्वी को विदीर्ण कर  
 सकते हो, न पर्वतों की उच्चता तक पहुँच सकते हो ।

(८) न तो अपना हाथ गरदन से बांध कर रखो और न उसे बिल्कुल  
 ही खुला छोड़ दो कि भर्त्सना, निन्दा, विवशता का शिकार बनो । तेरा रब  
 जिसके लिए चाहता है, रोजी का विस्तार करता है और जिसके लिए चाहता है  
 उसे सीमित कर देता है ।

(९) अपनी सन्तान की दरिद्रता के कारण हत्या न करो, अल्लाह  
 सबको अन्न देने वाला है, उनकी हत्या एक बड़ा अपराध है ।

(१०) किसी को नाहक क़त्ल मत करो ।

(११) किसी ऐसी वस्तु का अनुकरण मत करो जिसका तुम्हें ज्ञान न हो । निःसंदेह आँख, नाक, कान, हाथ, दिल—सब की पूछ-गछ होनी है ।

(१२) मजदूर की मजदूरी उसका श्रम सूखने से पहले दे दो ।

(१३) अपने नौकर के साथ समानता का व्यवहार करो; जो स्वयं खाओ वही उसे खिलाओ, जैसा स्वयं पहनो वैसा उसे भी पहनाओ ।

(१४) नाप कर दो तो पूरा भर कर दो, तोल कर दो तो पूरा, ठीक तराजू से तोल कर दो ।

(१५) अमानत में खियानत—बेईमानी मत करो । कुरआन में कहा गया है—

मन अमिला सालिहन मिन जिकरिन अब उन्सा व हुवा मुमिनुन फला नुहयीयन्नाहू हयातन तथ्यिबा । वला नजजियन्नाहुम अजराहुम बिअहसनि माकानू यअमालून ।<sup>१</sup>

अर्थात् व्यक्ति जो नेक अमल करेगा चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, बशर्ते कि हो वह मोमिन (ईमान, विश्वास रखने वाला) उसे हम संसार में पवित्र जीवन व्यतीत करायेंगे और आखिरत में—परलोक में ऐसे लोगों को उनके उत्तम कर्मों के अनुसार प्रत्युपकार या प्रतिफल प्रदान किया जायेगा ।

‘सूरे कहफ़’ में अंकित है—“इफ़ल्लजीना आमनू व अमिलुस्सालिहाति इन्ना ला नुजीउ अजरामन अहसना अमाला”—जो ईमान लायें और नेक काम करें तो निःसंदेह हम सत्कर्म करने वालों के फल नष्ट नहीं किया करते ।

एक सच्चा मुसलमान यह आस्था रखता है कि मनुष्य को मुक्ति प्राप्त करने के लिए अल्लाह के निर्देशन में कर्म करना चाहिए; मुक्ति की प्राप्ति के लिए मनुष्य को आस्था के साथ कर्मशील रहना होगा । यह आस्था और कर्म दोनों का संयोग आवश्यक है । जीवन को आस्थामय बनाना होगा, बिना आस्था के कर्म और बिना कर्म के आस्था बेकार है । केवल कर्म, केवल आस्था का प्रश्रय लेकर मुक्ति प्राप्त नहीं की जा सकती । इस्लाम में अन्धानुकरण को पसंद नहीं किया गया । ईमान के पाँच तत्व हैं—(१) अल्लाह (२) पैगम्बरों की परम्परा (३) धर्म ग्रन्थ (कुरआन, बाइबिल आदि) (४) देवदूत (५) आखिरत या परलोक । इन पर विश्वास, आस्था रखने पर ही एक व्यक्ति मुसलमान माना जा सकता है ।

जहाँ तक धार्मिक या आध्यात्मिक कर्मों का सम्बन्ध है उन्हें 'हक्कुल्लाह' कहा जाता है। रोज़ा, नमाज़ आदि इन्हीं में सम्मिलित हैं। इस्लाम धर्म के अनुयायियों पर यह फ़र्ज़ है कि (१) वे दिन में पाँच समय नमाज़ अदा करें, (२) साल में एक महीने तक (रमज़ान के महीने में ही) रोज़ा रखें, (३) अर्थ-सम्पन्न हों तो जीवन में एक बार अवश्य 'हज' करें, (४) अपनी वार्षिक आय का २½ प्रतिशत दान करें। इन आवश्यक कर्मों के द्वारा आध्यात्मिक उद्देश्यों की प्राप्ति हो जाती है। ये इस्लाम के चार प्रमुख कर्म-स्तम्भ हैं।

खुदा हमारी नमाज़ का भूखा नहीं, नमाज़ के द्वारा मनुष्य के जीवन में, व्यवहार में परिवर्तन होना आवश्यक है। नमाज़ द्वारा निम्न बातें जीवन में आनी चाहिए—(१) इसके द्वारा अल्लाह के अस्तित्व और उसके गुणों के विषय में मनुष्य की आस्था दृढ़ होती है। आस्था प्राणों में घुलमिल जाती है, आत्मा का एक अंग बन जाती है। (२) नमाज़ ईमान को जीवित, ताज़ा रखती है। (३) इसके द्वारा मनुष्य की महानता, उच्चाचरण, श्रेष्ठता, सदाचार का विकास, सौंदर्य की तथा प्रकृति की आशा-उमंगों को पूरा करने में मनुष्य को सहायता करती है। (४) नमाज़ हृदय को पवित्र करती है, बुद्धि का विकास करती है, अन्तरात्मा को सचेत तथा जीवित रखती है, आत्मा को शान्ति प्राप्त होती है। (५) नमाज़ के द्वारा मनुष्य की अच्छाइयाँ प्रकट होती हैं और अशुभ, अपवित्र बातें समाप्त हो जाती हैं।

रोज़ा मनुष्य को अल्लाह से प्रेम करना सिखाता है क्योंकि रोज़ा केवल अल्लाह की खुशनुदी—प्रसन्नता के लिए रखा जाता है। इसके द्वारा अल्लाह की सन्निकटता का अनुभव होता है। यह मनुष्य की आत्मा को पवित्रता प्रदान करता है, उसे संतुलित जीवन व्यतीत करने का पाठ सिखाता है, सब्र-सन्तोष तथा निःस्वार्थता का भाव उत्पन्न करता है। इच्छाओं का, इन्द्रियों का दमन करना, उन्हें नियंत्रित करना आता है। भूख-प्यास की अनुभूति से सहानुभूति, दया, करुणा के भाव मनुष्य में उत्पन्न होते हैं। इसके द्वारा मनुष्य अनुशासनमय जीवन व्यतीत करता है, सामाजिकता की भावना उत्पन्न होती है।

'ज़कात' इस्लाम का प्रमुख स्तम्भ है। इस शब्द का भाव तो 'पावनता' है, लेकिन व्यवहार में वार्षिक दान—चाहे रुपयों-पैसों के रूप में हो, चाहे वस्तुओं के—पदार्थों के रूप में हो, गरीबों को देना है। लेकिन इसमें दानशीलता के साथ खुदा-प्रेम, आध्यात्मिक उद्देश्य, नैतिक भावना भी शाकिल है। यह स्वेच्छा से दिया जाता है, कोई सरकारी दबाव नहीं जैसे आयकर में है। मानव-प्रेम की यह एक सच्ची अभिव्यक्ति है। वार्षिक आय का कम से कम ढाई प्रतिशत दान देना, ख़ैरात करना अनिवार्य है। ज़कात हक़दार को देनी चाहिए—जिसके पास अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कुछ भी न हो। अनाथ, विकलांग

को जकात देने में प्राथमिकता देनी चाहिए । जकात देने में गर्व या प्रदर्शन नहीं करना चाहिए ।

‘हज’ इस्लाम का अंतिम प्रमुख स्तम्भ है । हज प्रत्येक मुसलमान स्त्री-पुरुष पर फ़र्ज है जिसके पास आर्थिक, शारीरिक, मानसिक सम्पन्नता-समर्थता है । इसे इस्लाम धर्म का सर्वोत्तम और महान् सम्मेलन समझना चाहिए, अमन व शान्ति की अन्तर्राष्ट्रीय कांफ़ेन्स है । इसके द्वारा इस्लाम का सार्वभौम स्वरूप उभर कर सामने आता है । मानव-प्रेम का, समानता का, विश्व-बन्धुता का इससे उत्तम रूप अन्यत्र नहीं मिलता । हज के द्वारा मक्का, मदीना आदि की यात्रा करके हाजी लोग उस युग का भी स्मरण करते हैं जिस युग में हज़रत इब्राहीम ने मक्का का निर्माण किया था । पैग़म्बर मुहम्मद साहब ने जीवन व्यतीत किया था, सकल समाज में आध्यात्मिकता की ज्योति जलाई थी ।

इस्लाम धर्म के अनुसार मनुष्य को अपने कर्म करने में पूर्ण स्वतन्त्रता है, उसे मार्ग दर्शाया गया है, अल्लाह की किताब कुरआन के द्वारा और पैग़म्बर मुहम्मद साहब के जीवन के द्वारा । उसे अच्छे-बुरे की सज़ा अवश्य मिलेगी । खुदा की ओर से नियुक्त फ़रिश्ते उसके प्रत्येक कर्म का लेखा-जोखा दर्ज करते रहते हैं और क़यामत के दिन, योमे-महशर में उसके कर्मों का विवरण—‘एमालनामा’ उसके हाथ में होगा और तदनुसार उसे स्वर्ग, नरक में डाला जायगा; उसे कर्मों का पूरा-पूरा बदला दिया जायगा । यह अवश्य स्मरणीय है कि यदि कोई अपने किए पर पश्चात्ताप करे, क्षमा मांगे और वैसा गुनाह न करे तो अल्लाह उसे क्षमा कर देता है क्योंकि वह ‘रहीम’ और ‘रहमान’ है, वह दयानिधि है, कृपासागर है । यों अल्लाह सर्वशक्तिमान है, उसकी इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता । मनुष्य को अपने-आपको अल्लाह के अधीन समझकर उसकी खुशनुदी के लिए कर्म करने चाहिए और उस मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ मनुष्य कुरआन व इस्लाम की दृष्टि में समझा जायगा जिसके कर्म उत्तम हैं, जिसका आचरण श्रेष्ठ है । “इब्रलाहा ला युगैयिरुमा बि क़ौमिन हत्ता युगैयिरुमा बि अनफुसिहिम ।”

निःसंदेह अल्लाह किसी जाति की दशा को उस समय तक परिवर्तित नहीं करता जब तक कि वह अपनी दशा को नहीं परिवर्तित करती ।



भारतीय दर्शन में कर्म के प्रत्यय का प्रयोग जिस अर्थ में मिलता है उस अर्थ में पाश्चात्य-दर्शन में नहीं मिलता। ऐसा इसलिये है कि भारतीय दर्शन में चार्वाकों को छोड़कर सभी दार्शनिक पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं। अतः पुनर्जन्म की व्याख्या के रूप में 'कर्म' के प्रत्यय को भारतीय दर्शन में समझा गया है जबकि पाश्चात्य-दर्शन में ऐसा नहीं है।

क्रिया-दर्शन पाश्चात्य दर्शन शास्त्र की एक नवीन शाखा है। तत्त्व-मीमांसकों के अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्री एवं विधिशास्त्री भी क्रिया कर्म के प्रत्यय की व्याख्या में रुचि रखते हैं। तत्त्वमीमांसकों की रुचि मानव स्वतंत्रता एवं उत्तरदायित्व आदि कर्म से सम्बन्धित समस्याओं तक ही सीमित थी। समकालीन दार्शनिकों की रुचि इसमें है कि कर्म की व्याख्या कारण-कार्य के रूप में की जा सकती है या नहीं? कुछ दार्शनिक मानव-क्रिया की व्याख्या कारण-कार्य के रूप में करते हैं तो दूसरी ओर अन्य दार्शनिक मानव-क्रिया/कर्म को अन्य प्रकार की घटनाओं से बचाये रखने के लिये क्रिया अथवा कर्म की व्याख्या अभिप्राय एवं हेतु आदि प्रत्ययों द्वारा करते हैं।

इस संक्षिप्त लेख में हम मानव क्रिया/कर्म (Human action) के स्वरूप एवं उसकी कुछ समस्याओं तथा व्याख्या करने वाले कुछ सिद्धान्तों का अति संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करेंगे।

प्रत्येक व्यक्ति 'क्रिया' करता है चाहे वह देहिक हो (जैसा कि मांसपेशीय गति, हाथ उठाना, कोई चीज खरीदना, पुल बनाना, दूसरे व्यक्ति की प्रशंसा करना या उसकी हँसी उड़ाना आदि) या मानसिक (उदाहरणतः गणितीय समस्या का समाधान करना, किसी रहस्य को छुपाये रखना आदि)। लेकिन यह तथ्य कि "मनुष्य क्रिया करते हैं" इस दावे की ओर इंगित नहीं करता कि

\*यद्यपि पाश्चात्य दर्शन में भारतीय दर्शनों की भाँति कर्म-सिद्धान्त का विवेचन नहीं मिलता, पर वहाँ क्रिया-सिद्धान्त के रूप में क्रिया पर व्यापक चिन्तन किया गया है। चूँकि 'कर्म' के मूल में क्रिया अन्तर्निहित है अतः द्रव्य कर्म और भावकर्म के स्वरूप को समझने में पाश्चात्य क्रिया-सिद्धान्त सहायक हो सकता है। इसी दृष्टि से यह निबन्ध यहाँ दिया जा रहा है।

—सम्पादक

मानव क्रिया को लेकर कोई समस्या नहीं है। मनोवैज्ञानिकों, विधिशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों, के लिये 'क्रिया' वह व्यवहार है जो किसी लक्ष्य की ओर उन्मुख होता है। लेकिन 'क्रिया' के बारे में प्लेटो से लेकर आज तक के दार्शनिक विभिन्न प्रकार के प्रश्न उठाते आये हैं। क्रिया के सम्बन्ध में प्रमुख रूप से पाँच प्रकार के प्रश्न दार्शनिकों ने उठाये हैं। ये प्रश्न हैं :—

१. प्रत्ययात्मक प्रश्न (Conceptual)—जैसा कि 'मानव क्रिया क्या है, 'व्यक्ति (Persons) क्या कर सकते हैं ?' अथवा 'व्यक्ति ने क्रिया की' ऐसा कहने का क्या अर्थ है ? तथा 'ऐसा कहने का क्या अर्थ है कि एक व्यक्ति क्रिया कर सकता है ?'

२. व्याख्यात्मक प्रश्न—मानव क्रिया की व्याख्या से सम्बन्धित प्रश्न जैसे कि 'क्या भौतिक शास्त्र, जीवविज्ञान, के सिद्धान्त एवं पद्धति मानव क्रिया को समझने के लिए पर्याप्त हैं ?' 'क्या वैज्ञानिक प्रत्ययों से इतर किन्हीं अन्य प्रत्ययों जैसे कि सोद्देश्यता (purposiveness) एवं लक्ष्योन्मुखता (goal directedness) जैसे प्रत्ययों की मानव क्रिया की व्याख्या के लिए क्या अनिवार्यता है ?

३. तत्त्वमीमांसीय प्रश्न—जैसे कि 'क्या सभी मानव-क्रियाएँ उत्पन्न की जाती हैं' (are caused) ? क्या मानव क्रिया उत्पन्न की जा सकती है ? इस प्रकार के प्रश्नों का सम्बन्ध इच्छा-स्वातन्त्र्य की जटिल समस्याओं से है

४. ज्ञानमीमांसीय प्रश्न—जैसे कि क्या निरीक्षण या किन्हीं अन्य साधनों के द्वारा हम यह जानते हैं कि हम क्रिया कर रहे हैं ? "हम कैसे जानते हैं कि अन्य व्यक्ति क्रिया करते हैं ?"

५. नीतिशास्त्रीय एवं परा-नीतिशास्त्रीय प्रश्न—इस कोटि में जो प्रश्न आते हैं वे हैं—क्या क्रियाएँ अथवा उनके परिणाम अच्छे या बुरे होते हैं ? तथा ऐसा कहने का क्या अर्थ है 'कि व्यक्ति अपनी क्रिया या उनके परिणाम के लिए उत्तरदायी है ?'

यह बात स्पष्ट है कि क्रिया से सम्बन्धित प्रत्ययात्मक प्रश्न (Conceptual questions) ही प्रमुख प्रश्न हैं। क्रियाओं की व्याख्या, क्रियाओं के कारण, क्रियाओं का ज्ञान, क्रियाओं एवं उनके परिणामों व मूल्यांकन के लिए सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि 'क्रिया' का क्या अर्थ है ? दूसरे शब्दों में, क्रिया के स्वरूप से सम्बन्धित सिद्धान्त का स्थान तार्किक दृष्टि से क्रिया के व्याख्यात्मक, तत्त्वमीमांसीय, ज्ञानमीमांसीय, नैतिक एवं परा-नैतिक (meta-ethical) सिद्धान्तों से पहले आता है। अतः हम सर्वप्रथम क्रिया के स्वरूप एवं विवरण (descriptions) से सम्बन्धित समस्याओं पर विचार करेंगे।

### मानव क्रिया का स्वरूप :

मानव क्रिया के स्वरूप पर प्रकाश डालने के लिए हम इस प्रश्न पर विचार करें कि हमारी क्रियाएँ प्रकृति में होने वाले विभिन्न परिवर्तनों (Changes) से कैसे महत्त्वपूर्ण रूप से भिन्न हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि मानव स्वयं गति करने वाला (self-mover) है तथा वह स्वयं से अपनी गतियों (क्रियाओं) को प्रारम्भ (initiate) करता है, निर्देशित (direct) करता है एवं नियंत्रित करता है। जबकि पर्वत, मिट्टी, फूल आदि चीजें स्वयं से गति नहीं करतीं अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जा सकतीं। लेकिन केवल 'स्वयं गति करना' पद से मानव क्रियाओं को अन्य परिवर्तनों या गतियों से विभेदित नहीं कर सकते क्योंकि राकेट, जो जीवित प्राणियों की कोटि में नहीं आता, भी स्वयं से गति करता (self-propelled) है, अपने व्यवहार को निर्देशित भी करता है, अतः क्रिया को समझने के लिए किसी अन्य मानदण्ड की आवश्यकता है।

मनुष्यों की गतियाँ इसलिए क्रिया की कोटि में आती हैं कि उन्हें कर्ता (agent) अक्सर अभिप्रायपूर्वक (intentionally) करता है। जबकि पेड़ पौधे, राकेट आदि वैसा नहीं कर सकते। उन पर क्रिया की जाती है। वे अभिप्रायपूर्वक स्वयं से क्रिया नहीं कर सकते। मानव अपनी क्रिया का नियंत्रण (Control) स्वेच्छा से कर सकता है।

हमारे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि मनुष्य सदैव सक्रिय रहता है बल्कि कभी-कभी वह निष्क्रिय (passive) भी होता है तथा उस पर क्रिया की जाती है। उस स्थिति में मनुष्य एवं निम्न प्राणियों के व्यवहार में अन्तर स्पष्ट दिखाई नहीं देता। कोई व्यक्ति यह कह सकता है कि मनुष्य सदैव अपने व्यवहार को नियंत्रित नहीं कर सकता अतः वह निर्जीव व्यक्ति के समान है। उदाहरण के रूप में कोई व्यक्ति पाँचवीं मजिल की खिड़की से गिरता है तो वह उसी प्रकार नीचे गिरेगा जैसे कि कोई बेजानदार वस्तु नीचे गिरती है। वह अपने गिरने के व्यवहार को बीच में नियंत्रित नहीं कर सकता। लेकिन यहाँ हमें दो बातों में भेद करना चाहिए—(१) क्या व्यक्ति को किसी ने धक्का दिया या (२) वह स्वयं से नीचे कूदा। उदाहरण के लिए आत्महत्या हेतु स्वयं से नीचे कूदा। प्रथम स्थिति में वह निर्जीव वस्तु के समान है लेकिन द्वितीय स्थिति वह स्थिति है जो मनुष्य को निर्जीव वस्तुओं से विभेदित करती है। यह बात सही है कि वह दोनों ही स्थितियों में अपने गिरने के व्यवहार को नियंत्रित नहीं कर सकता लेकिन गिरने का कारण ही उसके व्यवहार को विभेदित कर देता है। 'क्रिया के आन्तरिक कारण' एवं 'बाह्य कारण' कहकर इस भेद की व्याख्या करना समस्या का अतिसरलीकरण कहा जायेगा। उदाहरणतः ऐसी बहुत सी मानव गतियाँ (Human movements) हैं जिनका कारण

आन्तरिक होता है लेकिन हम यह नहीं कह सकते हैं कि वे ऐच्छिक एवं अभिप्रायात्मक क्रियाएँ हैं तथा वे कर्त्ता के नियंत्रण में हैं। उदाहरण के लिए हाथ का काँपना, मिर्ची आना आदि सहज क्रियाओं का कारण आन्तरिक (नाड़ीतंत्र से सम्बन्धित) है लेकिन उनको नियंत्रित नहीं किया जा सकता।

यह बात सही है कि उस चीज को जो अभिप्रायात्मक क्रियाओं को अन्य क्रियाओं से विभेदित करती है, को बताना अत्यन्त कठिन है। लेकिन विभेदीकरण में कठिनाई के आधार पर अभिप्रायात्मक क्रियाओं को नकारा नहीं जा सकता। इसके अतिरिक्त अगर अभिप्रायात्मक क्रियाओं एवं अन्य प्रकार की क्रियाओं में भेद नहीं माना गया तो इसके परिणाम मानव-दर्शन, नीतिशास्त्र के लिए अच्छे नहीं होंगे। जिस सीमा तक अभिप्रायात्मक (intentional) एवं अन-अभिप्रायात्मक क्रियाओं (non-intentional) में भेद नहीं है उसी सीमा तक मनस् युक्त प्राणियों में एवं मनस् रहित प्राणियों में भेद नहीं कहा जायेगा। अभिप्रायात्मकता का उत्तरदायित्व (responsibility) से सम्बन्ध होने के कारण किसी क्रिया को शुभ और अशुभ कहा जाता है। यह हम जानते हैं कि पेड़-पौधे एवं निर्जीव वस्तुएँ अपने व्यवहार को नियंत्रित नहीं कर सकते अतः हम उन्हें उत्तरदायी भी नहीं ठहरा सकते और न ही उनके व्यवहार को शुभ और अशुभ कह सकते हैं।

मनस और शरीर के सम्बन्ध की व्याख्या के लिए वे अभिप्रायात्मक क्रियाएँ जिनका सम्बन्ध अनिवार्यतः दैहिक गति (जैसे कि खिड़की से बाहर कूदना) से होता है, महत्त्वपूर्ण हैं। कुछ ऐसी भी क्रियाएँ होती हैं जिन्हें मानसिक क्रियाएँ कहा जाता है (जैसे कि स्मरण करना, प्रतिमा (image) बनाना, दार्शनिक समस्या पर चिन्तन करना आदि)। इनका दैहिक गति से अनिवार्य सम्बन्ध नहीं होता। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि व्यक्ति जो कुछ भी करता है वह सबका सब क्रिया की कोटि में नहीं आता क्योंकि गति एवं निश्चलता क्रिया एवं अक्रिया में भेद बताने के लिए भी 'मानव-क्रिया' पद का प्रयोग किया जाता है।

'क्रिया क्या है' इस प्रश्न की व्याख्या इस दृष्टि से कि 'क्रिया को कैसे वर्णित किया जा सकता' के द्वारा भी की जा सकती है। क्रिया वर्णन (action description) के द्वारा क्रिया के स्वरूप पर प्रकाश डालने से पूर्व हम कुछ क्रिया सदृश्य लगने वाले प्रत्ययों पर विचार करना चाहेंगे।

### क्रियाएँ (actions) बनाम प्रक्रियाएँ (processes) :

क्रिया का कोई न कोई कर्त्ता (agent) अवश्य होता है। जैसे कि "उसने (कर्त्ता ने) 'अ' (क्रिया) को किया।" यही बात क्रियाओं (जैसे कि मेरा हाथ



उठाना) को प्रकृति की प्रक्रियाओं (जैसे कि बूंदों का वाष्पीकृत होना) से विभेदित करती है। क्योंकि उनमें कर्त्ता के बारे में बताना आवश्यक नहीं है और न वहाँ उत्तरदायित्व की बात उठती है।

### क्रियाएँ बनाम भावावेश (Passions) :

क्रिया वह है जिसे कोई कर्त्ता करता है। इस कथन में यह भाव है कि हम क्रिया को उसके कर्त्तापन (agency) के एक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। क्रिया इसी कारण कुछ घटित होने (happens to) से भिन्न है। उदाहरण के रूप में उसका नीचे बैठना (क्योंकि वह कमजोरी का अनुभव करता है) से उसके गिर पड़ने से (क्योंकि उसका पैर केले के छिलके पर पड़ गया था) भिन्न है। कुछ अन्य बातें ऐसी हैं जिन्हें कर्त्ता करता है लेकिन वे क्रियाओं की कोटि में नहीं आतीं। इस बात को समझने के लिए निम्न विभेदीकरणों पर विचार कीजिए :—

### क्रियाएँ बनाम मात्र व्यवहार (mere-behaviour) :

व्यक्ति ऐसे बहुत से व्यवहार करता है जिनके कर्त्ता के बारे में विचार नहीं किया जाता। इस प्रकार के करने (doings) को क्रिया की कोटि में नहीं रखा जाता। क्रिया किसी के साथ घटित होती है (happens to some one) अथवा कुछ करना पड़ता है (just happens to do) से विपरीत-व्यवहार की एक प्रकरण (item) है जिसके होने पर (व्यक्ति) नियंत्रण कर सकता है।

### क्रियाएँ बनाम पर्यवसान (terminations) :

कर्त्ता क्रियाएँ (activity verbs : listening for, looking at, searching for) तथा उपलब्धि क्रियाएँ (achievement verbs : hearing, seeing, finding) में भेद है। प्रथम प्रकार की कोटि, क्रियाओं का प्रतिनिधित्व करती है लेकिन द्वितीय कोटि (जो केवल क्रिया का परिणाम है) नहीं करती। उदाहरण के रूप में वैवाहिक संस्कारों में भाग लेना क्रिया है लेकिन गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना क्रिया नहीं (संस्कारों को करने का परिणाम है)।

### संयम रखना (refraining) बनाम क्रिया न करना (non-action) :

निर्व्यापारत्व या अक्रियता (inaction) के दो महत्वपूर्ण पर्याय हैं। प्रथम है संयम रखना। किसी महत्वपूर्ण व्यक्ति से वार्तालाप करते समय मच्छर के काटने से उत्पन्न पोड़ा वाले अंग को न सहलाना संयम रखने का उदाहरण है। दूसरे प्रकार का निर्व्यापारत्व क्रिया न करने (non-action) की कोटि में आता है। उदाहरण के रूप में जब मैं कुर्सी पर बैठकर पढ़ रहा होता हूँ तो मैं बहुत-सी बातें जैसे कि लेख लिखना, मित्र से गप लगाना, आदि नहीं

कर रहा होता हूँ । यह निर्व्यापार किसी प्रकार का 'करना' (doing) नहीं है । इनके करने में मैं किसी प्रकार सक्रिय नहीं होता । अतः संयम से भिन्न है ।

### क्रियाएँ बनाम मानसिक क्रियाएँ :

क्रिया में दैहिक पहलू भावात्मक रूप में कुछ करने के रूप में या अभावात्मक रूप में संयम रखने के रूप में अवश्य होना चाहिए । अतः विशुद्ध रूप से मानसिक क्रियाएँ जो पूर्णतः आन्तरिक (internal) होती हैं, क्रिया की कोटि में नहीं आतीं । बाह्य मौखिक स्वीकृति देना क्रिया है लेकिन स्वयं में 'मौन स्वीकृति देना' (tacit assent) क्रिया नहीं है । चिन्तित होना स्वयं में क्रिया नहीं है यद्यपि परिकल्पान्त रूप से कदम बढ़ाना क्रिया है । प्रत्येक क्रिया का बाह्य शारीरिक पहलू (Component) होता है तथा इसमें किसी न किसी प्रकार की शारीरिक क्रिया निहित होती है । क्रियाएँ व्यक्ति अर्थात् दैहिक (Corporeal) शरीर युक्त कर्त्ता क्रिया करता है ।

क्रिया को वर्णित<sup>१</sup> करने के लिए क्रिया को वर्णित करने वाले निम्न तत्त्वों पर विचार करना चाहिए —

१. कर्त्ता (agent) : इसे (क्रिया को) किसने किया ?
२. क्रिया प्रकार (act-type) : उसने क्या किया ?
३. क्रिया करने की प्रकारता (modality of action) : उसने किस प्रकार से किया ?
  - (अ) प्रकारता की विधि (modality of manners) : किस प्रकारता की विधि से उसने किया ।
  - (ब) प्रकारता का साधन (modality of means) : उसने किस साधन द्वारा इसे किया ।
४. क्रिया की परिस्थिति (setting of action) : किस संदर्भ में उसने इसे किया ।
  - (अ) कालिक पहलू—उसने इसे कब किया ?
  - (ब) दैहिक पहलू—इसे उसने कहाँ किया ?
  - (स) परिस्थित्यात्मक पहलू (Circumstantial aspect) किन परिस्थितियों में उसने इसे किया ?

१. Nicholas Rescher—'On the Characterization of Actions'. The Nature of Human Action Edited by Myles Brand, पृष्ठ २४७-२४

२. कर्त्ता, क्रिया प्रकार तथा क्रिया करने का समय तीनों ही क्रिया के वर्णन के लिये पर्याप्त हैं लेकिन पूर्णरूप से नहीं ।

५. क्रिया की युक्तियुक्तता (rationale of Action) : इसे उसने क्यों किया ?

(अ) कारणता—इसे करने के पीछे क्या कारण था ?

(ब) पूर्णता (finality)-किस उद्देश्य (aim) से उसने इसे किया ?

(स) अभिप्रायात्मक (intentionality)—किस प्रेरणा से उसने इसे किया ?

किसी क्रिया का कर्ता व्यक्ति या समूह (भीड़, संस्था, पार्लियामेण्ट) जो क्रिया करने के योग्य है, हो सकता है। समूह विभाजित रूप से (distributively) या व्यक्तिगत रूप से अथवा सामूहिक रूप से क्रिया कर सकता है।

### क्रिया के प्रकार :

पूर्णरूपेण जाति प्रकार (fully generic type) की क्रियाएँ जैसे कि खिड़की खोलना, पेंसिल की नोक को तेज करना। लेकिन जब ये क्रियाएँ किसी विशिष्ट विषय को और इंगित करती हैं तो विशिष्ट प्रकार (specific type) की कहलाती हैं जैसे कि 'इस खिड़की को खोलना' 'उस पेंसिल की नोक को तेज करना' आदि। जाति के विभिन्न स्तरों में भी किसी विशिष्ट क्रिया का वर्णन किया जा सकता है। उदाहरण के रूप में 'उसने एक हाथ उठाया' अथवा 'उसने अपना दाहिना हाथ उठाया'। जब भी क्रिया प्रकार की बात की जाती है उसमें जिसे व्याकरण में उद्देश्य कहा जाता है, को सम्मिलित किया जाता है। जैसे कि 'राम मोहन को पुस्तक देना है' इस कथन में 'देना' क्रिया प्रकार नहीं है बल्कि 'मोहन को पुस्तक देना' (जो विशिष्ट प्रकार का उदाहरण है) अथवा 'किसी को पुस्तक देना' (जो जाति प्रकार का उदाहरण है) क्रिया प्रकार है।

क्रिया की प्रकारता क्रिया के विशेषणों से ज्ञात होती है (जैसे कि तेजी से हाथ मिलाना, हल्के से हाथ मिलाना) प्रकारता के आधार पर कर्ता की मानसिक स्थिति का पता चलता है।

परिस्थिति का पर्यावरण, काल, स्थान एवं परिस्थिति क्रिया के संदर्भ (setting) को निर्धारित करते हैं।

कर्ता ने क्रिया क्यों की ?' इस प्रश्न की व्याख्या में कारणता, पूर्णता (finality) एवं प्रेरणा का ध्यान रखा जाता है जैसे कि ऐच्छिक/अनैच्छिक/जानकर/अनजाने आदि।

क्रिया की युक्तिसंगतता के विरोधी गुण (जैसे कि ऐच्छिक/अनैच्छिक) और क्रिया के प्रकार, प्रकारता (modality) एवं परिस्थिति क्रिया प्रत्यय के उभयात्मक स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं। 'व्यक्ति' के प्रत्यय, (जिसके

दैहिक एवं मानसिक परस्पर सम्बन्धित पहलू हैं) के समान क्रिया के बाह्य (दैहिक एवं निरीक्षणयोग्य) तथा आन्तरिक (मानसिक एवं अनिरीक्षणयोग्य) परस्पर सम्बन्धित पहलू हैं। क्रिया के 'बाह्य' पहलू का सम्बन्ध उसने क्या (What) किया तथा कैसे तथा किस परिस्थिति में किया, से है जबकि आन्तरिक पहलू का सम्बन्ध उसकी मानसिक स्थिति (विचार, अभिप्राय, प्रेरणा आदि) से है।

कर्त्ता ने 'क्या किया' और 'क्यों किया' में भेद की बात उठायी जाती है। दूसरे शब्दों में क्रिया के वर्णन (description) एवं मूल्यांकन (evaluation) के बीच एक विभाजन रेखा खींचना, सिद्धान्ततः सम्भव भी है तथा व्यावहारिक रूप से वांछनीय भी।

### असीमित विभाजनशीलता :

सामान्य भाषा में व्यक्तिगत क्रियाओं (individual actions) जैसे 'ताले में चाबी घुमाना' तथा जटिल क्रिया में भेद सर्वविधित है। क्या यह भेद स्वीकार करने योग्य है? क्या प्रत्येक क्रिया वास्तव में क्रियाओं का एक सिलसिला नहीं है? क्या सभी क्रियाओं को खण्ड इकाइयों (Components) में विभाजित किया जा सकता है? क्या विविधता (जैसा कि जीवों के विरोधाभास में है) सीमा रहित नहीं है? सभी क्रियाओं को विभाजित नहीं किया जा सकता। विभाजन की भी एक सीमा होती है जो कर्त्ता की मानसिक स्थिति पर आधारित है।

दो प्रमुख क्रिया उक्तियों: एक व्यक्ति ने क्रिया की' तथा 'एक व्यक्ति क्रिया कर सकता है' के अर्थ को विश्लेषित करने या निर्धारण करने की दो विधियाँ हैं। प्रथम प्रयास में मानव क्रिया को किन्हीं प्रकार के परिवर्तनों या घटनाओं में 'घटित' किया जाता है। भाषायी दृष्टि से इस बात को इस प्रकार कहेंगे—क्रिया उक्तियों (action talks) को अक्रिया-उक्तियों (non-action talks) में विश्लेषित करने का प्रयास करना। क्रिया उक्तियों को इस प्रकार विश्लेषित करने के उपागम को इतर तंत्रीय विधि (extra systemic) कहते हैं। 'व्यवहारवाद' (यहाँ व्यवहार का मोटे रूप में अर्थ है कोई भी दैहिक परिवर्तन या प्रक्रिया) जो मानव क्रियाओं को व्यावहारिक घटनाओं से तादात्म्य करता है, इस उपागम का उदाहरण है।

द्वितीय उपागम के अनुसार मानव क्रिया की व्याख्या क्रमबद्ध रूप से (systematically) की जाती है। दूसरे शब्दों में इस उपागम के अनुसार क्रिया युक्तियों की संरचनात्मक तंत्र अथवा फलन (calculus) द्वारा व्याख्या की जाती है।

### क्रियाओं की व्याख्या करने वाले कुछ सिद्धान्त

क्रिया से सम्बन्धित सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय देने से पूर्व हम विटगेन्स्टोन के इस कथन को लें—“मैं अपना हाथ उठाता हूँ” इस तथ्य से अगर

हम इस तथ्य को कि मेरा हाथ ऊपर जाता है या उठता है को घटा दें (या निकाल दें) तो क्या शेष रहता है ?” यह कथन समस्यापूर्ण है। दूसरे शब्दों में, ‘मेरे हाथ की दैहिक गति एवं मेरे हाथ की साभिप्राय क्रिया’ में क्या अन्तर है, यह बिन्दु विवादास्पद है।

उपर्युक्त समस्या को समझने में निम्न पाँच सिद्धान्त सहायक हैं—

(१) मानसिक घटनाएँ क्रियाओं के कारण के रूप में (Mental events as the causes of actions) इस दृष्टिकोण के अनुसार अभिप्रायात्मक क्रियाएँ (intentional actions) वे गतियाँ हैं जो विशिष्ट प्रकार की मानसिक घटनाओं या व्यवस्थाओं द्वारा उत्पन्न होती हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार ‘मेरे द्वारा मेरा हाथ उठाना’ क्रिया को इससे पहले की कारणात्मक घटना या स्थिति द्वारा विभेदित किया जा सकता है। ये कारणात्मक घटनाएँ किस प्रकार की घटनाएँ हैं, इस प्रश्न का उत्तर इस सिद्धान्त द्वारा यह कहकर दिया जा सकता है कि कुछ युक्तियाँ देना, निर्णय लेना, चुनाव करना अथवा क्रिया के बारे में तय करना ही कारणात्मक घटनाएँ हैं।

(२) कर्त्ता सिद्धान्त (Agency theory) इस सिद्धान्त के अनुसार गति का कारण घटना न होकर स्वयं कर्त्ता होता है। जब मैं क्रिया करता हूँ तब मैं ही गति का कारण होता हूँ।

(३) निष्पादन सिद्धान्त (Performative theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार इस कथन —‘गति एक अभिप्रायात्मक क्रिया है’—का तात्पर्य क्रिया का वर्णन करना नहीं है और न ही यह बताना है कि वस्तुएँ कैसी हैं अथवा किसने किसे उत्पन्न किया। बल्कि इसका तात्पर्य गति के लिये कर्त्ता पर दायित्व लागू करने की क्रिया का निष्पादन करता है।

(४) लक्ष्य क्रियाओं की व्याख्या के रूप में (Goals as the explanation of actions) : कुछ दार्शनिक यह मानते हैं कि कुछ ऐसी बातें हैं जो किसी गति को क्रिया बनाती हैं। इन विचारकों के अनुसार गति की व्याख्या लक्ष्य को ध्यान में रखकर करनी चाहिये। पूर्व स्थित कारण जैसे कि अवस्था या घटना अथवा कर्त्ता द्वारा क्रिया की व्याख्या करना ठीक नहीं है।

(५) क्रियाओं का संदर्भत्मक वर्णन (Contextual account of actions)—इस सिद्धान्त के अनुसार गति अभिप्रायात्मक तब होती है जब इसका वर्णन नियमों, मानकों अथवा चली आ रही रीतियों के द्वारा किया जाता है।

• • •

□ श्री अग्ररचन्द नाहटा

विश्व में प्राणीमात्र में जो अनेक विविधताएँ दिखाई देती हैं, जैन धर्म के अनुसार उसका कारण स्वकृत कर्म हैं। जीवों के परिणाम व प्रवृत्तियों में जो बहुत अन्तर होता है, उसी के अनुसार कर्मबन्ध भी अनेक प्रकार का होता रहता है। उसी के परिणामस्वरूप सब जीवों व भावों आदि की विविधता है। जैन धर्म का कर्म-साहित्य बहुत विशाल है। विश्व भर में अन्य किसी धर्म या दर्शन का कर्म-साहित्य इतना विशाल व मौलिकतापूर्ण नहीं मिलता। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदाय में कर्म-साहित्य समान रूप से प्राप्त है। क्योंकि मूलतः १४ पूर्वों में जो आठवां कर्म प्रवाद पूर्व था, उसी के आधार से दोनों का कर्म साहित्य रचा गया है। यद्यपि श्वेताम्बर आगमों में यह फुटकर रूप से व संक्षिप्त विवरण रूप से मिलता है। पर कर्म प्रवाद पूर्व आदि जिन पूर्वों के आधार से मुख्य रूप से श्वेताम्बर एवं दिगम्बर साहित्य रचा गया है वे पूर्व ग्रन्थ लम्बे समय से प्राप्त नहीं हैं। दिगम्बरों में षट् खण्डागम, कषाय प्राभृत, महाबन्ध आदि प्राचीनतम कर्म-साहित्य के ग्रन्थ हैं तो श्वेताम्बरों में बंध शतक, कर्म प्रकृति, पंच संग्रह आदि प्राचीन ग्रन्थ हैं। इन सबके आधार से पीछे के अनेक आचार्यों एवं मुनियों ने समय-समय पर नये-नये ग्रन्थ बनाये और प्राचीन ग्रन्थों पर चूर्णी, टीका आदि विवेचन लिखा। आज भी यह क्रम जारी है। हिन्दी और गुजराती में अनेक प्राचीन कर्म-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों का अनुवाद एवं विवेचन छपता रहा है। और नये कर्म-साहित्य का निर्माण भी प्राकृत एवं संस्कृत में लाखों श्लोक परिमित हो रहा है। यद्यपि इस सम्बन्ध में गम्भीरता-पूर्वक मनन और अनुभवपूर्ण अभिव्यक्ति की बहुत बड़ी आवश्यकता है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर कर्म विषयक ग्रन्थों की एक सूची सन् १९१६ के जुलाई-अगस्त के 'जैन हितैषी' के अंक में प्रकाशित हुयी थी। श्री कान्ति विजयजी के शिष्य श्री चतुर विजयजी और उनके शिष्य श्री पुण्य विजयजी ने ऐसी सूची तैयार करने में काफी श्रम किया था। उस सूची को पंडित सुखलालजी ने कर्म विपाक प्रथम कर्म ग्रन्थ सानुवाद के परिशिष्ट में प्रकाशित की थी। इसके बाद कर्म-साहित्य सम्बन्धी एक बहुत ही उल्लेखनीय बड़ा ग्रन्थ प्रो० हीरालाल कापड़िया ने पन्यास निपुण मुनिजी और श्री भक्ति भुतिजी की प्रेरणा से लिखना प्रारम्भ किया था, पर वह कर्म सीमांसा नामक ग्रन्थ शायद पूरा नहीं लिखा गया।

उस ग्रन्थ का एक अंश 'कर्म सिद्धांत सम्बन्धी साहित्य' के नाम से सं० २०२१ में श्री मोहनलालजी जैन ज्ञान भण्डार सूरत से प्रकाशित हुआ था। इस ग्रन्थ में श्वेताम्बर और दिग्म्बर परम्परा के ज्ञात और प्रकाशित कर्म-साहित्य का अच्छा विवरण १८० पृष्ठों में दिया गया है। इनमें से ११६ पृष्ठ तो श्वेताम्बर साहित्य सम्बन्धी विवरण के हैं। उसके बाद के पृष्ठों में दिग्म्बर कर्म-साहित्य का विवरण है। विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिए यह गुजराती ग्रन्थ पढ़ना चाहिये। यहाँ तो उसी के आधार से मुनि श्री नित्यानन्द विजयजी ने 'कर्म साहित्य नुं संक्षिप्त इतिहास' नामक लघु पुस्तिका तैयार की थी, उसी के मुख्य आधार से संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है—

### (१) बंध शतक :

श्री शिवशर्म सूरि रचित इस ग्रन्थ पर ४ भाष्य नामक विवरण हैं, जिनमें बृहद् भाष्य १४१३ श्लोक परिमित है। उसके अतिरिक्त चक्रेश्वर सूरि रचित ३ चूर्णी (?), हेमचन्द्र सूरिकृत विनयहितावृत्ति, उदय प्रभ कृत टिप्पण, मुनि चन्द्रसूरिकृत टिप्पण, गुणरत्न सूरिकृत अवचूरी प्राप्त हैं।

### (२) कर्म प्रकृति (संग्रही) :

शिवशर्म सूरि रचित इस ग्रन्थ पर एक अज्ञात वार्तिक चूर्णी, मलय गिरि और उपाध्याय यशोविजय कृत टीकाएँ, चूर्णी पर मुनि चन्द्रसूरि कृत टिप्पण है। पं० चन्दूलाल नानचन्द कृत मलयगिरि टीका सहित मूल का भाषान्तर छप गया है।

### (३) सप्ततिका (सप्तति) :

अज्ञात रचित इस ग्रन्थ पर अन्तर भास, चूर्णियों, अभय देव कृत भाष्य, मेरु तुंग सूरि कृत भाष्य टीका, मलयगिरि कृत विवृति, रामदेव कृत टिप्पण, देवेन्द्र सूरिकृत संस्कृत टीका, गुणरत्न सूरि कृत अवचूर्णी, सोमसुन्दर सूरिकृत चूर्णी, मुनि शेखर (?) कृत ४१५० श्लोक परिमित वृत्ति, कुशल भुवन गणि तथा देवचन्द्र कृत बालावबोध, धन विजय गणि रचित टब्बा है। फूलचन्द्र शास्त्री कृत हिन्दी गाथार्थ — विशेषार्थ प्रकाशित है।

### (४) कर्म प्रकृति प्रामुस :

इस ग्रन्थ की साक्षी मुनिचन्द्र ग्रन्थ कृत टिप्पण में चार स्थानों पर मिलती है। पर यह कर्म ग्रन्थ प्राप्त नहीं है।

### (५) संतकम्भ (सत्कर्मन्ट) :

पंच संग्रह की टीका (मलयगिरि) में दो स्थानों पर इसके अवतरण दिये हैं।

(६) पंचसंग्रह प्रकरण :

इसे चन्द्राधि महत्तर ने पांच ग्रन्थों के संग्रह रूप ६६३ गाथा में रचा है । इस ग्रन्थ पर स्वोपज्ञ वृत्ति भी मानी जाती है । दूसरी वृत्ति मलयगिरि की है । इसके उपरान्त दीपक नाम की वृत्ति २५०० श्लोक परिमित है ।

मलयगिरि की टीका ष मूल का गुजराती सानुवाद व संस्कृत छाया पं० हीरालाल देवचन्द ने प्रकाशित की है ।

(७) प्राचीन चार कर्म ग्रन्थ :

(१) कर्म विपाक गर्ग ऋषि कृत—मूल गाथा १६८ । उसके ऊपर अज्ञात रचित भाष्य, परमानन्द सूरिकृत ६६० श्लोक परिमित संस्कृत वृत्ति, हरिभद्र सूरि रचित वृत्तिका, मलयगिरि कृत टीका, अज्ञात रचित व्याख्या व टीका, उदय प्रभ सूरि कृत टिप्पण प्राप्त हैं ।

(२) कर्म स्तव—मूल गाथा ५७, गोविन्द गणिकृत, १०६० श्लोक परिमित टीका, हरि भद्र कृत टीका, अज्ञात रचित भाष्य द्वय, महेन्द्र सूरि कृत भाष्य, उदय प्रभ सूरि कृत २६२ श्लोकों का टिप्पण, कमल संयम उपाध्याय कृत संस्कृत विवरण, अज्ञात रचित चूर्णी या अवचूर्णी ।

(३) बंध स्वामित्व—मूल गाथा ५४, अज्ञात कृतक टिप्पण और टीका, हरिभद्र सूरिकृत ५६० श्लोक परिमित टीका प्राचीन टिप्पणक पर आधारित है ।

(४) षडशीति—जिनवल्लभ गणि कृत, भाष्य द्वय, हरिभद्र सूरि कृत ८५० श्लोक परिमित टीका । मलयगिरि कृत २१४० श्लोक परिमित वृत्ति, यशोभद्र सूरि कृत वृत्ति, मेरु वाचक कृत विवरण, अज्ञात रचित टीका और अवचूरी, १६०० श्लोक परिमित उद्धार ।

प्राचीन ६ कर्म ग्रन्थ माने जाते हैं, उनमें पाँचवाँ बंध शतक और छठा सप्ततिका माना जाता है ।

(८) पाँच नव्य कर्मग्रन्थ—देवेन्द्र सूरि कृत :

इन पर स्वोपज्ञ टीका, अन्य कईयों के विवरण, बालावबोध आदि प्राप्त हैं । सबसे अधिक प्रचार इन्हीं कर्मग्रन्थों का रहा । हिन्दी में चार ग्रन्थों का अनुवाद पं० सुखलालजी ने और पाँचवें का पं० कैलाशचन्दजी ने किया है । गुजराती में भी इनके कई बालावबोध व विवेचन छप चुके हैं ।

जिनवल्लभ सूरि कृत सूक्ष्मार्थ विचारत्व अथवा सार्ध शतक भी काफी प्रसिद्ध रहा है । इस पर उनके शिष्य रामदेव गणि कृत टीका तथा अन्य कई टीकाएँ प्राप्त हैं । जिनका उल्लेख 'वल्लभ भारती' आदि में किया गया है ।



जयतिलक सूरि ने संस्कृत में ४ कर्म ग्रन्थ ५६६ श्लोकों में लिखे हैं और भी छोटे-मोटे प्रकरण बहुत से रचे गये हैं जिनमें से १८वीं शताब्दी के श्रीमद् देवचन्द्रजी रचित कर्मग्रन्थ सम्बन्धी ग्रन्थों के सम्बन्ध में मेरा लेख 'श्रमण' में प्रकाशित हो चुका है।

दिगम्बर ग्रन्थों में षट्खण्डागम, कषाय पाहुड़, महाबंध, पंच संग्रह, गोमटसार, लब्धिसार और क्षपणासार, त्रिभंगीसार आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। पंच संग्रह तीन कर्ताओं के रचित अलग-अलग प्राप्त हैं। इस सम्बन्ध में पं० कैलाशचन्द्रजी ने 'जैन साहित्य के इतिहास' आदि में काफी विस्तार से प्रकाश डाला है।

वर्तमान शताब्दी में श्वेताम्बर आचार्यों में सर्वाधिक उल्लेखनीय स्व. विजय प्रेमसूरि कर्म सिद्धान्त के मर्मज्ञ माने जाते रहे हैं। उन्होंने संक्रम प्रकरण एवं मार्गणाद्वार आदि ग्रन्थों की रचना की। उनके प्रयत्न व प्रेरणा से उनके समुदाय में कर्म शास्त्र के विशेषज्ञ रूप में उनकी पूरी शिष्य मण्डली तैयार हो गयी है। जिन्होंने प्राकृत, संस्कृत में करीब दो लाख श्लोक परिमित खवगसेढी, ठईबंधो, रसबंधो, पयेशबंधो, पयडीबंधो, आदि महान् ग्रन्थों की रचना की है। ये सभी ग्रन्थ और कुछ प्राचीन कर्म साहित्य सम्बन्धी ग्रन्थ श्री भारतीय प्राच्य तत्त्व प्रकाशन समिति, पिण्डवाड़ा, राजस्थान से प्रकाशित हैं। इसी के लिए स्वतन्त्र ज्ञानोदय प्रिंटिंग प्रेस चालू करके बहुत से ग्रन्थों का प्रकाशन करवा दिया है। इस शताब्दी में तो इतना बड़ा काम पूज्य विजय प्रेम सूरि के शिष्य मण्डल द्वारा सम्पादन हुआ है, यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है। करीब १५ मुनि तो कई वर्षों से इसी काम में लगे हुए हैं। प्राप्त समस्त श्वेताम्बर व दिगम्बर कर्म साहित्य का मनन, पाठन, मन्थन करके उन्होंने नये कर्म साहित्य का सृजन लाखों श्लोक परिमित किया है और उसे प्रकाशित भी करवा दिया है।

स्वतन्त्र रूप से हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी में भी छोटी-बड़ी अनेक पुस्तिकाएँ कई मुनियों एवं विद्वानों की प्रकाशित हो चुकी है। कुछ शोध कार्य भी हुआ है पर अभी बहुत कुछ कार्य होना शेष है। इस में तो बहुत ही संक्षेप में विवरण दिया है। वास्तव में इस सम्बन्ध में स्वतन्त्र वृहद् ग्रन्थ लिखे जाने की आवश्यकता है।

### संक्षेप

ज्ञान घटे नर मूढ़ की संगत, ध्यान घटे चित्त को भरमायां ।  
सोच घटे कछु साधु की संगत, रोग घटे कछु औषध खायां ॥  
रूप घटे पर नारी की संगत, बुद्धि घटे बहु भोजन खायां ।  
'गंग' भणे सुणो शाह अकबर, कर्म घटे प्रभु के गुण गायां ॥

## आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में कर्म एवं पुनर्जन्म की अवधारणा

□ डॉ० देवदत्त शर्मा

जैन दर्शन में कर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कर्म अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध हैं। वे समूचे लोक में जीवात्मा की अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों के द्वारा उसके साथ बंध जाते हैं। यह उनकी बंध्यमान अवस्था है। बंधने के बाद उनका परिपाक होता है। यह सत् (सत्ता) अवस्था है। परिपाक के बाद उनसे सुख-दुःख एवं कर्मानुसार अच्छा-बुरा फल मिलता है। यह कर्मों की उदयमान (उदय) अवस्था है।

जैन दर्शन की मान्यताओं के अनुसार जीव कर्म करने में स्वतंत्र है किन्तु कर्मफल भोगने में परतंत्र है। अर्थात् फल देने की सत्ता कर्म अपने पास सुरक्षित रखता है। इस प्रकार जीव जो भी शुभाशुभ कर्म करता है उसके फल को भोगना आवश्यक है।

पुद्गल द्रव्य की अनेक जातियाँ हैं जिन्हें जैन दर्शन में वर्गणाएँ कहते हैं। उनमें एक कार्मण वर्गणा भी है और वही कर्म द्रव्य है। कर्म द्रव्य सम्पूर्ण लोक में सूक्ष्म रज के रूप में व्याप्त है। वही कर्म द्रव्य योग के द्वारा आकृष्ट होकर जीव के साथ बद्ध हो जाते हैं और कर्म कहलाने लगते हैं। ये जीव के अध्यवसायों और मनोविकारों की तरतमता के कारण अनेक प्रकार के हो जाते हैं। परन्तु स्वभाव के आधार पर कर्म के आठ विभाग किये जा सकते हैं जो इस प्रकार हैं—१. ज्ञानावरण, २. दर्शनावरण, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयुष्य, ६. नाम, ७. गोत्र तथा ८. अन्तराय।

जो कर्म-पुद्गल हमारे ज्ञान तन्तुओं को सुप्त और चेतना को मूर्च्छित बना देते हैं, वे ज्ञानावरणीय कर्म कहलाते हैं। ये पाँच प्रकार के हैं—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यायज्ञानावरण तथा केवलज्ञानावरण। जो कर्म आत्मा के दर्शन गुण का बाधक हो वह दर्शनावरण कहलाता है। यह नौ प्रकार का होता है। सुख-दुःखानुभूति वेदनीय कर्म के द्वारा होती है। सम्यक् दर्शन का प्रादुर्भाव न होने देना या उसमें विकृति उत्पन्न करना मोहनीय कर्म का काम है। इसके अट्ठाईस भेद हैं। आयु कर्म जीव को मनुष्य, तिर्यञ्च, देव और नारकी के शरीर में नियत अवधि तक कैद रखता है। प्राणी

सृष्टि में जो आश्चर्यजनक वैचित्र्य परिलक्षित होता है, वह नाम कर्म के कारण है तथा जिस कर्म के प्रभाव से जीव प्रतिष्ठित अथवा अप्रतिष्ठित कुल में जन्म लेता है, वह गौत्रकर्म है। अभीष्ट की प्राप्ति में व्यवधान डालने वाला अन्तराय कर्म है।

जैन दर्शन में कर्मों की दस मुख्य अवस्थाएँ या कर्मों में होने वाली दस मुख्य क्रियाएँ बतलाई गई हैं जिन्हें 'करणा' कहते हैं। ये दस अवस्थाएँ हैं—बन्ध, उत्कर्षण, अपकर्षण, सत्ता, उदय, उदीरणा, संक्रमण, उपशम, निधत्ति और निकाचना।

कर्म पुद्गलों का जीव के साथ सम्बन्ध होने को बन्ध कहते हैं। कर्म की यह प्रथम अवस्था है। इसके बिना अन्य कोई अवस्था नहीं हो सकती। इसके चार भेद हैं—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। स्थिति और अनुभाग के बढ़ने को उत्कर्षण कहते हैं और स्थिति और अनुभाग के घटने को अपकर्षण कहते हैं। इस उत्कर्षण और अपकर्षण के कारण ही कोई कर्म शीघ्र तो कोई विलम्ब से, कोई तीव्र तो कोई मन्द फल प्रदान करता है। यदि कोई जीव बुरे कर्मों का बन्ध हो जाने के उपरान्त भी अच्छे कर्म करता है तो पूर्व में बंधे बुरे कर्मों की फलदान शक्ति अच्छे कर्मों के प्रभाव से घट जाती है। यदि कोई जीव बुरे कर्मों का बन्ध करके और बुरे कर्म करता है तो पहले बांधे हुए बुरे कर्मों की शक्ति अधिक बढ़ जाती है। इसी प्रकार यदि पहले अच्छे कर्मों का बंध करके बुरे कर्म करता है तो शुभ कर्मों का फल घट जाता है।

कर्मों का बन्धन हो जाने के तुरन्त बाद ही कोई कर्म अपना फल प्रदान नहीं करता। इसका कारण यह है कि बन्धने के बाद कर्म सत्ता में रहता है। दूसरे शब्दों में कर्मों के बन्ध होने और उनके फलोदय होने के बीच कर्म आत्मा में विद्यमान रहते हैं। जैन शास्त्रों में इस अवस्था को 'सत्ता' कहा गया है। कर्म के फल देने को उदय कहते हैं। यह दो तरह का होता है—फलोदय और प्रदेशोदय। जब कर्म अपना फल देकर नष्ट हो जाता है तो वह फलोदय होता है और जब कर्म बिना फल दिये ही नष्ट हो जाता है तो उसे प्रदेशोदय कहते हैं।

नियत समय से पहले कर्मों का विपाक हो जाना उदीरणा कहलाता है। जैसे अकाल मृत्यु आयुकर्म की उदीरणा है। एक कर्म का दूसरे सजातीय कर्मरूप हो जाने को संक्रमण कहते हैं तथा कर्म को उदय में आ सकने के अयोग्य कर देना उपशम है। कर्मों का संक्रमण और उदय न हो सकना निधत्ति है तथा उसमें उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण और उदीरणा का न हो सकना निकाचना है।

जो कर्म आत्मा की जिस शक्ति को नष्ट करता है उसके क्षय से वही

शक्ति प्रकट होती है। यथा—ज्ञानावरण के हटने से अनन्त ज्ञान शक्ति प्रकट होती है। इस परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि प्रत्येक क्रिया का कोई-न-कोई फल अवश्य होता है। यदि किसी प्राणी को वर्तमान जीवन में किसी क्रिया का फल प्राप्त नहीं होता तो भविष्यकालीन जीवन अनिवार्य है। कर्म का कर्ता एवं भोक्ता निरन्तर अपने पूर्व कर्मों का भोग तथा नवीन कर्मों का बन्ध करता रहता है। कर्मों की इस परम्परा को वह सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र के द्वारा तोड़ भी सकता है। जन्मजात व्यक्ति भेद, सुख-दुःख तथा असमानता सब कर्मजन्म है। कर्म बन्ध का कारण प्राणी की रागद्वेष जन्म प्रवृत्ति है। अतः कर्मबन्ध एवं कर्मयोग का अधिष्ठाता प्राणी स्वयं है। नवीन कर्मों के उपार्जन का निरोध तथा पूर्वोपाजित कर्मों का क्षय करके कर्मबन्ध से मुक्त हुआ जा सकता है।

कर्म प्रवाह रूप से अनादि है। जब से जीव है तब से कर्म हैं। दोनों अनादि हैं। परिपाक-काल के बाद वे जीव से अलग हो जाते हैं। आत्म-संयम से नये कर्म चिपकने बन्द हो जाते हैं। पिछले चिपके हुए कर्म तपस्या के द्वारा धीरे-धीरे निर्जीण हो जाते हैं। नये कर्मों का बन्ध नहीं होता, पुराने कर्म टूट जाते हैं। तब यह अनादि प्रवाह रुक जाता है—आत्मा मुक्त हो जाती है। जब तक आत्मा कर्म-मुक्त नहीं होती है तब तक उसकी जन्म-मरण की परम्परा नहीं रुकती।

जैन दर्शन की इन मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में यदि हम आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों पर दृष्टि निक्षेप करें तो हम पाते हैं कि इस कर्मवाद एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त से, जो भारतीय संस्कृति का एक अंग है, महाकाव्यकार भी अछूते नहीं रहे। यही कारण है कि इस सिद्धान्त का निरूपण अनेक महाकाव्यों में स्थान-स्थान पर हुआ। उदाहरण के लिए मैथिली शरण गुप्त 'जय भारत' में कहते हैं—

“कर्मों के अनुसार जीव जग में फल पाता।”

(पृ० २६४)

ताराचन्द्र हारीत अपने महाकाव्य 'दमयन्ती' में उक्त स्वर को ही भास्वरता प्रदान करते हुए कहते हैं—

“निज कर्मों के अनुसार जीव फल पाता।”

(पृ० २५६)

जीव जो भी शुभाशुभ कर्म करता है उसके फल को भोगना आवश्यक है। 'परम ज्योति महावीर' महाकाव्य में कर्मवाद के इसी तथ्य को निरूपित करता हुआ कवि कहता है—

“उसको वैसी गति मिलती है,  
जो कर्म बान्धता जैसा है ।  
होता है जैसा बीज वपन,  
फल भी तो मिलता वैसा है ।”

(पृ० ४६६)

जीव के शुभाशुभ कर्म ही जन्म जन्मान्तर तक उसके साथ रहते हैं । इस परि-  
सन्दर्भ में डॉ० रत्नचन्द्र शर्मा अपने महाकाव्य ‘निषाद राज’ में कहते हैं—

“पाप पुण्य दोनों को कहते,  
मुनिवर जन्म—जन्म का साथी ।”

(पृ० २०)

इस संदर्भ में ‘शिवचरित’ महाकाव्यकार निरंजनसिंह योगमणि की स्पष्टोक्ति  
तो और भी व्यातव्य है—

“जन्म—जन्म का कारण कर्म,  
शुभाशुभ कर्मों का फल देव ।  
होते ये निश्चय ही प्राप्त,  
ब्रह्म शक्ति से देय सदैव ॥”

(पृ० ६२)

पुण्य कर्मों का फल सुख प्रदायक होता है वहाँ पाप कर्मों का फल अशुभ एवं  
दुःख प्रदायक होता है । इस तथ्य को पंडित अनूप शर्मा अपने महाकाव्य  
‘सिद्धार्थ’ में निरूपित करते हुए कहते हैं—

“मनुष्य की जो गति है शुभाशुभ,  
विपाक है सो सब पूर्व कर्म का ।”

(पृ० २३५)

त्रिवेदी रामानन्द शास्त्री अपने महाकाव्य ‘मृगदाव’ में उक्त अभिमत की ही  
संयुक्त करते हुए कहते हैं—

“पर अब पछताने से न है लाभ कोई,  
सब निज कृतकर्मों को यहाँ भोगते हैं ।

(पृ० २०१)

महाकवि पोट्टार रामावतार ‘अरुण’ का तो स्पष्ट अभिमत है कि वर्तमान जीवन  
पूर्व जन्म के कर्मों का ही प्रतिफलन है । वे अपने महाकाव्य ‘महाभारती’ में  
कहते हैं—

“मनुज का वर्तमान अस्तित्व,  
पूर्व का प्रतिबिम्बित परिणाम ।”

(पृ० १११)

किसी भी कर्म का फल जीव को वर्तमान जीवन में नहीं तो दूसरे जन्म में अवश्य  
मिलता है । ये फल जीव को जन्म-जन्मान्तर तब तक मिलते रहते हैं जब तक  
कि वह अपनी आत्मा को कर्म बन्धनों से मुक्त न करले । पूर्व-पूर्व जन्मों में किये  
गये कर्मों के फलों को भोगने के लिए ही बराबर इस संसार में जीव का आना  
होता है । जीव अपने कर्मों का फल भोगने के लिए निरन्तर जन्म लेता रहता

है। इसी मान्यता को अभिव्यक्ति प्रदान करते हुए नन्दकिशोर भा आ अपने महाकाव्य 'प्रिय मिलन' में कहते हैं—

“बलेश-मूल कर्मशय, बन्धन में बन्धा जीव ।  
जन्मता औ मरता, उसे कभी न विराम है ॥”

(पृ० ३१०)

जब तक जीवात्मा कर्म बन्धनों से मुक्त नहीं हो जाती उसे बार-बार जन्म लेना पड़ता है—

“जब तक न कर्म हो जाते ह,  
सम्पूर्णतया निर्मूल यहाँ ।  
तब तक होता है पुनर्जन्म,  
निज कर्मों के अनुकूल यहाँ ।”

(परम ज्योति महावीर, पृ० ४६१)

रघुवीर शरण 'मित्र' पुनर्जन्म विषयक उक्त अवधारणा में ही आस्था प्रकट करते, हुए कहते हैं—

“जब तक कर्मों के बन्धन हैं,  
मिलता रहता है जन्म नया ।”

(वीरायन, पृ० १३८)

जीव को जीवन-मरण से तब तक मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती जब तक कि वह अपने कर्मों का क्षय नहीं कर लेता—

“जब-तक न कर्म क्षय होते हैं,  
तब तक होता अवतरण-मरण ।  
कर्मों के क्षय होते ही तो,  
कर लेती इसको मुक्ति वरण ॥”

(परम ज्योति महावीर, पृ० ४७८)

दिनकर के 'उर्वशी' महाकाव्य की निम्नांकित पंक्ति भी कवि की पुनर्जन्म में आस्था की द्योतक है—

“कब, किस पूर्व जन्म में उसका क्या सुख छीन लिया था ।”

(पृ० ३१)

कर्म एवं पुनर्जन्म की उक्त अवधारणा का भारतीय जन-जीवन पर इतना व्यापक प्रभाव पड़ा है कि प्रत्येक महाकाव्यकार ने इसे किसी-न-किसी रूप में स्वीकार किया है। यही कारण है कि हिन्दी के अधिकांश महाकाव्यों में उक्त अवधारणा का निरूपण हुआ है। उक्त विवेचित महाकाव्यों के अतिरिक्त 'नल नरेश' (पृ० २३२), 'विदेह' (पृ० ६६), 'आज्ञेय' (पृ० २०-२२), 'कल्पास्त' (पृ० ६२), 'जानकी जीवन' (पृ० १६६-६७), 'विरहिणी' (पृ० २६), 'मीरा' (पृ० ३०) तथा 'तीर्थंकर महावीर' (पृ० १०५) प्रभृति महाकाव्यों में भी कर्म एवं पुनर्जन्म के प्रति आस्था की स्पष्ट झलक परिलक्षित होती है। □

## मुक्तक

अपने उपाजित कर्म फल को, जीव पाते हैं सभी,  
उसके सिवाय कोई किसी को, कुछ नहीं देता कभी ।  
ऐसा समझना चाहिये, एकाग्रमन होकर सदा ।  
दाता अरु है भोग का, इस बुद्धि को खोकर सदा ।

## दोहा

चिट्ठी लायो चून की, माँगे घी नै दाल,  
दास कबीरा यूँ कहें, थारी चिट्ठी सामी भाल ।

कायसा वयसा मत्ते, वित्ते गिद्धे य इत्थिसु ।  
दुहम्पो मलं संचिरणइ, सिमुणागुव्व मट्ठियं ॥

—उत्तराध्ययन ४।१०

अर्थ—काया से, वचन से और मन से मदान्ध बना हुआ तथा धन और स्त्रियों में आसक्त बना हुआ अज्ञानी दोनों प्रकार से (राग-द्वेषमयी बाह्य और आभ्यन्तर प्रवृत्तियों द्वारा) कर्म मल का संचय करता है । जैसे अलसिया मिट्टी खाता है और उसे शरीर पर भी लगाता है ।

जह मिडलेवालित्त गरुयं तुम्बं अहे वयइ,  
एवं आसव कय कम्म जीवा वच्चति अहरगइं ।  
तं चेव तव्विमुक्कं जलोवरि गइ जाय लहुमावं,  
जह तह कम्म विमुक्का लोयगा पइठिया होति ॥

अर्थ—जिस प्रकार मिट्टी से लिप्त तुम्बा भारी होकर नीचे चला जाता है उसी प्रकार जीव कर्मों के लेप से लिप्त हो भारी बन कर अधोगति को प्राप्त होता है । वही तुम्बा मिट्टी के लेप से मुक्त होकर लघुता को प्राप्त होता हुआ जल के ऊपरी सतह पर आ जाता है । जीव भी इसी प्रकार कर्म मुक्त होने पर लोक के अग्रभाग पर प्रतिष्ठित हो जाता है ।

यथा धेनु सहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् ।  
तथा पूर्वं कृतं कर्म, कर्तारमनुगच्छति ॥

अर्थ—जिस प्रकार गौ वत्स हजारों गायों में भी अपनी माता को पहिचान लेता है, उसी प्रकार कर्ता के पूर्व कृत कर्म भी उसका ही अनुसरण करते हैं (अन्य का नहीं) अर्थात् कर्मों का कर्ता ही उसके फल का भोक्ता है ।

द्वितीय खण्ड



कर्म सिद्धान्त  
और  
सामाजिक चिन्तन





अच्छी-बुरी स्थिति, चढ़ती-उतरती कला और सुख-दुःख की सार्वत्रिक विषमता का पूरा स्पष्टीकरण केवल ईश्वरवाद या ब्रह्मवाद में मिल ही नहीं सकता था। इसलिये कैसा भी प्रगतिशीलवाद स्वीकार करने के बावजूद स्वाभाविक रीति से ही परम्परा से चला आने वाला वैयक्तिक कर्मफल का सिद्धान्त अधिकाधिक दृढ़ होता गया। 'जो करता है वही भोगता है', 'हर एक का नसीब जुदा है', 'जो बोता है वह काटता है', 'काटने वाला और फल चखने वाला एक ही और बोनने वाला दूसरा ही यह बात असंभव है'—ऐसे-ऐसे ख्याल केवल वैयक्तिक कर्मफल के सिद्धान्त पर ही रूढ़ हुए हैं। और सामान्यतः उन्होंने प्रजा-जीवन के हर क्षेत्र में इतनी गहरी जड़ें जमा ली हैं कि अगर कोई यह कहे कि किसी व्यक्ति का कर्म केवल उसी में फल या परिणाम उत्पन्न नहीं करता, परन्तु उसका असर उस कर्म करने वाले व्यक्ति के सिवाय सामूहिक जीवन में भी ज्ञात-अज्ञात रूप से फैलता है, तो वह समझदार माने जाने वाले वर्ग को भी चौंका देता है। और हर एक सम्प्रदाय के विद्वान् या विचारक इसके विरुद्ध शास्त्रीय प्रमाणों का ढेर लगा देते हैं। इसके कारण कर्म फल का नियम वैयक्तिक होने के साथ ही सामूहिक भी है या नहीं, यदि न हो तो किस-किस तरह की असंगतियाँ और अनुपत्तियाँ खड़ी होती हैं और यदि हो तो उस दृष्टि से ही समग्र मानव-जीवन का व्यवहार व्यवस्थित होना चाहिये या नहीं, इस विषय में कोई गहरा विचार करने के लिये रुकता नहीं है। सामूहिक कर्म फल के नियम की दृष्टि से रहित, कर्म फल के नियम ने मानव-जीवन के इतिहास में आज तक कौन-कौनसी कठिनाइयाँ खड़ी की हैं और किस दृष्टि से कर्म फल का नियम स्वीकार करके तथा उसके अनुसार जीवन-व्यवहार बनाकर वे दूर की जा सकती हैं, कोई एक भी प्राणी दुःखी हो, तो मेरा सुखी होना असंभव है। जब तक जगत् दुःख मुक्त नहीं होता, तब तक अरसिक मोक्ष से क्या फायदा? इस विचार की महायान भावना बौद्ध परम्परा में उदय हुई थी। इसी तरह हर एक सम्प्रदाय सर्व जगत् के क्षेम-कल्याण की प्रार्थना करता है और सारे जगत् के साथ मैत्री करने की ब्रह्मवार्ता भी करता है। परन्तु यह महायान भावना या ब्रह्मवार्ता अंत में वैयक्तिक कर्म फल वाद के दृढ़ संस्कार के साथ टकराकर जीवन जीने में ज्यादा उपयोगी सिद्ध नहीं हुई है।

श्री केदार नाथजी और श्री मशरूवाला दोनों कर्म फल के नियम के बारे में सामूहिक जीवन की दृष्टि से विचार करते हैं। मेरे जन्मगत और शास्त्रीय संस्कार वैयक्तिक कर्मफलवाद के होने से मैं भी इसी तरह सोचता था। परन्तु जैसे-जैसे इस पर गहरा विचार करता गया, वैसे-वैसे मुझे लगने लगा कि कर्मफल का नियम सामूहिक जीवन को दृष्टि से ही विचारा जाना चाहिए और सामूहिक जीवन की जिम्मेदारी के ख्याल से ही जीवन का हर एक व्यवहार व्यवस्थित किया तथा चलाया जाना चाहिये। जिस समय वैयक्तिक दृष्टि की प्रधानता हो, उस समय के चिन्तक उसी दृष्टि से अमुक नियमों की रचना करें, यह स्वाभाविक है। परन्तु उन नियमों में अर्थ विस्तार की संभावना ही नहीं है, ऐसा मानना देश-काल की मर्यादा में सर्वथा जकड़ जाने जैसा है। जब हम सामूहिक दृष्टि से कर्म फल का नियम विचारते या घटाते हैं, तब भी वैयक्तिक दृष्टि का लोप तो होता ही नहीं, उलटे सामूहिक जीवन में वैयक्तिक जीवन के पूर्ण रूप से समा जाने के कारण वैयक्तिक दृष्टि सामूहिक दृष्टि तक फैलती है और अधिक शुद्ध बनती है।

कर्मफल के नियम की सच्ची आत्मा तो यही है कि कोई भी कर्म निष्फल नहीं जाता और कोई भी परिणाम कारण के बिना उत्पन्न नहीं होता। जैसा परिणाम वैसा ही उसका कारण भी होना चाहिये। यदि अच्छे परिणाम की इच्छा करने वाला अच्छे कर्म नहीं करता, तो वह वैसा परिणाम नहीं पा सकता। कर्म फल नियम की यह आत्मा सामूहिक दृष्टि से कर्मफल का विचार करने पर बिल्कुल लोप नहीं होती। केवल वैयक्तिक सीमा के बन्धन से मुक्त होकर वह जीवन-व्यवहार गढ़ने में सहायक बनती है। आत्म समानता के सिद्धान्त के अनुसार विचार करें या आत्माद्वैत के सिद्धान्त के अनुसार विचार करें, एक बात तो सुनिश्चित है कि कोई व्यक्ति समूह से बिल्कुल अलग न तो है और न उससे अलग रह सकता है। एक व्यक्ति के जीवन इतिहास के लंबे पट पर नजर दौड़ा कर विचार करें तो हमें तुरन्त दिखाई देगा कि उसके ऊपर पड़े हुए और पड़ने वाले संस्कारों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से दूसरे असंख्य व्यक्तियों के संस्कारों का हाथ है। और वह व्यक्ति जिन संस्कारों का निर्माण करता है, वे भी केवल उसमें ही मर्यादित न रहकर समूहगत अन्य व्यक्तियों में प्रत्यक्ष या परम्परा से संचरित होते रहते हैं। वस्तुतः समूह या समष्टि का अर्थ है व्यक्ति या व्यष्टि का सम्पूर्ण जोड़।

यदि हर एक व्यक्ति अपने कर्म और फल के लिये पूरी तरह से जिम्मेदार हो और अन्य व्यक्तियों से बिल्कुल स्वतन्त्र उसके श्रेय-अश्रेय का विचार केवल उसी के साथ जुड़ा हो, तो सामूहिक जीवन का क्या अर्थ है ? क्योंकि बिल्कुल अलग, स्वतन्त्र और एक-दूसरे के असर से मुक्त व्यक्तियों का सामूहिक जीवन में प्रवेश केवल आकस्मिक ही हो सकता है। यदि ऐसा अनुभव होता हो कि सामूहिक

जीवन से वैयक्तिक जीवन विल्कुल स्वतन्त्र रूप में जिया नहीं जाता, तो तत्त्वज्ञान भी इसी अनुभव के आधार पर कहता है कि व्यक्ति-व्यक्ति के बीच चाहे जितना भेद दिखाई दे, फिर भी प्रत्येक व्यक्ति किसी एक ऐसे जीवन सूत्र से श्रोत-प्रोत है कि उसके द्वारा वे सब व्यक्ति आस-पास एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। यदि ऐसा है तो कर्म फल का नियम भी किसी दृष्टि से विचारा और लागू किया जाना चाहिये। अभी तक आध्यात्मिक श्रेय का विचार भी हर एक सम्प्रदाय ने वैयक्तिक दृष्टि से ही किया है। व्यावहारिक लाभालाभ का विचार भी इस दृष्टि के अनुसार ही हुआ है। इसके कारण जिस सामूहिक जीवन को जिये बिना काम चल नहीं सकता, उसे लक्ष्य में रखकर श्रेय या प्रेय का मूलगत विचार या आचार ही नहीं पाया। कदम-कदम पर सामूहिक कल्याण को लक्ष्य में रख कर बनाई हुई योजनाएं इसी कारण से या तो नष्ट हो जाती हैं या कमजोर होकर निराशा में बदल जाती हैं। विश्व शान्ति का सिद्धान्त निश्चित तो होता है, परन्तु बाद में उसकी हिमायत करने वाला हर एक राष्ट्र वैयक्तिक दृष्टि से ही उस पर विचार करता है। इससे न तो विश्व शान्ति सिद्ध होती है और न राष्ट्रीय समृद्धि स्थिर होती है। यही न्याय हर एक समाज पर भी लागू होता है। अब यदि सामूहिक जीवन की विशाल और अखण्ड दृष्टि का विकास किया जाये और उस दृष्टि के अनुसार हर व्यक्ति अपनी जिम्मेदारी की मर्यादा बढ़ावे तो उसके हिताहित दूसरे के हिताहितों के साथ टकराने न पावें और जहां वैयक्तिक नुकसान दिखाई देता हो वहां भी सामूहिक जीवन के लाभ की दृष्टि उसे संतुष्ट रखे, उसका कर्त्तव्य क्षेत्र विस्तृत बने और उसके सम्बन्ध अधिक व्यापक बनने पर वह अपने में एक भूमा को देखे।

दुःख से मुक्त होने के विचार में से ही उसका कारण माने गये कर्म से मुक्त होने का विचार पैदा हुआ। ऐसा माना गया कि कर्म, प्रवृत्ति या जीवन-व्यवहार की जिम्मेदारी स्वयं ही बंधन रूप है। जब तक उसका अस्तित्व है, तब तक पूर्ण मुक्ति सर्वथा असंभव है। इसी धारणा में से पैदा हुए कर्ममात्र की निवृत्ति के विचार से श्रमण परम्परा का अनगार-मार्ग और संन्यास परम्परा का वर्ण-कर्म-धर्म-संन्यास मार्ग अस्तित्व में आया। परन्तु इस विचार में जो दोष था, वह धीरे-धीरे ही सामूहिक जीवन की निर्बलता और लापरवाही के रास्ते से प्रकट हुआ। जो अनगार होते हैं या वर्ण-कर्म-धर्म छोड़ते हैं, उन्हें भी जीना होता है। इसका फल यह हुआ कि ऐसों का जीवन अधिक मात्रा में परावलम्बी और कृत्रिम बना। सामूहिक जीवन की कड़ियाँ टूटने और अस्तव्यस्त होने लगीं। इस अनुभव ने यह सुझाया कि केवल कर्म बंधन नहीं है। परन्तु उसके पीछे रही हुई तृष्णावृत्ति या दृष्टि की संकुचितता और चित्त की अशुद्धि ही बंधन रूप है। केवल वही दुःख देती है। यही अनुभव अनासक्त कर्मवाद के द्वारा प्रतिपादित हुआ है।

पाँव में सूई लग जाने पर कोई उसे निकाल कर फेंक दे तो ग्रामतौर पर कोई उसे गलत नहीं कहता। परन्तु जब सूई फेंकने वाला बाद में सीने के और दूसरे काम के लिये नई सूई ढूँढ़े और उसके न मिलने पर अघोर होकर दुःख का अनुभव करे तो समझदार आदमी उसे जरूर कहेगा कि तूने भूल की। पाँव में से सूई निकालना ठीक था, क्योंकि वह उसकी योग्य जगह नहीं थी, परन्तु यदि उसके बिना जीवन चलता ही न हो तो उसे फेंक देने में जरूर भूल है। ठीक तरह से उपयोग करने के लिये योग्य रीति से उसका संग्रह करना ही पाँव में से सूई निकालने का सच्चा अर्थ है। जो न्याय सूई के लिये है, वही न्याय सामूहिक कर्म के लिये भी है। केवल वैयक्तिक दृष्टि से जीवन जीना सामूहिक जीवन की दृष्टि में सूई भोंकने के बराबर है। इस सूई को निकाल कर उसका ठीक तरह से उपयोग करने का मतलब है सामूहिक जीवन की जिम्मेदारी को बुद्धि पूर्वक स्वीकार करके जीवन बिताना। ऐसा जीवन ही व्यक्ति की जीवन्मुक्ति है। जैसे-जैसे हर व्यक्ति अपनी वासना-शुद्धि द्वारा सामूहिक जीवन का मूल कम करता जाता है, वैसे-वैसे सामूहिक जीवन दुःख-मुक्ति का विशेष अनुभव करता है। इस प्रकार विचार करने पर कर्म ही धर्म बन जाता है। अमुक फल का अर्थ है रस के साथ छिलका भी। छिलका नहीं हो तो रस कैसे टिक सकता है? और रस रहित छिलका भी फल नहीं है। उसी तरह धर्म तो कर्म का रस है। और कर्म सिर्फ धर्म की छाल है। दोनों का ठीक तरह से संमिश्रण हो, तभी वे जीवन-फल प्रकट कर सकते हैं। कर्म के आलंबन के बिना वैयक्तिक तथा सामूहिक जीवन की शुद्धि रूप धर्म रहेगा ही कहाँ? और ऐसी शुद्धि न हो तो क्या उस कर्म की छाल से ज्यादा कीमत मानी जायेगी?

कर्म प्रवृत्तियाँ अनेक तरह की हैं। परन्तु उनका मूल चित्त में है। किसी समय योगियों ने विचार किया कि जब तक चित्त है, तब तक विकल्प उठते ही रहेंगे और विकल्पों के उठने पर शान्ति का अनुभव नहीं हो सकता। इसलिये 'मूले कुठारः' के न्याय को मानकर वे चित्त का विलय करने की ओर ही भुके। और अनेकों ने यह मान लिया कि चित्त विलय ही मुक्ति है, और वही परम साध्य है। मानवता के विकास का विचार एक ओर रह गया। यह भी बंधन रूप माने जाने वाले कर्म को छोड़ने के विचार की तरह भूल ही थी। इस विचार में दूसरे अनुभवियों ने सुधार किया कि चित्त विलय मुक्ति नहीं है, परन्तु चित्त शुद्धि ही मुक्ति है। चित्त शुद्धि ही शान्ति का एक मात्र मार्ग होने से यह मुक्ति अवश्य है, परन्तु सिर्फ वैयक्तिक चित्त की शुद्धि में पूर्ण मुक्ति मान लेने का विचार अधूरा है। सामूहिक चित्त की शुद्धि को बढ़ाते जाना ही वैयक्तिक चित्त शुद्धि का आदेश होना चाहिये, और यह हो तो किसी दूसरे स्थान में या लोक में मुक्ति धाम मानने की या उसकी कल्पना करने की बिल्कुल जरूरत नहीं है। ऐसा धाम तो सामूहिक चित्त शुद्धि में अपनी शुद्धि का हिस्सा मिलाने में ही है।

हर एक सम्प्रदाय में सर्व भूतहित पर भार दिया गया है । परन्तु व्यवहार में मानव समाज के हित का भी शायद ही पूरी तरह से अमल देखने में आता है । इसलिए प्रश्न यह है कि पहले मुख्य लक्ष्य किस दिशा में और किस ध्येय की तरफ़ दिया जाय ? स्पष्ट है कि पहले मानवता के विकास की ओर लक्ष्य दिया जाय और उसके मुताबिक़ जीवन बिताया जाय । मानवता के विकास का अर्थ है—आज तक उसने जो-जो सद्गुण जितनी मात्रा में साधे हैं, उनकी पूर्ण रूप से रक्षा करना और उनकी मदद से उन्हीं सद्गुणों में ज्यादा शुद्धि करके नवीन सद्गुणों का विकास करना जिससे मानव-मानव के बीच द्वन्द्व और शत्रुता के तामस बल प्रकट न होने पावें । इस तरह जितनी मात्रा में मानव-विकास का ध्येय सिद्ध होता जायेगा उतनी मात्रा में समाज-जीवन सुसंवादी और सुरीला बनता जावेगा । उनका प्रासंगिक फल सर्वभूतहित में ही आने वाला है । इसलिये हर एक साधक के प्रयत्न की मुख्य दिशा तो मानवता के सद्गुणों के विकास की ही रहनी चाहिये । यह सिद्धान्त भी सामूहिक जीवन की दृष्टि से कर्म फल का नियम लागू करने के विचार में से ही फलित होता है ।

ऊपर की विचार सरणी गृहस्थाश्रम को केन्द्र में रखकर ही सामुदायिक जीवन के साथ वैयक्तिक जीवन का सुमेल साधने की बात कहती है । यह ऐसी सूचना है जिसका अमल करने से गृहस्थाश्रम में ही बाकी के सब आश्रमों के सद्गुण साधने का मौका मिल सकता है । क्योंकि उसमें गृहस्थाश्रम का आदर्श इस तरह बदल जाता है कि वह केवल भोग का धाम न रहकर भोग और योग के सुमेल का धाम बन जाता है इसलिये गृहस्थाश्रम से अलग अन्य आश्रमों का विचार करने की गुंजाइश ही नहीं रहती । गृहस्थाश्रम ही चारों आश्रमों के समग्र जीवन का प्रतीक बन जाता है और वही नैसर्गिक भी है ।




---

रे जीवा साहस आदरो, मत थाओ तुम दीन ।  
 सुख-दुःख आपद-संपदा, पूरब कर्म अधीन ॥  
 कर्म हीण को ना मिलै, भली वस्तु का योग ।  
 जब दाखें पकने लगीं, काग कंठ भयो रोग ॥

---

**कर्म की कार्य-मर्यादा :**

कर्म का मोटा काम जीव को संसार में रोके रखना है। परावर्तन संसार का दूसरा नाम है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव के भेद से वह पाँच प्रकार का है। कर्म के कारण ही जीव इन पाँच प्रकार के परावर्तनों में घूमता फिरता है। चौरासी लाख योनियाँ और उनमें रहते हुए जीव की जो विविध अवस्थाएँ होती हैं उनका मुख्य कारण कर्म है। स्वामी समन्तभद्र 'श्राप्त मीमांसा' में कर्म के कार्य का निर्देश करते हुए लिखते हैं—

“कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपतः ।”

“जीव की काम, क्रोध आदि रूप विविध अवस्थाएँ अपने-अपने कर्म के अनुरूप होती हैं ।”

बात यह है कि मुक्त दशा में जीव की प्रति समय जो स्वाभाविक परिणति होती है उसका अलग-अलग निमित्त कारण नहीं है, नहीं तो उसमें एकरूपता नहीं बन सकती। किन्तु संसार दशा में वह परिणति प्रति समय जुदी-जुदी होती रहती है इसलिये उसके जुदे-जुदे निमित्त कारण माने गये हैं। ये निमित्त संस्कार रूप में आत्मा से सम्बद्ध होते रहते हैं और तदनुकूल परिणति के पैदा करने में सहायता प्रदान करते हैं। जीव की अशुद्धता और शुद्धता इन निमित्तों के सद्भाव और असद्भाव पर आधारित है। जब तक इन निमित्तों का एक क्षेत्रावगाह संश्लेशरूप सम्बन्ध रहता है तब तक अशुद्धता बनी रहती है। जैन दर्शन में इन्हीं निमित्तों को कर्म शब्द से पुकारा गया है।

ऐसा भी होता है कि जिस समय जैसी बाह्य सामग्री मिलती है उस समय उसके अनुकूल अशुद्ध आत्मा की परिणति होती है। सुन्दर सुस्वरूप स्त्री के मिलने पर राग होता है। जुगुप्सा की सामग्री मिलने पर ग्लानि होती है। धन सम्पत्ति को देख कर लोभ होता है और लोभवश उसके अर्जन करने, छीन लेने या चुरा लेने की भावना होती है। ठोकर लगने पर दुःख होता है और माया का संयोग होने पर सुख। इसलिये यह कहा जा सकता है कि केवल कर्म ही आत्मा

की विविध परिस्थिति के होने में निमित्त नहीं हैं किन्तु अन्य सामग्री भी उसका निमित्त है अतः कर्म का स्थान बाह्य सामग्री को मिलना चाहिये ।

परन्तु विचार करने पर यह युक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अन्तरंग में वैसी योग्यता के अभाव में बाह्य सामग्री कुछ भी नहीं कर सकती है । जिस योगी का राग भाव नष्ट हो गया है उसके सामने प्रबल राग की सामग्री उपस्थित होने पर भी राग पैदा नहीं होता । इससे मालूम पड़ता है कि अन्तरंग में योग्यता के बिना बाह्य सामग्री का कोई मूल्य नहीं है । यद्यपि कर्म के विषय में भी ऐसा ही कहा जा सकता है पर कर्म और बाह्य सामग्री इनमें मौलिक अन्तर है । कर्म जैसी योग्यता का सूचक है पर बाह्य सामग्री का वैसी योग्यता से कोई सम्बन्ध नहीं । कभी वैसी योग्यता के सद्भाव में भी बाह्य सामग्री नहीं मिलती और कभी उसके अभाव में भी बाह्य सामग्री का संयोग देखा जाता है । किन्तु कर्म के विषय में ऐसी बात नहीं है । उसका सम्बन्ध तभी तक आत्मा से रहता है जब तक उसमें तदनुकूल योग्यता पाई जाती है । अतः कर्म का स्थान बाह्य सामग्री नहीं ले सकती । फिर भी अन्तरंग में योग्यता के रहते हुए बाह्य सामग्री के मिलने पर न्यूनधिक प्रमाण में कार्य तो होता ही है इसलिए निमित्तों की परिगणना में बाह्य सामग्री की भी गिनती हो जाती है । पर यह परम्परा निमित्त है । इसलिये इसकी परिगणना तो कर्म के स्थान में की गई है ।

इतने विवेचन से कर्म की कार्य-मर्यादा का पता लग जाता है । कर्म के निमित्त से जीव की विविध प्रकार की अवस्था होती है और जीव में ऐसी योग्यता आती है जिससे वह योग द्वारा यथायोग्य शरीर, वचन और मन के योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर उन्हें अपनी योग्यतानुसार परिणमाता है ।

कर्म की कार्य-मर्यादा यद्यपि उक्त प्रकार की है तथापि अधिकतर विद्वानों का विचार है कि बाह्य सामग्री की प्राप्ति भी कर्म से होती है । इन विचारों की पुष्टि में वे 'मोक्ष मार्ग प्रकाश' के निम्न उल्लेखों को उपस्थित करते हैं—“तहाँ वेदनीय करि तो शरीर विषे वा शरीर तै बाह्य नाना प्रकार सुख दुःखानि को कारण पर द्रव्य का संयोग जुँरै है ।” पृ० ३५

उसी से दूसरा प्रमाण वे यों देते हैं—

“बहुरि कर्मनि विषे वेदनीय के उदय करि शरीर विषे बाह्य सुख दुःख का कारण निपजै है । शरीर विषे आरोग्यपनौ, रोगीपनौ, शक्तिवानपनौ, दुर्बलपनौ अर क्षुधा, तृषा, रोग, खेद, पीड़ा इत्यादि सुख दुःखानि के कारण हो हैं । बहुरि बाह्य विषे सुहावना ऋतु पवनादिक वा इष्ट स्त्री पुत्रादिक वा मित्र धनादिक... सुख दुःख के कारक ही हैं ।” पृ० ५६ ।



इन विचारों की परम्परा यहीं तक नहीं जाती है किन्तु इससे पूर्ववर्ती बहुत से लेखकों ने भी ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं। पुराणों में पुण्य और पाप की महिमा इसी आधार से गाई गई है। अमितगति के 'सुभाषित रत्न सन्दोह' में देवनिरूपण नाम का एक अधिकार है। उसमें भी ऐसा ही बतलाया है। वहाँ लिखा है कि पापी जीव समुद्र में प्रवेश करने पर भी रत्न नहीं पाता किन्तु पुण्यात्मा जीव तट पर बैठे ही उन्हें प्राप्त कर लेता है। यथा—

‘जलधिगतोऽपि न कश्चित्कश्चित्तटगोऽपि रत्नमुपयाति ।’

किन्तु विचार करने पर उक्त कथन युक्त प्रतीत नहीं होता। खुलासा इस प्रकार है—

कर्म के दो भेद हैं—जीव विपाकी और पुद्गल विपाकी। जो जीव की विविध अवस्था और परिणामों के होने में निमित्त होते हैं वे जीव विपाकी कर्म कहलाते हैं। और जिनसे विविध प्रकार के शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास की प्राप्ति होती है वे पुद्गल विपाकी कर्म कहलाते हैं। इन दोनों प्रकार के कर्मों में ऐसा एक भी कर्म नहीं बतलाया है जिसका काम बाह्य सामग्री का प्राप्त कराना हो। सातावेदनीय और असातावेदनीय ये स्वयं जीवविपाकी हैं 'राजवार्तिक' में इनके कार्य का निर्देश करते हुए लिखा है—

“यस्योदयाद्देवादिगतिषु शारीरमानससुख प्राप्तिस्तत्सद्वेद्यम् । यत्फलं दुःखमनेकविधं तदसद्वेद्यम् ।” पृष्ठ ३०४ ।

इन वार्तिकों की व्याख्या करते हुए वहाँ लिखा है—

“अनेक प्रकार की देवादि गतियों में जिस कर्म के उदय से जीवों के प्राप्त हुए द्रव्य के सम्बन्ध की अपेक्षा शारीरिक और मानसिक नाना प्रकार का सुख रूप परिणाम होता है वह सातावेदनीय है तथा नाना प्रकार की नरकादि गतियों में जिस कर्म के फलस्वरूप जन्म, जरा, मरण, इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, व्याधि, बध और बन्धनादि से उत्पन्न हुआ विविध प्रकार का मानसिक और कायिक दुःख होता है वह असाता वेदनीय है ।”

‘सर्वार्थसिद्धि’ में जो साता वेदनीय और असाता वेदनीय के स्वरूप का निर्देश किया है, उससे भी उक्त कथन की पुष्टि होती है।

श्वेताम्बर कार्मिक ग्रंथों में भी इन कर्मों का यही अर्थ किया है। ऐसी हालत में इन कर्मों को अनुकूल व प्रतिकूल बाह्य सामग्री के संयोग-वियोग में निमित्त मानना उचित नहीं है। वास्तव में बाह्य सामग्री की प्राप्ति अपने-अपने कारणों से होती है। इसकी प्राप्ति का कारण कोई कर्म नहीं है।

ऊपर 'मोक्ष मार्ग प्रकाशक' के जिस मत की चर्चा की इसके सिवा दो मत और मिलते हैं जिनमें बाह्य सामग्री की प्राप्ति के कारणों का निर्देश किया गया है। इनमें से पहला मत तो पूर्वोक्त मत से ही मिलता जुलता है। दूसरा मत कुछ भिन्न है। आगे इन दोनों के आधार से चर्चा कर लेना इष्ट है:—

(१) षट्खण्डागम चूलिका अनुयोग द्वार में प्रकृतियों का नाम निर्देश करते हुए सूत्र १८ की टीका में वीरसेन स्वामी ने इन कर्मों की विस्तृत चर्चा की है। यहाँ सर्वप्रथम उन्होंने साता और असाता वेदनीय का वही स्वरूप दिया है जो 'सर्वार्थ सिद्धि' आदि में बतलाया गया है। किन्तु शंका-समाधान के प्रसंग से उन्होंने साता वेदनीय को जीव विपाकी और पुद्गल विपाकी उभय रूप सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

इस प्रकरण के वाचने से ज्ञात होता है कि वीरसेन स्वामी का यह मत था कि साता वेदनीय और असाता वेदनीय का काम सुख-दुःख को उत्पन्न करना तथा इनकी सामग्री को जुटाना दोनों है।

(२) तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय २ सूत्र ४ की 'सर्वार्थ सिद्धि' टीका में बाह्य सामग्री की प्राप्ति के कारणों का निर्देश करते हुए लाभादि को उसका कारण बतलाया है। किन्तु सिद्धों में अति प्रसंग देने पर लाभादि के साथ शरीर नाम कर्म आदि की अपेक्षा और लगा दी है।

ये दो ऐसे मत हैं जिनमें बाह्य सामग्री की प्राप्ति का क्या कारण है, इसका स्पष्ट निर्देश किया है। आधुनिक विद्वान् भी इनके आधार से दोनों प्रकार के उत्तर देते हुए पाये जाते हैं। कोई तो वेदनीय को बाह्य सामग्री की प्राप्ति का निमित्त बतलाते हैं और कोई लाभान्तराय आदि के क्षय व क्षयोपशम को। इन विद्वानों के ये मत उक्त प्रमाणों के बल से भले ही बने हों किन्तु इतने मात्र से इनकी पुष्टि नहीं की जा सकती क्योंकि उक्त/कथन मूल कर्म व्यवस्था के प्रतिकूल पड़ता है।

यदि थोड़ा बहुत इन बातों को प्रश्रय दिया जा सकता है तो उपचार से ही दिया जा सकता है। वीरसेन स्वामी ने तो स्वर्ग, भोगभूमि और नरक में सुख-दुःख की निमित्तभूत सामग्री के साथ वहाँ उत्पन्न होने वाले जीवों के साता और असाता के उदय का सम्बन्ध देखकर उपचार से इस नियम का निर्देश किया है कि बाह्य सामग्री साता और असाता का फल है। तथा पूज्यपाद स्वामी ने संसारी जीव में बाह्य सामग्री में लाभादि रूप परिणाम लाभान्तराय आदि के क्षयोपशम का फल जानकर उपचार से इस नियम का निर्देश किया है कि लाभान्तराय आदि के क्षय व क्षयोपशम से बाह्य सामग्री की प्राप्ति होती है। तत्त्वतः बाह्य सामग्री की प्राप्ति न तो साता-असाता का ही फल है और न

लाभान्तराय आदि कर्म के क्षय व क्षयोपशम का ही फल है। बाह्य सामग्री इन कारणों से न प्राप्त होकर अपने-अपने कारणों से ही प्राप्त होती है। उद्योग करना, व्यवसाय करना, मजदूरी करना, व्यापार के साधन जुटाना, राजा-महाराजा या सेठ-साहूकार की साहूकारी करना, उनसे दोस्ती जोड़ना, अजित धन की रक्षा करना, उसे ब्याज पर लगाना, प्राप्त धन को विविध व्यवसायों में लगाना, खेतीबाड़ी करना, भांसा देकर ठगी करना, जेब काटना, चोरी करना, जुआ खेलना, भीख मांगना, धर्मादय को संचित कर पचा जाना आदि बाह्य सामग्री की प्राप्ति के साधन हैं। इन व अन्य कारणों से बाह्य सामग्री की प्राप्ति होती है, उक्त कारणों से नहीं।

**शंका**—इन सब बातों के या इनमें से किसी एक के करने पर भी हानि देखी जाती है सो इसका क्या कारण है ?

**समाधान**—प्रयत्न की कमी या बाह्य परिस्थिति या दोनों।

**शंका**—कदाचित् व्यवसाय आदि के नहीं करने पर भी धन प्राप्ति देखी जाती है तो इसका क्या कारण है ?

**समाधान**—यहाँ यह देखना है कि वह प्राप्ति कैसे हुई है ? क्या किसी के देने से हुई या कहीं पड़ा हुआ धन मिलने से हुई है ? यदि किसी के देने से हुई है तो इसमें जिसे मिला है उसके विद्या आदि गुण कारण हैं या देने वाले की स्वार्थ-सिद्धि, प्रेम आदि कारण हैं। यदि कहीं पड़ा हुआ धन मिलने से हुई है तो ऐसी धन प्राप्ति, पुण्योदय का फल कैसे कहा जा सकता है ? यह तो चोरी है। अतः चोरी के भाव इस धन प्राप्ति में कारण हुए न कि सात्ता का उदय।

**शंका**—दो आदमी एक साथ एक सा व्यवसाय करते हैं फिर क्या कारण है कि एक को लाभ होता है दूसरे को हानि ?

**समाधान**—व्यापार करने में अपनी-अपनी योग्यता और उस समय की परिस्थिति आदि इसका कारण है, पाप-पुण्य नहीं। संयुक्त व्यापार में एक को हानि और दूसरे को लाभ हो तो कदाचित् हानि-लाभ, पाप-पुण्य का फल माना भी जाये। पर ऐसा होता नहीं, अतः हानि-लाभ को पाप-पुण्य का फल मानना किसी भी हालत में उचित नहीं है।

**शंका**—यदि बाह्य सामग्री का लाभालाभ पुण्य-पाप का फल नहीं है तो फिर एक गरीब और दूसरा श्रीमान् क्यों होता है ?

**समाधान**—एक का गरीब और दूसरे का श्रीमान् होना यह व्यवस्था का फल है, पुण्य-पाप का नहीं। जिन देशों में पूंजीवादी व्यवस्था है और व्यक्तिगत

सम्पत्ति के जोड़ने की कोई मर्यादा नहीं, वहाँ अपनी-अपनी योग्यता व साधनों के अनुसार गरीब-अमीर इन वर्गों की सृष्टि हुआ करती है। गरीब और अमीर इनको पाप-पुण्य का फल मानना किसी भी हालत में उचित नहीं है। रूस ने बहुत कुछ अंशों में इस व्यवस्था को तोड़ दिया है इसलिये वहाँ इस प्रकार का भेद नहीं दिखाई देता है फिर भी वहाँ पुण्य और पाप तो हैं ही। सचमुच में पुण्य और पाप तो वह है जो इन बाह्य व्यवस्थाओं के परे हैं और वह है आध्यात्मिक। जैन कर्मशास्त्र ऐसे ही पुण्य-पाप का निर्देश करता है।

**शंका**—यदि बाह्य सामग्री का लाभालाभ पुण्य-पाप का फल नहीं है तो सिद्ध जीवों को इसकी प्राप्ति क्यों नहीं होती ?

**समाधान**—बाह्य सामग्री का सद्भाव जहाँ है वहीं उसकी प्राप्ति संभव है। यों तो इसकी प्राप्ति जड़-चेतन दोनों को होती है। क्योंकि तिजोरी में भी धन रखा रहता है इसलिये उसे भी धन की प्राप्ति कहा जा सकता है। किन्तु जड़ के रागादि भाव नहीं होता और चेतन के होता है, इसलिये वही उसमें ममकार और अहंकार भाव करता है।

**शंका**—यदि बाह्य सामग्री का लाभालाभ पुण्य-पाप का फल नहीं है तो न सही पर सरोगता और नीरोगता यह तो पाप-पुण्य का फल मानना ही पड़ता है।

**समाधान**—सरोगता और नीरोगता यह पाप-पुण्य के उदय का निमित्त भले ही हो जाय पर स्वयं वह पाप-पुण्य का फल नहीं है। जिस प्रकार बाह्य सामग्री अपने-अपने कारणों से प्राप्त होती है, उसी प्रकार सरोगता और नीरोगता भी अपने-अपने कारणों से प्राप्त होती है। इसे पाप-पुण्य का फल मानना किसी भी हालत में उचित नहीं है।

**शंका**—सरोगता और नीरोगता के क्या कारण हैं ?

**समाधान**—अस्वास्थ्यकर आहार, विहार व संगति करना आदि सरोगता के कारण हैं और स्वास्थ्यवर्धक आहार, विहार व संगति करना आदि नीरोगता के कारण हैं।

इस प्रकार कर्म की कार्य-मर्यादा का विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म बाह्य सम्पत्ति के संयोग-वियोग का कारण नहीं है। उसकी मर्यादा उतनी ही है जिसका निर्देश हम पहले कर आये हैं। हाँ, जीव के विविध भाव कर्म के निमित्त से होते हैं और ये कहीं-कहीं बाह्य सम्पत्ति के अर्जन आदि में कारण पड़ते हैं, इतनी बात अवश्य है। □

कर्म के फल या परिणाम के लिये कर्ता के अगले जन्म तक प्रतीक्षा करने का सचमुच कोई कारण नहीं, क्योंकि कर्म के संकल्प के साथ ही कर्ता के चित्त पर सुख-दुःख के परिणाम शुरू हो जाते हैं। तभी से उसकी तरंगों भी विश्व में फैलने लगती हैं। कर्म हो जाने के बाद उसके भले-बुरे परिणाम भी कर्ता को और जहाँ-जहाँ वे पहुँचते हैं वहाँ के सब लोगों को प्रत्यक्ष भोगने पड़ते हैं। उन परिणामों से पैदा होने वाले कई तरह के परिणामों की परम्परा दुनिया में जारी रहती है। विश्व का व्यापार किसी तरह अखंड रूप में चलता रहता है। कर्म के संकल्प और भाव विश्व की उसी प्रकार की तरंगों और आन्दोलनों में तुरन्त मिलकर उन तत्त्वों में वृद्धि करते हैं। प्रत्येक मनुष्य या दूसरा कोई प्राणी अपने-अपने संकल्प के अनुसार या चित्त के धर्म के अनुसार उन आन्दोलनों के तत्त्वों को आत्मसात् करके उन्हें उसी प्रकार के संकल्प या कर्म द्वारा पुनः प्रकट करता है। उसमें से भी नई तरंगें उठती हैं और फिर विश्व में फैलने लगती हैं। स्थूल कर्म और उनकी भौतिक तरंगें विश्व के व्यक्त-अव्यक्त को मदद देते हैं। जिस प्रकार क्रिया-प्रतिक्रिया के न्याय से कर्म, संकल्प और भाव का चक्र व्यक्त-अव्यक्त के आधार पर विश्व में सतत जारी ही रहता है। व्यक्ति के मरने से यह चक्र बन्द नहीं हो जाता। वह विरासत के आधार पर आगे जारी रहता है। विरासत का अर्थ यहाँ केवल वंश-परम्परा या रक्त का सम्बन्ध न मानकर कर्म और संकल्प की सजातीयता समझना चाहिये। मनुष्य की मृत्यु के बाद उसके चित्त में जो संकल्प तीव्र रूप में बसे होंगे, जो इच्छाएँ, भावनायें और हेतु उत्कृष्ट रूप में रहे होंगे, उनकी तरंगें और आन्दोलनों का मृत्यु के बाद विश्व में अधिक तीव्रता से फैलना या जारी रहना संभव है। शरीर का कण-कण जैसे पूर्व महा-भूतों में मिल जाता है, उसी तरह सारे जीवन में उसने जो सत्व या तत्त्व प्राप्त किया होगा, वह विश्व में रहने वाले सजातीय सत्व या तत्त्व में मिल जाता है।

हमारे भले-बुरे कर्मों का फल इस जन्म में नहीं तो दूसरे जन्म में भी सुख-दुःख रूप में हमें भोगतना पड़ता है, लोगों की ऐसी श्रद्धा है। इस कारण समाज में कुछ समय तक नीति के संस्कार टिके और बढ़े भी। श्रद्धा के मूल में लोगों की यह समझ थी कि ईश्वर के घर या कुदरत में न्याय है। कुछ समय तक समाज पर इसका अच्छा असर भी हुआ। परन्तु बाद में यह हालत नहीं रही। अब इस मान्यता में संशोधन का समय आ गया है। अब प्रश्न खड़ा हुआ

है कि हमारे कर्मों का फल खुद हमीं को भोगना पड़ता है या नहीं ? कई लोगों का यह खयाल भी होने लगा है कि पुनर्जन्म, कर्मवाद वगैरह तमाम मान्यतायें गलत हैं, इसका बहुजन-समाज पर जल्दी ही बुरा असर होना संभव है। ऐसे समय ईश्वर, भक्ति, पुनर्जन्म, मोक्ष आदि पर से लोगों की श्रद्धा मिटे, इसके पहले ही विचारवान और जनहित-चिन्तक व्यक्तियों को चाहिये कि वे समाज के सामने सही विचार रखकर उनमें नीति और सदाचार की भावनाएँ जाग्रत करें और उन्हें दृढ़ करें, अन्यथा पूर्व श्रद्धा से छूटे हुए लोगों के नास्तिकता में फंस जाने और स्वेच्छाचारी होने का बड़ा भय है। इस अवस्था में यदि कुछ लोग यह महसूस करें कि ऐसा होने के बजाय धर्म की गलत और भ्रामक मान्यतायें होना भी अच्छा है तो आश्चर्य नहीं।

हमारे कर्म का फल खुद हमें तो भोगना ही पड़ता है, साथ ही साथ दूसरों को भी भोगना पड़ता है। इस नियम पर अब हमें विश्वास रखना चाहिये। मानव-जगत् का न्याय सामूहिक पद्धति पर चलता है। इसलिये हमारे कर्मों का फल हमें न मिलकर समूह को भी मिलेगा। अपने कर्मों का फल हमें इस जन्म में या दूसरे जन्म में भोगना पड़ता है, इस मान्यता में अपनेपन की कल्पना इस जन्म और दूसरे जन्म के अपने तक ही अर्थात् अपने जीव तक ही सीमित रहती है। इसमें संकुचितता और अवलोकन शक्ति की अपूर्णता मालूम होती है। इसलिये यह संकुचित कल्पना छोड़कर हमें अपनेपन की विशाल कल्पना धारण करनी चाहिये। हमारा आत्मभाव जैसे-जैसे व्यापक होता जायेगा, वैसे-वैसे यह न्याय हमें उचित दिखाई देने लगेगा। मानव-जीवन, मानव-सम्बन्ध, मानव-संकल्प और विश्व के व्यक्त-अव्यक्त व्यापार सबकी दृष्टि से यह मान्यता और यह न्याय अधिक उदात्त, सत्य और श्रेष्ठ है। इस न्याय निष्ठा से रहेंगे, तो हममें आपसी प्रेम, विश्वास और एकता बढ़ेगी, सभभाव पैदा होगा और कुल मिलाकर हम सब मानवता की दिशा में प्रगति करेंगे। इसके लिये हमें अपने कर्मों और संकल्पों का विचार करके उनमें रहने वाली अशुद्धता दूर करनी चाहिये, हमें शुभ कर्म करने चाहिये और शुभ संकल्प धारण करने चाहिये। सबकी शुद्धि और उन्नति के लिये हमें सत्कर्मरत और सद्गुणी बनना चाहिये। प्रेमी और कल्याण इच्छुक माता-पिता अपनी सन्तान पर अच्छे संस्कार डालने और उसकी उन्नति के लिये खुद संयमी, सद्गुणी और सदाचारी रहते हैं। इसी प्रकार सारी मानव-जाति पर हमारा प्रेम हो, सबके प्रति हमारे मन में सहानुभूति हो, तो समस्त मानव-जाति के लिये धर्म मार्ग से कष्ट सहन करने में हमें धन्यता का अनुभव होगा। केवल अपने विषय की संकुचित भावना से कष्ट सहन करने के बजाय मानवता और एकता की विशाल भावना से कष्ट सहन करने में जीवन की सच्ची सार्थकता है।

• • •

□ श्री किशोरलाल मधुवाला

एक सज्जन मित्र लिखते हैं—“कुछ लोग कहते हैं कि कर्म का सम्पूर्ण क्षय हुए बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती, और कर्म से निवृत्त हुए बिना कर्म क्षय की सम्भावना नहीं है। इसलिये निवृत्ति मार्ग ही आरम्भज्ञान अथवा मोक्ष का मार्ग है। क्योंकि जो भी कर्म किया जाता है, उसका फल अवश्य मिलता है। अर्थात् मनुष्य जब तक कर्म में प्रवृत्त रहेगा तब तक वह चाहे अनासक्ति से कर्म करता हो तो भी कर्मफल के भार से मुक्त नहीं हो सकता। इससे कर्म बन्धन का आवरण हटने के बदले उलटा घना होगा। इसके फलस्वरूप उसकी साधना खंडित होगी। लोक-कल्याण की दृष्टि से भले ही अनासक्ति वाला कर्मयोग इष्ट हो, परन्तु उससे आत्मज्ञान की साधना सफल नहीं होगी। इस विषय में मैं आपके विचार जानना चाहता हूँ।”

मेरी नम्र राय में कर्म क्या, कर्म का बन्धन और क्षय क्या, प्रवृत्ति और निवृत्ति क्या, आत्मज्ञान और मोक्ष क्या इत्यादि की हमारी कल्पनाएं बहुत ही अस्पष्ट हैं। अतएव इस सम्बन्ध में हम उलझन में पड़ जाते हैं और साधनों में गोते लगाते रहते हैं।

इस सम्बन्ध में पहले हमें यह समझ लेना चाहिये कि शरीर, वाणी और मन की क्रियामात्र कर्म है। कर्म का यदि हम यह अर्थ लेते हैं तो जब तक देह है तब तक कोई भी मनुष्य कर्म करना बिलकुल छोड़ नहीं सकता। कथाओं में आता है उस तरह कोई मुनि चाहे तो वर्ष भर तक निर्विकल्प समाधि में निश्चेष्ट होकर पड़ा रहे, परन्तु जिस क्षण वह उठता उस क्षण वह कुछ न कुछ कर्म अवश्य करेगा। इसके अलावा यदि हमारी कल्पना ऐसी हो कि हमारा व्यक्तित्व देह से परे जन्म-जन्मान्तर पाने वाला जीव रूप है, तब तो देह के बिना भी वह क्रियावान रहेगा। यदि कर्म से निवृत्त हुए बिना कर्मक्षय न हो सके तो उसका यह अर्थ हुआ कि कर्मक्षय होने की कभी भी सम्भावना नहीं है।

इसलिये निवृत्ति अथवा निष्कर्मता का अर्थ स्थूल निष्क्रियता समझने में भूल होती है। निष्कर्मता सूक्ष्म वस्तु है। वह आध्यात्मिक अर्थात् बौद्धिक, मानसिक, नैतिक भावना-विषयक और इससे भी परे बोधात्मक (संवेदनात्मक) है। क, ख, ग, घ नाम के चार व्यक्ति प, फ, ब, भ नाम के चार भूखे आदमियों

को एक सा अन्न देते हैं । चारों बाह्य कर्म करते हैं और चारों को सामान स्थूल तृप्ति होती है । परन्तु सम्भव है कि 'क' लोभ से देता हो, 'ख' तिरस्कार से देता हो, 'ग' पुण्येच्छा से देता हो और 'घ' आत्मभाव से स्वभावतः देता हो । उसी तरह 'प' दुःख मानकर लेता हो, 'फ' मेहरबानी मानकर लेता हो, 'ब' उपकारक भावना से लेता हो, 'भ' मित्र भाव से लेता हो । अन्नव्यय और क्षुधा-तृप्ति रूपी बाह्य फल सबका समान होने पर भी इन भेदों के कारण कर्म के बन्धन और क्षय की दृष्टि से बहुत फर्क पड़ जाता है । उसी तरह क, ख, ग, घ, से प, फ, ब, भ अन्न मांगें और चारों व्यक्ति उन्हें भोजन नहीं करावें, तो इसमें कर्म से समान परावृत्ति है और चारों की स्थूल भूख पर इसका समान परिणाम होता है । फिर भी भोजन न करावें या जल न पाने के पीछे रही बुद्धि, भावना, नीति, संवेदना इत्यादि भेद से इस कर्म-परावृत्ति से कर्म के बन्धन और क्षय एक से नहीं होते ।

तो यहाँ प्रवृत्ति और निवृत्ति के साथ पुनरावृत्ति और वृत्ति शब्द भी याद रखने जैसे हैं । परावृत्ति का अर्थ निवृत्ति नहीं है । परन्तु बहुत से लोग परावृत्ति को ही निवृत्ति मान बैठते हैं और वृत्ति अथवा वर्तन का अर्थ प्रवृत्ति नहीं है । परन्तु बहुत से लोग वृत्ति को ही प्रवृत्ति समझते हैं । वृत्ति का अर्थ है केवल बरतना । प्रवृत्ति का अर्थ है विशेष प्रकार के आध्यात्मिक भावों से बरतना । परावृत्ति का अर्थ है वर्तन का अभाव, निवृत्ति का अर्थ है वृत्ति तथा परावृत्ति सम्बन्धी प्रवृत्ति से भिन्न प्रकार की एक विशिष्ट आध्यात्मिक संवेदना ।

अब कर्म-बन्धन और कर्मक्षय के विषय में बहुतों का ऐसा खयाल मालूम होता है, मानो कर्म नाम की हर एक के पास एक तरह की पूंजी है । पाँच हजार रुपये ट्रंक में रखे हुए हों और उनमें किसी तरह की वृद्धि न हो परन्तु उनका खर्च होता रहे, तो दो-चार वर्ष में या पच्चीस वर्ष में तो वे सब अवश्य खर्च हो जायेंगे । परन्तु यदि मनुष्य उन्हें किसी कारोबार में लगाता है तो उनमें कमोवेशी होगी और सम्भव है कि पाँच हजार के लाख भी हो जायें या लाख न होकर उल्टा कर्ज हो जाय । यह घाटा भी चिंता और दुःख उत्पन्न करता है । सामान्य रूप से मनुष्य ऐसी चिंता और दुःख की सम्भावना से घबराते नहीं और लाख होने की सम्भावना से अप्रसन्न नहीं होते । वे न तो रूपयों का क्षय करना चाहते हैं और न रूपयों के बन्धन में पड़ने से दुःखी होते हैं । निवृत्ति-मार्गी साधु भी मंदिरों में और पुस्तकालयों में बढ़ने वाले परिग्रह से चिंतातुर नहीं होते । परन्तु कर्म नाम की पूंजी की हमने कुछ ऐसी कल्पना की है मानो वह एक बड़ी गठरी है और उसको खोलकर, जैसे बने वैसे उसे खत्म कर डालने में ही मनुष्य का श्रेय है, कर्म का व्यापार करके उससे लाभ उठाने में नहीं ।



कर्म को पूंजी की तरह समझने के कारण उसे खत्म करने की ऐसी कल्पना पैदा हुई है ।

परन्तु कर्म का बंधन रूप्यों की गठरी जैसा नहीं है । और वृत्ति-परावृत्ति अथवा स्थूल प्रवृत्ति-निवृत्ति से यह गठरी घटती-बढ़ती नहीं है । जगत् में कोई भी क्रिया हो चाहे जानने में हो या अनजान में वह विविध प्रकार के स्थूल और सूक्ष्म परिणाम एक ही समय में या भिन्न-भिन्न समय में, तुरन्त या कालान्तर में एक ही साथ या रह-रहकर पैदा करती है । इन परिणामों में से एक परिणाम कर्म करने वाले के ज्ञान और चारित्र के ऊपर किसी तरह का रजकण जितना ही असर उपजाने का होता है । करोड़ों कर्मों के ऐसे करोड़ों असरों के परिणामस्वरूप हर एक जीव का ज्ञान-चारित्र का व्यक्तित्व बनता है । यह निर्माण यदि उत्तरोत्तर शुद्ध होता जाये और ज्ञान, धर्म, वैराग्य इत्यादि की ओर अधिकाधिक भ्रुकता जाये तो उसके कर्म का क्षय होता है ऐसा कहा जायेगा । यदि वह उत्तरोत्तर अशुद्ध होता जाये—अज्ञान, अधर्म, राग इत्यादि के प्रति बढ़ता जाये तो उसके कर्म का संचय होता है ऐसा कहा जायेगा ।

इसी तरह कर्मों की वृत्ति-परावृत्ति नहीं, परन्तु कर्म का जीव के ज्ञान-चारित्र पर होने वाला असर ही बंधन और मोक्ष का कारण है । जीवन-काल में मोक्ष प्राप्त करने का अर्थ है ऐसी उच्च स्थिति का आदर्श, जिस स्थिति के प्राप्त होने के बाद उस व्यक्ति के ज्ञान-चारित्र पर ऐसा असर पैदा न हो कि उसमें पुनः अशुद्धि घुस सके ।

इसके लिये कर्त्तव्य-कर्मों का विवेक तो अवश्य करना पड़ेगा । उदाहरणार्थ अपकर्म नहीं करने चाहिये, कर्त्तव्य रूप कर्म तो करने ही चाहिये, अकर्त्तव्य कर्म छोड़ने ही चाहिये । चित्तशुद्धि में सहायक सिद्ध होने वाले दान, तप और भक्ति के कर्म करने चाहिये इत्यादि । इसी तरह कर्म करने की रीति में भी विवेक करना पड़ेगा । जैसे ज्ञानपूर्वक कर्म करना, सावधानीपूर्वक करना, सत्य, अहिंसा आदि नियमों का पालन करते हुए करना, निष्काम भाव से अथवा अनासक्ति भाव से करना इत्यादि । परन्तु यह कल्पना गलत है कि कर्मों से परावृत्ति होने पर कर्मक्षय होता है । कर्त्तव्य रूप कर्म से परावृत्त होने की अपेक्षा कदाचित् सकाम भाव से अथवा आसक्ति भाव से किये हुए सत्कर्मों से अधिक कर्म-बंधन होने की पूरी सम्भावना है ।



प्रत्येक कर्त्तव्य-कर्म का सम्बन्ध वर्तमान से है। अतः भविष्य में जो कुछ करना है, उसका चिन्तन तभी तक होता है, जब तक मानव कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं होता और विश्राम में जीवन है—इसमें आस्था नहीं होती। चिन्तन से उसकी प्राप्ति नहीं होती जो कर्म सापेक्ष है। अर्थात् उत्पन्न हुई वस्तुओं की प्राप्ति कर्म सापेक्ष है, चिन्तन-साध्य नहीं। इस दृष्टि से वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि का चिन्तन व्यर्थ चिन्तन ही है। अब यदि कोई यह कहे कि आत्मा, परमात्मा का तो चिन्तन करना होगा। अनास्था का आश्रय लिये बिना क्या कोई भी मानव किसी प्रकार का चिन्तन कर सकता है? कदापि नहीं। अनात्मा से असंग होने पर आत्म साक्षात्कार तथा आत्मरति होती है, चिन्तन से नहीं। असंगता अनुभव सिद्ध है, चिन्तन साध्य नहीं। अतः आत्म-चिन्तन अनात्मा का तादात्म्य ही है और कुछ नहीं। परमात्मा से देश-काल की दूरी नहीं है। जो सभी का है, सदैव है, सर्वत्र है और सर्व है, उसकी आत्मीयता ही उससे अभिन्न कर सकती है, कारण कि आत्मीयता अगाध-प्रियता की जननी है। प्रियता-दूरी, भेद-भिन्नता को रहने नहीं देती, अर्थात् मानव को योग, बोध, प्रेम से अभिन्न करती है।

आत्मीयता आस्था, श्रद्धा, विश्वास से ही साध्य है, किसी अन्य प्रकार से नहीं। आस्था, श्रद्धा, विश्वास की पुनरावृत्ति नहीं करनी पड़ती, अपितु अपने ही द्वारा स्वीकृत होती है। इन्द्रिय तथा बुद्धि दृष्टि से जिसकी प्रतीति होती है, उससे असंग होना और सुने हुए आत्मा व परमात्मा में अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास करना सत्संग है, अभ्यास नहीं। अभ्यास के लिये किसी 'पर' की अपेक्षा होती है और सत्संग अपने ही द्वारा साध्य है। इस दृष्टि से सत्संग स्वधर्म तथा प्रत्येक अभ्यास शरीर धर्म ही है। स्वधर्म अपने लिये तथा शरीर धर्म पर के लिये उपयोगी है। योग, बोध तथा प्रेम की अभिव्यक्ति स्वधर्म अर्थात् सत्संग से ही साध्य है। प्रत्येक कर्त्तव्य-कर्म के आदि और अन्त में सत्संग का शुभावसर है। सत्संग के बिना कर्त्तव्य की, निज स्वरूप की एवं प्रभु की विस्मृति नाश नहीं होती। कर्त्तव्य की विस्मृति में ही अकर्त्तव्य की उत्पत्ति और निज स्वरूप की विस्मृति में ही देहाभिमान की उत्पत्ति होती है, जो विनाश का मूल है। स्मृति

अपने में अपने आप जागृत होती है, उसके लिये किसी कारण की अपेक्षा नहीं है। स्मृति में ही प्रीति, बोध तथा प्राप्ति निहित है। जिस प्रकार काष्ठ में अभिव्यक्त हुई अग्नि काष्ठ को भस्मीभूत कर देती है, उसी प्रकार अपने में ही जागृत स्मृति समस्त दोषों को भस्मीभूत कर देती है।

अखण्ड स्मृति किसी श्रमसाध्य उपाय से साध्य नहीं है, अपितु विश्राम अर्थात् सत्संग से ही साध्य है। अविनाशी का संग किसी उत्पन्न हुई वस्तु के आश्रय से नहीं होता, ममता, कामना एवं तादात्म्य के नाश से ही होता है, जो अपने ही द्वारा अपने से साध्य है।

जो उत्पत्ति विनाशयुक्त है, उसका आश्रय अनुत्पन्न अविनाशी तत्त्व ही है। अविनाशी की मांग मानव मात्र में स्वभाव सिद्ध है और विनाशी की ममता, कामना, भूल जनित है। भूल का नाश होने से ममता, कामना आदि का नाश हो जाता है। फिर स्वाभाविक मांग की पूर्ति स्वतः हो जाती है, उसके लिये कुछ करना नहीं पड़ता।

मांग की जागृति से, ममता तथा कामना के नाश से मांग की पूर्ति होती है, इस दृष्टि से वास्तविक मांग की पूर्ति और ममता, कामना आदि की निवृत्ति अनिवार्य है। इस ध्रुव सत्य में अविचल आस्था करने से सत्संग बड़ी ही सुगमतापूर्वक हो सकता है।

क्रियाजनित सुख का प्रलोभन देहाभिमान, अर्थात् असत् के संग को पोषित करता है। असत् का संग रहते हुए किसी भी मानव को वास्तविक जीवन की उपलब्धि नहीं हो सकती। इस दृष्टि से असत् का त्याग तथा सत् का संग अनिवार्य है। यह नियम है कि जो मानव मात्र के लिये अनिवार्य है, उसकी प्राप्ति में पराधीनता तथा असमर्थता नहीं है। यह वैधानिक तथ्य है। अतः सत्संग मानव मात्र के लिये सुलभ है। उससे निराश होना भूल है। उसके लिये नित नव-उत्साह बनाये रखना अत्यन्त आवश्यक है। उत्साह मानव को सजगता तथा तत्परता प्रदान करता है। उत्साहहीन जीवन निराशा की ओर ले जाता है, जो अवनति का मूल है। जिसकी प्राप्ति में निराशा की गन्ध भी नहीं है उनके लिये उत्साह सुरक्षित रखना सहज तथा स्वाभाविक है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव सत्संग को अपना जन्मसिद्ध अधिकार स्वीकार करता है, कारण कि सत्संग के बिना काम की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति एवं प्रेम की जागृति सम्भव नहीं है। काम की निवृत्ति में ही नित्य योग एवं जिज्ञासा की पूर्ति में ही तत्त्व साक्षात्कार तथा प्रेम की जागृति में अनन्त रस की अभिव्यक्ति निहित है जो मानव मात्र की अन्तिम मांग है। क्रियाजनित सुख भोग में पराधीनता, असमर्थता एवं अभाव निहित है जो किसी भी मानव

को अभीष्ट नहीं है। इतना ही नहीं, समस्त कर्म, मान और भोग में हेतु हैं। मान और भोग की रुचि देहातीत जीवन से अभिन्न नहीं होने देती। देह युक्त जीवन में स्थायित्व नहीं है, यह प्रत्येक मानव का निज अनुभव है। स्थायित्व सहित जीवन वास्तविक जीवन की मांग है, और कुछ नहीं, अर्थात् मानव का अस्तित्व मांग है, जिसकी पूर्ति अनिवार्य है। असत् के संग से उत्पन्न हुई कामनाएँ मानव को वास्तविक मांग से विमुक्त करती हैं और सत्संग से मांग की पूर्ति होती है।

कर्म का सम्बन्ध 'पर' के प्रति है, 'स्व' के प्रति नहीं। अपने से भिन्न जो कुछ है, वही 'पर' है। जिसे 'यह' करके सम्बोधन करते हैं वह अपने से भिन्न है। इस कारण शरीर तथा समस्त सृष्टि 'पर' के अर्थ में हो जाती है। शरीर और सृष्टि के प्रति ही कर्म की अपेक्षा है, वह कर्म जो शरीर तथा सृष्टि के लिये अहितकर है, उसका करना असत् का संग है। अहितकर कर्म का त्याग सत् का संग है, अर्थात् जो नहीं करना चाहिये उसका करना असत् का संग और उसका न करना सत् का संग है। कर्म विज्ञान की दृष्टि से जो नहीं करना चाहिये, उसके न करने में ही जो करना चाहिये वह स्वतः होने लगता है। इस दृष्टि से जो करना चाहिये वह स्वतः होगा, पर जो नहीं करना चाहिये उसका त्याग अनिवार्य है। सत्संग त्याग से ही साध्य है। त्याग सहज तथा स्वाभाविक तथ्य है। जैसे कुछ भी करने से पूर्व न करना स्वतःसिद्ध है और करने के अन्त में भी न करना ही है। जो आदि और अन्त में है, उसे अपना लेना सत्संग है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि अकर्मण्यता तथा आलस्य का मानव जीवन में कोई स्थान है। अकर्मण्यता तथा आलस्य तो सर्वथा त्याज्य है। स्व के प्रति करने की बात ही नहीं, परहित में ही कर्म का स्थान है। प्रत्येक प्रवृत्ति सर्व हितकारी सद्भावना से ही आरम्भ हो। प्रवृत्ति के द्वारा अपने को कुछ भी नहीं पाना है, यह अनुभव हो जाने पर ही कर्म-विज्ञान की पूर्णता होती है। कर्म विज्ञान वह विज्ञान है जो मानव को क्रियाजनित सुख लोलुपता से रहित करने में समर्थ है। क्रियाजनित सुख लोलुपता का अन्त होते ही योग-विज्ञान का आरम्भ होता है जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है। योग की अभिव्यक्ति के लिये किसी प्रकार की प्रवृत्ति अपेक्षित नहीं है अपितु मूक-सत्संग ही अपेक्षित है।

मूक-सत्संग का अर्थ कोई श्रमयुक्त मानसिक साधन नहीं है, अपितु अहंकृति-रहित विश्राम है। कुछ न करने का संकल्प भी श्रम है। कर्त्तव्य के अन्त में अपने आप आने वाला विश्राम मूक सत्संग है। विश्राम काल में ही सार्थक तथा निरर्थक चिन्तन की अभिव्यक्ति तथा उत्पत्ति होती है। सार्थक चिन्तन का अर्थ है अखण्ड स्मृति और निरर्थक चिन्तन का अर्थ है भुक्त-अभुक्त का प्रभाव। भुक्त-अभुक्त के प्रभाव की प्रतीति को ही व्यर्थ चिन्तन, मानसिक

चंचलता आदि कहते हैं जो किसी को भी अभीष्ट नहीं है। प्राकृतिक नियमानुसार भुक्त-अभुक्त के प्रभाव की प्रतीति यद्यपि मानव के विकास में हेतु है, परन्तु उसके वास्तविक रहस्य को न जानने के कारण हम अपने आप होने वाले चिन्तन को किसी अन्य चिन्तन के द्वारा मिटाने का प्रयास करते हैं और यह भूल जाते हैं कि किये हुए का तथा करने की रुचि का परिणाम ही तो व्यर्थ चिन्तन है। जिस कारण से व्यर्थ चिन्तन उत्पन्न हुआ है, उसका नाश न करना और उसी के द्वारा व्यर्थ चिन्तन मिटाने का प्रयास करना व्यर्थ चिन्तन को ही पोषित करना है।

व्यर्थ चिन्तन की उत्पत्ति मानव को यह बोध कराती है कि भूतकाल में क्या कर चुके हो और भविष्य में क्या करना चाहते हो। जो कर चुके हो उसका परिणाम क्या है? जो करना चाहते हो उसका परिणाम क्या होगा, इस पर विचार करने का सुअवसर व्यर्थ चिन्तन के होने से ही मिलता है। व्यर्थ चिन्तन का सदुपयोग न करना और उसको बलपूर्वक किसी क्रिया-विशेष से मिटाने का प्रयास करना अपने ही द्वारा अपना विनाश करना है। ज्यों-ज्यों व्यर्थ चिन्तन मिटाने के लिये किसी क्रिया विशेष को अपनाते हैं, त्यों-त्यों व्यर्थ चिन्तन सबल तथा स्थायी होता जाता है। किये हुए के परिणाम को किसी कर्म के द्वारा मिटाने का प्रयास सर्वथा व्यर्थ ही सिद्ध होता है अर्थात् व्यर्थ चिन्तन नाश नहीं होता। व्यर्थ-चिन्तन का अन्त करने के लिये क्रिया-जनित सुख लोलुपता का सर्वांश में त्याग करना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा जब मूक-सत्संग के द्वारा शान्ति की अभिव्यक्ति, विचार का उदय एवं अखण्ड स्मृति जागृत हो जाय। शान्ति में योग, विचार में बोध एवं अखण्ड स्मृति में अगाध रस निहित है। क्रिया-जनित सुख-लोलुपता की दासता का नाश रस की अभिव्यक्ति होने पर ही होता है। सुख-लोलुपता मानव को सदैव पराधीनता, जड़ता एवं अभाव में ही आबद्ध करती है। किन्तु रस की अभिव्यक्ति में पराधीनता, जड़ता, अभाव आदि की गन्ध भी नहीं है। इतना ही नहीं, पराधीनता से ही क्रिया-जनित सुख उत्पन्न होता है। जब मानव को पराधीनता असह्य हो जाती है तब वह बड़ी ही सुगमता एवं स्वाधीनतापूर्वक सत्संग करने में तत्पर होता है। यह कैसा आश्चर्य है? जिसकी उपलब्धि स्वाधीनतापूर्वक होती है उससे विमुक्त होना और जिसमें पराधीनता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, उसके लिये प्रयास करना, क्या अपने ही द्वारा अपने विनाश का आह्वान नहीं है?

सत्संग की भूख जागृत होते ही सत्संग अत्यन्त मुलभ हो जाता है। उससे निराश होना भूल है। जो मौजूद है उसका संग न करना और जो नहीं है उसके पीछे दौड़ने का प्रयास करना क्या प्राप्त सामर्थ्य का दुर्व्यय नहीं है? अर्थात् अवश्य है।

यह अनुभव सिद्ध है कि प्रतीति की ओर प्रवृत्ति भले ही हो, किन्तु परिणाम में प्राप्ति कुछ नहीं है। प्रवृत्ति के अन्त में अपने आप आने वाली निवृत्ति ही मूक सत्संग है। उस निवृत्ति को सुरक्षित रखना अनिवार्य है। यह तभी सम्भव होगा जब “अपने लिये कुछ भी करना नहीं है, अपितु सेवा, त्याग, प्रेम में ही जीवन है”—इसमें किसी प्रकार का विकल्प न हो।

प्रवृत्ति का आकर्षण पराधीनता को जन्म देता है। प्रवृत्तियों का उद्गम देहाभिमान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। देहाभिमान की उत्पत्ति भूलजनित है, जिसकी निवृत्ति मूक-सत्संग से ही साध्य है।




---

आप आप कै करम सून, आपे निरमल होय ।

आपां नै निरमल करै, और न दूजो कोय ॥

आपे ही खोटा करै, आपे मैलो होय ।

खोटी करणी छूटतां, आपे उजली होय ॥

तीन बात बन्धन बन्ध्या, राग, द्वेष, अभिमान ।

तीन बात बन्धन खुल्या, शील, समाधि, ज्ञान ॥

जब तक मन में मोह है, राग-द्वेष भरपूर ।

तब तक मन संतप्त है, शान्ति बहुत ही दूर ॥

जब तक मन में राग है, जब तक मन में द्वेष ।

तब तक दुःख ही दुःख है, मिटें न मन के क्लेश ॥

जितना गहरा राग है, उतना गहरा द्वेष ।

जितना गहरा द्वेष है, उतना गहरा क्लेश ॥

क्रोध क्षोभ का मूल है, शान्ति-शान्ति की खान ।

क्रोध छोड़ धारे क्षमा, होय अमित कल्याण ॥

राग जिसो ना रोग है, द्वेष जिसो ना दोष ।

मोह जिसी ना मूढ़ता, धरम जिसो ना होस ॥

—सत्यनारायण गोयनका

---

□ लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक

कर्म चाहे भला हो या बुरा, परन्तु उसका फल भोगने के लिये मनुष्य को एक न एक जन्म लेकर हमेशा तैयार रहना चाहिये। कर्म अनादि है, और उसके अखण्ड व्यापार में परमेश्वर भी हस्तक्षेप नहीं करता। सब कर्मों को छोड़ देना संभव नहीं है, और मीमांसकों के कथनानुसार कुछ कर्मों को करने से और कुछ कर्मों को छोड़ देने से भी कर्मबन्धन से छूटकारा नहीं मिल सकता—इत्यादि बातों के सिद्ध हो जाने पर यह पहला प्रश्न फिर भी उत्पन्न होता है कि कर्मात्मक नाम रूप के विनाशी चक्र से छूट जाने एवं उसके मूल में रहने वाले अमृत तथा अविनाशी तत्त्व में मिल जाने की मनुष्य को जो स्वाभाविक इच्छा होती है, उसकी तृप्ति करने का कौनसा मार्ग है? वेद और स्मृति ग्रन्थों में यज्ञयाग आदि पारलौकिक कल्याण के अनेक साधनों का वर्णन है, परन्तु मोक्षशास्त्र की दृष्टि से ये सब कनिष्ठ श्रेणी के हैं। क्योंकि यज्ञयाग आदि पुण्यकर्मों के द्वारा स्वर्ग प्राप्ति हो जाती है, परन्तु जब उन पुण्य-कर्मों के फलों का अन्त हो जाता है तब चाहे दीर्घकाल में ही क्यों न हो—कभी न कभी इस कर्मभूमि में फिर लौट कर आना ही पड़ता है।<sup>१</sup> इससे स्पष्ट हो जाता है कि कर्म के पंजे से बिल्कुल छूटकर अमृतत्व में मिल जाने का और जन्म-मरण की भ्रंश को सदा के लिए दूर कर देने का यह सच्चा मार्ग नहीं है। इस भ्रंश को सदा के लिए दूर करने का अर्थात् मोक्ष प्राप्ति का अध्यात्म शास्त्र के कथनानुसार “ज्ञान” ही एक सच्चा मार्ग है। “ज्ञान” शब्द का अर्थ व्यवहार ज्ञान या नाम रूपात्मक सृष्टि-शास्त्र का ज्ञान नहीं है, किन्तु यहाँ उसका अर्थ ब्रह्मात्मिक ज्ञान है। इसी को “विद्या” भी कहते हैं। “कर्मणा बध्यते जन्तुः विद्यया तु प्रमुच्यते”—कर्म से ही प्राणी बांधा जाता है, और विद्या से उसका छूटकारा होता है—यह जो वचन दिया गया है, उसमें “विद्या” का अर्थ “ज्ञान” ही विवक्षित है। गीता में भगवान ने अर्जुन से कहा है कि—‘ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते अर्जुन।’ अर्थात् ज्ञान रूप अग्नि से सब कर्म भस्म हो जाते हैं [गीता ४, ३७]। और ‘महाभारत’ में भी कहा गया है कि—

बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः  
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा सम्यद्यते पुनः ॥<sup>२</sup>

१—महाभारत, वनपर्व २५६-६०, गीता ८.२५, ९.२०

२—महाभारत, वनपर्व १८६-१०६-७।

अर्थात् भुना हुआ वीज जैसे उग नहीं सकता, वैसे ही जब ज्ञान से (कर्म के) क्लेश दग्ध हो जाते हैं, तब वे आत्मा को पुनः प्राप्त नहीं होते। उपनिषदों में भी इसी प्रकार ज्ञान की महत्ता बतलाने वाले अनेक वचन हैं जैसे—“य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति।”<sup>१</sup> जो यह जानता है कि मैं ही ब्रह्म हूँ, वही अमृत ब्रह्म होता है। जिस प्रकार कमल पत्र में पानी चिपक नहीं सकता, उसी प्रकार जिसे ब्रह्मज्ञान हो गया है, उसे कर्म दूषित नहीं कर सकते।<sup>२</sup> ब्रह्म जानने वाले को मोक्ष मिलता है। जिसे यह मालूम हो चुका है कि सब कुछ आत्ममय है, उसे पाप नहीं लग सकता। ‘ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः’<sup>३</sup> परमेश्वर का ज्ञान होने पर सब पापों से मुक्त हो जाता है। “क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्हृष्टे परावरे” (मु. २.२.८) परब्रह्म का ज्ञान होने पर सब कर्मों का क्षय हो जाता है। ‘विद्ययामृतमश्नुते’<sup>४</sup> विद्या से अमृतत्व मिलता है। “तमेव विदित्वावृत्ति-मुत्पुमेति नान्यःपन्था विद्यतेऽयनाय” (श्वे. ३.८) परमेश्वर को जान लेने से अमरत्व मिलता है, इसको छोड़ मोक्ष प्राप्ति का दूसरा मार्ग नहीं है और शास्त्र दृष्टि से विचार करने पर भी यही सिद्धान्त दृढ़ होता है। क्योंकि दृश्य सृष्टि में जो कुछ है, वह सब यद्यपि कर्ममय है, तथापि इस सृष्टि के आधारभूत परब्रह्म की ही वह सब लीला है, इसलिए यह स्पष्ट है कि कोई भी कर्म परब्रह्म को बाधा नहीं दे सकते—अर्थात् सब कर्मों को करके भी परब्रह्म अलिप्त ही रहता है।

अध्यात्मशास्त्र के अनुसार इस संसार के सब पदार्थों के कर्म (माया) और ब्रह्म, ये दो ही वर्ग होते हैं। इससे यही प्रकट होता है कि इनमें से किसी एक वर्ग से अर्थात् कर्म से छुटकारा पाने की इच्छा हो तो मनुष्य को दूसरे वर्ग में अर्थात् ब्रह्म स्वरूप में प्रवेश करना चाहिये। इसके सिवा और कोई दूसरा मार्ग नहीं है। क्योंकि जब सब पदार्थों के केवल दो ही वर्ग होते हैं, तब कर्म से मुक्त अवस्था सिवा ब्रह्म स्वरूप के और कोई शेष नहीं रह जाती। परन्तु ब्रह्म स्वरूप की इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए स्पष्ट रूप से यह जान लेना चाहिये कि ब्रह्म का स्वरूप क्या है? नहीं तो करने चलेंगे एक और होगा कुछ दूसरा ही। ‘विनायकं प्रकुर्वाणो रक्षयामास वानरम्’ मूर्ति तो गणेश की बनानी थी, परन्तु (वह न बन कर) बन गई बंदर की। ठीक यही दशा होगी। इसलिए अध्यात्मशास्त्र के युक्तिवाद से भी यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म स्वरूप का ज्ञान (अर्थात् ब्रह्मात्मैक्य का तथा ब्रह्म की अलिप्तता का ज्ञान) प्राप्त करके उसे मृत्युपर्यन्त स्थिर रखना ही कर्मपाश से मुक्त होने का सच्चा मार्ग है। गीता में

१—बृहदारण्यकोपनिषद् १.४.१०

२—छान्दोग्योपनिषद् ४.१४.३

३—श्वेताश्वतरोपनिषद् ५.१३, ६.१३

४—ईशावास्योपनिषद् ११



भगवान ने भी यही कहा है कि कर्मों में मेरी कुछ भी आसक्ति नहीं है, इसलिए मुझे कर्म की बाधा नहीं होती और जो इस तत्त्व को समझ जाता है वह कर्मपाश से मुक्त हो जाता है।<sup>१</sup>

स्मरण रहे कि यहाँ 'ज्ञान' का अर्थ केवल शाब्दिक ज्ञान या केवल मानसिक क्रिया नहीं है, किन्तु वेदान्त सूत्र के शांकरभाष्य के आरम्भ ही में कहे अनुसार हर समय और प्रत्येक स्थान में उसका अर्थ "पहले मानसिक ज्ञान होने पर और फिर इन्द्रियों पर जय प्राप्त कर लेने पर ब्रह्मीभूत होने की अवस्था या ब्राह्मी स्थिति ही है।" महाभारत में भी जनक ने सुलभा से कहा है कि "ज्ञानेन कुरुते यत्नं, यत्नेन प्राप्यते महत्"<sup>२</sup> ज्ञान अर्थात् मानसिक क्रिया रूपी ज्ञान हो जाने पर मनुष्य यत्न करता है, और यत्न के इस मार्ग से ही अन्त में उसे महत्त्व (परमेश्वर) प्राप्त हो जाता है। अध्यात्मशास्त्र इतना ही बतला सकता है कि मोक्ष प्राप्ति के लिए किस मार्ग से और कहाँ जाना चाहिए। इससे अधिक वह और कुछ नहीं बतला सकता। शास्त्र से ये बातें जानकर प्रत्येक मनुष्य को शास्त्रोक्त मार्ग पर स्वयं ही चलना चाहिए और उस मार्ग में जो कांटे या बाधाएँ हों, उन्हें निकालकर अपना रास्ता खुद साफ कर लेना चाहिये एवं उसी मार्ग पर चलते हुए स्वयं अपने प्रयत्न से ही अन्त में ध्येयवस्तु की प्राप्ति कर लेनी चाहिए। परन्तु यह प्रयत्न भी पातञ्जलयोग, अध्यात्मविचार, भक्ति, कर्मफल त्याग इत्यादि अनेक प्रकार से किया जा सकता है और इस कारण मनुष्य बहुधा उलझन में फँस जाता है। इसलिए गीता में पहले निष्काम कर्मयोग का मुख्य मार्ग बतलाया गया है, और उसकी सिद्धि के लिए छठे अध्याय में यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-ध्यान-समाधि रूप अंगभूत साधनों का भी वर्णन किया गया है तथा सातवें अध्याय से आगे यह बतलाया है कि कर्मयोग का आचरण करते रहने से ही परमेश्वर का ज्ञान अध्यात्म विचार द्वारा अथवा (इससे भी सुलभ रीति से) भक्ति मार्ग द्वारा हो जाता है।<sup>३</sup>

कर्मबंध से छुटकारा पाने के लिए कर्म छोड़ देना कोई उचित मार्ग नहीं है किन्तु ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान से बुद्धि को शुद्ध रखकर परमेश्वर के समान आचरण करते रहने से ही अन्त में मोक्ष मिलता है। कर्म को छोड़ देना भ्रम है, क्योंकि कर्म किसी से छूट नहीं सकता—इत्यादि बातें यद्यपि अब निर्विवाद सिद्ध हो गई हैं, तथापि यह पहला प्रश्न फिर भी उठता है, कि इस मार्ग में सफलता पाने के लिए आवश्यक ज्ञान प्राप्ति का जो प्रयत्न करना पड़ता है, वह मनुष्य के वश की बात है? अथवा नाम रूप कर्मात्मक प्रकृति जिधर खींचे, उधर ही उसे चले जाना चाहिए? गीता में भगवान कहते हैं कि "प्रकृति यान्ति भूतानि निग्रहः

१—गीता ४.१४

२—शांडिल्य सूत्र ३२०.३०

३—गीता १८.५६

किं करिष्यति ।” (गीता ३, ३३) निग्रह से क्या होगा, प्राणिमात्र अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार ही चलते हैं । “मिध्येष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति” तेरा निश्चय व्यर्थ है । जिधर तू न चाहेगा, उधर तेरी प्रकृति तुझे खींच लेगी । (गीता १८, ५६, २, ६०) और मनुजी कहते हैं कि “बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति” (मनु २.२१५) विद्वानों को भी इन्द्रियाँ अपने वश में कर लेती हैं । कर्म-विपाक प्रक्रिया का भी निष्कर्ष यही है । क्योंकि जब ऐसा मान लिया जाय कि मनुष्य के मन की सब प्रेरणाएँ पूर्व कर्मों से ही उत्पन्न होती हैं, तब तो यही अनुमान करना पड़ता है कि उसे एक कर्म से दूसरे कर्म में अर्थात् सदैव भव चक्र में ही रहना चाहिए । अधिक क्या कहें ? कर्म से छुटकारा पाने की प्रेरणा और कर्म, दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं । और यदि यह सत्य है तो यह आपत्ति आ पड़ती है कि ज्ञान प्राप्त करने के लिए कोई भी मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है ।

इस विषय का विचार अध्यात्मशास्त्र में इस प्रकार किया गया है कि नाम रूपात्मक सारी दृश्य सृष्टि का आधारभूत जो तत्त्व है वही मनुष्य की जड़ देह में भी आत्म रूप से निवास करता है, इससे मनुष्य के कृत्यों का विचार देह और आत्मा, दोनों की दृष्टि से करना चाहिए । इनमें से आत्मस्वरूपी ब्रह्म मूल में केवल एक ही होने के कारण कभी भी परतन्त्र नहीं हो सकता । क्योंकि किसी एक वस्तु को दूसरे की अधीनता में होने के लिए एक से अधिक कम-से-कम दो वस्तुओं का होना नितान्त आवश्यक है । यहाँ नाम-रूपात्मक कर्म ही वह दूसरी वस्तु है । परन्तु यह कर्म अनित्य है । और मूल में वह परब्रह्म की ही लीला है, जिससे निर्विवाद सिद्ध होता है कि यद्यपि उसने परब्रह्म के एक अंश को आच्छादित कर लिया है, तथापि वह परब्रह्म को अपना दास कभी भी बना नहीं सकता । इसके अतिरिक्त यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि जो आत्मा कर्म सृष्टि के व्यापारों का एकीकरण करके सृष्टिज्ञान उत्पन्न करता है, उसे कर्म सृष्टि से भिन्न अर्थात् ब्रह्मसृष्टि का ही होना चाहिए । इससे सिद्ध होता है कि परब्रह्म और वस्तुतः उसी का अंश जो शारीर आत्मा, दोनों मूलतः स्वतन्त्र अर्थात् कर्मात्मक प्रकृति की सत्ता से मुक्त हैं । इनमें से परमात्मा के विषय में मनुष्य को इससे अधिक ज्ञान नहीं हो सकता कि वह अनन्त, सर्वव्यापी, नित्य शुद्ध और मुक्त है । परन्तु इस परमात्मा ही के अंशरूप जीवात्मा की बात भिन्न है । यद्यपि वह मूल में शुद्ध, मुक्त स्वभाव, निर्गुण तथा अकर्ता है, तथापि शरीर और बुद्धि आदि इन्द्रियों के बंधन में फंसा होने के कारण वह मनुष्य के मन में जो स्फूर्ति उत्पन्न करता है, उसका प्रत्यक्षानुभव रूपी ज्ञान हमें हो सकता है । भाप का उदाहरण लीजिये । जब वह खुली जगह में रहती है तब उसका कुछ बल नहीं होता, परन्तु जब वह किसी बर्तन में बन्द कर दी जाती है तब उसका दबाव उसी बर्तन पर जोर से होता हुआ दीख पड़ने लगता है । ठीक इसी तरह जब

परमात्मा का ही अंशभूत जीव (गीता १५.७) अनादि पूर्व कर्माजित जड़ देह तथा इन्द्रियों के बंधनों से बद्ध हो जाता है, तब इस बद्धावस्था से उसको मुक्त करने के लिये (अर्थात् मोक्षानुकूल) कर्म करने की प्रवृत्ति देहेन्द्रियों में होने लगती है और इसीको व्यावहारिक दृष्टि से 'आत्मा की स्वतन्त्र प्रवृत्ति' कहते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से कहने का कारण यह है कि शुद्ध मुक्तावस्था में या तात्त्विक दृष्टि से आत्मा इच्छारहित तथा अकर्ता है और सब कर्तृत्व केवल प्रकृति का है (गीता १३.२६) परन्तु वेदान्ती लोग सांख्यमत की भांति यह नहीं मानते कि प्रकृति ही स्वयं मोक्षानुकूल कर्म किया करती है, क्योंकि ऐसा मान लेने से यह कहना पड़ेगा कि जड़ प्रकृति अपने अंधेपन से अज्ञानियों को भी मुक्त नहीं कर सकती है और यह भी नहीं कहा जा सकता कि जो आत्मा मूल ही में अकर्ता है, वह स्वतन्त्र रीति से—अर्थात् बिना किसी निमित्त के अपने नैसर्गिक गुणों से ही प्रवर्तक हो जाता है। इसलिए आत्म-स्वातन्त्र्य के उक्त सिद्धान्त को वेदान्तशास्त्र में इस प्रकार बतलाना पड़ता है कि आत्मा यद्यपि मूल में अकर्ता है तथापि बंधनों के निमित्त से वह उतने ही के लिए दिखाऊ प्रेरक बन जाता है और जब वह आगन्तुक प्रेरकता उसमें एक बार किसी भी निमित्त से आ जाती है तब वह कर्म के नियमों से भिन्न अर्थात् स्वतन्त्र ही रहती है। 'स्वतन्त्र' का अर्थ निनिमित्तक नहीं है, और आत्मा अपनी मूल शुद्धावस्था में कर्ता भी नहीं रहता। परन्तु बार-बार इस लम्बी-चौड़ी कर्मकथा को बतलाते न रहकर इसी को संक्षेप में आत्मा की स्वतन्त्र प्रवृत्ति या प्रेरणा कहने की परिपाटी हो गई है। बन्धन में पड़ने के कारण आत्मा के द्वारा इन्द्रियों को मिलने वाली इस स्वतन्त्र प्रेरणा में और बाह्य सृष्टि के पदार्थों के संयोग से इन्द्रियों में उत्पन्न होने वाली प्रेरणा में बहुत भिन्नता है। खाना-पीना, चैन करना—ये सब इन्द्रियों की प्रेरणाएँ हैं और आत्मा की प्रेरणा मोक्षानुकूल कर्म करने के लिए हुआ करती है। पहली प्रेरणा केवल बाह्य अर्थात् कर्म सृष्टि की है। परन्तु दूसरी प्रेरणा आत्मा की अर्थात् ब्रह्म सृष्टि की है। और ये दोनों प्रेरणाएँ प्रायः परस्पर विरोधी हैं, जिससे इनके भगड़े में ही मनुष्य की सब आयु बीत जाती है। इनके भगड़े के समय जब मन में संदेह उत्पन्न होता है तब कर्म सृष्टि की प्रेरणा को न मानकर<sup>१</sup> यदि मनुष्य शुद्धात्मा की स्वतन्त्र प्रेरणा के अनुसार चलने लगे—और इसी को सच्चा आत्म-ज्ञान या आत्म निष्ठा कहते हैं—तो इसके सब व्यवहार स्वभावतः मोक्षानुकूल ही होंगे।

और अन्त में—विशुद्ध धर्मा शुद्धेन बुद्धे न च स बुद्धिमान् ।

विमलात्मा च भवति समेत्य विमलात्मना ।

स्वतंत्रश्च स्वतन्त्रेण स्वतंत्रत्वमवाप्नुते ।<sup>२</sup>

१—श्रीमद्भागवत पुराण ११.१०.४

२—महाभारत, शांति पर्व ३०८, २७-३०

“यह जीवात्मा या शरीर आत्मा—जो मूल में स्वतन्त्र है—ऐसे परमात्मा में मिल जाता है, जो नित्य, शुद्ध, बुद्ध और स्वतन्त्र है।” ऊपर जो कहा गया है कि ज्ञान से मोक्ष मिलता है उसका यही अर्थ है। इसके विपरीत जब जड़ देहेंद्रियों के प्राकृत धर्म की अर्थात् कर्मसृष्टि की प्रेरणा की—प्रबलता हो जाती है तब मनुष्य की अधोगति होती है। शरीर में बन्धे हुए जीवात्मा में, देहेंद्रियों में मोक्षानुकूल कर्म करने की तथा ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान से मोक्ष प्राप्त कर लेने की, जो यह स्वतन्त्र शक्ति है, उसकी ओर ध्यान देकर ही भगवान् ने अर्जुन को आत्म स्वातन्त्र्य अर्थात् स्वावलम्बन के तत्त्व का उपदेश किया है कि :—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।

आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥’

“मनुष्य को चाहिये कि वह अपना उद्धार आप ही करे। निराशा से वह अपनी अवनति आप ही न करे। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपना बंधु (हितकारी) है, और स्वयं अपना शत्रु (नाशकर्ता) है और इस हेतु से योगवासिष्ठ में (यो. २ सर्ग ४-८) देव का निराकरण करके पौरुष के महत्त्व का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। जो मनुष्य इस तत्त्व को पहचान कर आचरण किया करता है कि सब प्राणियों में एक ही आत्मा है, उसके इसी आचरण को सदाचरण या मोक्षानुकूल आचरण कहते हैं और बद्ध जीवात्मा का भी यही स्वतन्त्र धर्म है कि ऐसे आचरण की ओर देहेंद्रियों को प्रवृत्त किया करे। इसी धर्म के कारण दुराचारी मनुष्य का अन्तःकरण भी सदाचरण ही का पक्ष लिया करता है, जिससे उसे अपने किए हुए दुष्कर्मों का पश्चात्ताप होता है। आधिदैवत पक्ष के पंडित इसे सदसद्विवेक-बुद्धिरूपी देवता की स्वतन्त्र स्फूर्ति कहते हैं। परन्तु तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर विदित होता है कि बुद्धीन्द्रिय जड़ प्रकृति ही का विकार होने के कारण स्वयं अपनी ही प्रेरणा कर्म के नियम-बंधनों से मुक्त नहीं हो सकती, यह प्रेरणा उसे कर्म सृष्टि के बाहर के आत्मा से प्राप्त होती है। इसी प्रकार पश्चिमी षंडितों का “इच्छा स्वातन्त्र्य” शब्द भी वेदान्त की दृष्टि से ठीक नहीं है। क्योंकि इच्छा मन का धर्म है और बुद्धि तथा उसके साथ-साथ मन भी कर्मात्मक जड़ प्रकृति के अस्वयंवैद्य विकार हैं। इसलिए ये दोनों स्वयं ही कर्म के बन्धन से छूट नहीं सकते। अतएव वेदान्तशास्त्र का निश्चय है कि सच्चा स्वातन्त्र्य न तो बुद्धि का है और न मन का—वह केवल आत्मा का है। यह स्वातन्त्र्य न तो कोई आत्मा को देता है और न कोई उससे इसे छीन भी सकता है—स्वतन्त्र परमात्मा का अंश रूप जीवात्मा जब उपाधि के बन्धन में पड़ जाता है, तब वह स्वयं स्वतन्त्र रीति से, ऊपर कहे अनुसार बुद्धि तथा मन में प्रेरणा किया करता है। अन्तःकरण की इस प्रेरणा का अनादर करके यदि कोई बर्ताव करेगा तो तुकाराम महाराज के शब्दों में यही कहा

जा सकता है कि वह “स्वयं अपने ही पैरों में आप कुल्हाड़ी मारने को तैयार हुआ है” (तु. गा. ४४४८) भगवद्गीता में इसी तत्त्व का उल्लेख यों किया गया है। “न हिनस्त्यात्मनःस्मानाम्” जो स्वयं अपना घात आप ही नहीं करता, उसे उत्तम गति मिलती है।<sup>१</sup> यद्यपि मनुष्य कर्मसृष्टि के अभेद्य दिखाई देने वाले नियमों में जकड़ कर बन्धा हुआ है तथापि स्वभावतः उसे ऐसा मालूम होता है कि मैं इस परिस्थिति में भी अमुक काम को स्वतन्त्र रीति से कर सकूंगा। अनुभव के इस तत्त्व की उत्पत्ति ऊपर कहे अनुसार ब्रह्मसृष्टि को जड़ सृष्टि से भिन्न माने बिना किसी भी अन्य रीति से नहीं बतलाई जा सकती। इसलिए जो अध्यात्मशास्त्र को नहीं मानते उन्हें इस विषय में या तो मनुष्य के नित्य दासत्व को मानना चाहिये या प्रवृत्ति स्वातन्त्र्य के प्रश्न को अगम्य समझकर यों ही छोड़ देना चाहिये। उनके लिए कोई दूसरा मार्ग नहीं है। अद्वैत वेदान्त का यह सिद्धान्त है कि जीवात्मा और परमात्मा मूल में एक रूप हैं और इसी सिद्धान्त के अनुसार प्रवृत्ति स्वातन्त्र्य या इच्छास्वातन्त्र्य की उक्त उत्पत्ति बतलाई गई है। परन्तु जिन्हें यह अद्वैत मत मान्य नहीं है अथवा जो भक्ति के लिये द्वैत को स्वीकार किया करते हैं उनका कथन है कि जीवात्मा की यह सामर्थ्य स्वयं उसकी नहीं है, बल्कि यह उसे परमेश्वर से प्राप्त होती है। तथापि ‘न ऋतु श्रान्तस्य सख्याय देवाः।<sup>२</sup> थकने तक प्रयत्न करने वाले मनुष्य के अतिरिक्त अन्यो की देवता मदद नहीं करते—ऋग्वेद के इस तत्वानुसार यह कहा गया है, कि जीवात्मा को यह सामर्थ्य प्राप्त करा देने के लिए पहले स्वयं ही प्रयत्न करना चाहिए—अर्थात् आत्म प्रयत्न का या पर्याय से आत्म स्वातन्त्र्य का तत्त्व फिर भी स्थिर बना ही रहता है। अधिक क्या कहें ? बौद्धधर्मी लोग आत्मा का या परब्रह्म का अस्तित्व नहीं मानते और यद्यपि उनको ब्रह्मज्ञान तथा आत्मज्ञान मान्य नहीं है तथापि उनके धर्मग्रन्थों में भी यही उपदेश किया गया है कि “अत्तना (आत्मना) चोदयस्तान्”—अपने आप को स्वयं अपने ही प्रयत्न से राह पर लगाना चाहिए। इस उपदेश का समर्थन करने के लिए कहा गया है कि :—

अत्ता (आत्मा) हि अत्तनो नाथो अत्ता हि अत्तना गति ।  
तस्मा संजमयऽत्ताणं अस्सं (अश्वं) भद्दं व वाणिजो ॥

“हम ही खुद अपने स्वामी या मालिक हैं और अपने आत्मा के सिवा हमें तारने वाला दूसरा कोई नहीं है, इसलिए जिस प्रकार कोई व्यापारी अपने उत्तम घोड़े का संयमन करता है उसी प्रकार हमें अपना संयमन आप ही भलीभांति करना चाहिए।”



१—गीता १३.२८

२—ऋग्वेद ४, ३३.११

कहती है । 'कर्म', 'विकर्म' व 'अकर्म' ये तीन शब्द बड़े महत्त्व के हैं । कर्म का अर्थ है—स्वधर्माचरण की बाहरी स्थूल क्रिया । इस बाहरी क्रिया में चित्त को लगाना ही 'विकर्म' है । बाहर से हम किसी को नमस्कार करते हैं, परन्तु उस बाहरी सिर भुकाने की क्रिया के साथ ही यदि भीतर से मन भी न भुकता हो तो बाह्य क्रिया व्यर्थ है । अन्तर्बाह्य—भीतर व बाहर दोनों एक होना चाहिये । बाहर से मैं शिव-पिंड पर सतत जल धारा छोड़कर अभिषेक करता हूँ परन्तु इस जल धारा के साथ ही यदि मानसिक चिन्तन की धारा भी अखण्ड न चलती रहती हो तो उस अभिषेक की क्या कीमत रही ? ऐसी दशा में वह शिवपिंड भी पत्थर व मैं भी पत्थर ही । पत्थर के सामने पत्थर बैठा—यही उसका अर्थ होगा । निष्काम कर्मयोग तभी सिद्ध होता है जब हमारे बाह्य कर्म के साथ अंदर से चित्त-शुद्धि रूपी कर्म का भी संयोग हो ।

'निष्काम कर्म' इस शब्द-प्रयोग में 'कर्म' पद की अपेक्षा 'निष्काम' पद को ही अधिक महत्त्व है, जिस तरह 'अहिंसात्मक असहयोग' शब्द प्रयोग में असहयोग की बनिस्पत 'अहिंसात्मक' विशेषण को ही अधिक महत्त्व है । अहिंसा को दूर हटाकर यदि केवल असहयोग का अवलंबन करेंगे, तो वह एक भयंकर चीज बन सकती है । उसी तरह स्वधर्माचरण रूपी कर्म करते हुए यदि मन का विकर्म उसमें नहीं जुड़ा है तो उसे धोखा समझना चाहिये ।

आज जो लोग सार्वजनिक सेवा करते हैं, वे स्वधर्म का ही आचरण करते हैं । जब लोग, गरीब, कंगाल, दुःखी व मुसीबत में होते हैं तब उनकी सेवा करके उन्हें सुखी बनाना प्रवाह-प्राप्त धर्म है । परन्तु इससे यह अनुमान न कर लेना चाहिये कि जितने भी लोग सार्वजनिक सेवा करते हैं, वे सब कर्मयोगी हो गए हैं । लोक-सेवा करते हुए यदि मन में शुद्ध भावना न हो तो उस लोक-सेवा के भयानक होने की सम्भावना है । अपने कुटुम्ब की सेवा करते हुए जितना अहंकार, जितना द्वेष-मत्सर, जितना स्वार्थ आदि विकार हम उत्पन्न करते हैं, उतने सब लोक-सेवा में भी हम उत्पन्न करते हैं और इसका प्रत्यक्ष दर्शन हमें आजकल की लोक-सेवा मण्डलियों के जमघट में भी हो जाता है ।

कर्म के साथ मन का मेल होना चाहिये । इस मन के मेल को ही गीता 'विकर्म' कहती है । बाहर का स्वधर्म रूप सामान्य कर्म और यह आन्तरिक विशेष कर्म । यह विशेष कर्म अपनी-अपनी मानसिक जरूरत के अनुसार जुदा-जुदा होता है । विकर्म के ऐसे अनेक प्रकार, नमूने के तौर पर बताये गये हैं । इस विशेष कर्म का, इस मानसिक अनुसन्धान का योग जब हम करेंगे, तभी उसमें निष्कामता की ज्योति जगेगी । कर्म के साथ जब विकर्म मिलता है तो फिर धीरे-धीरे निष्कामता हमारे अन्दर आती रहती है । यदि शरीर व मन जुदा-

जुदा चीजें हैं तो साधन भी दोनों के लिये जुदा-जुदा ही होंगे । जब इन दोनों का मेल बैठ जाता है तो साध्य हमारे हाथ लग जाता है । मन एक तरफ और शरीर दूसरी तरफ ऐसा न हो जाये, इसलिये शास्त्रकारों ने दुहरा मार्ग बताया है । भक्तियोग में बाहर से तप व भीतर से जप बताया है । उपवास आदि बाहरी तप के चलते हुए यदि भीतर से मानसिक जप न हो, तो वह सारा तप फिजूल गया । तप सम्बन्धी मेरी भावना सतत सुलगती, जगमगाती रहनी चाहिये । उपवास शब्द का अर्थ ही है, भगवान के पास बैठना । इसलिये कि परमात्मा के नजदीक हमारा चित्त रहे, बाहरी भोगों का दरवाजा बंद करने की जरूरत है । परन्तु बाहर से विषय भोगों को छोड़कर यदि मन में भगवान का चिन्तन न होता, तो फिर इस बाहरी उपवास की क्या कीमत रही ? ईश्वर का चिन्तन न करते हुए यदि उस समय खाने-पीने की चीजों का चिन्तन करें तो फिर वह बड़ा ही भयंकर भोजन हो गया । यह जो मन से भोजन हुआ, मन में जो विषय-चिन्तन रहा, इससे बढ़कर भयंकर वस्तु दूसरी नहीं । तंत्र के साथ मंत्र होना चाहिये । कोरे बाह्य तन्त्र का कोई महत्त्व नहीं है और न केवल कर्महीन मन्त्र का भी कोई मूह्य है । हाथ में भी सेवा हो व हृदय में भी सेवा हो, तभी सच्ची सेवा हमारे हाथों बन पड़ेगी ।

यदि बाह्य कर्म में हृदय की आर्द्रता न रही, तो वह स्वघर्माचरण रूखा-सूखा रह जायेगा । उसमें निष्कामता रूपी फूल-फल नहीं लगेंगे । फर्ज कीजिये कि हमने किसी रोगी की सेवा-सुश्रूषा शुरू की, परन्तु उस सेवा-कर्म के साथ यदि मन में कोमल दया भाव न हो तो वह रुग्ण-सेवा नीरस मालूम होगी व उससे जी ऊब उठेगा । वह एक बोझ मालूम देगी । रोगी को भी वह सेवा एक बोझ मालूम पड़ेगी । उसमें यदि मन का सहयोग न हो तो उससे अहंकार पैदा होगा । मैंने आज उसका काम किया है । उसे जरूरत के वक्त मेरी सहायता करनी चाहिये । मेरी तारीफ करनी चाहिये । मेरा गौरव करना चाहिये आदि अपेक्षाएँ मन में उत्पन्न होंगी । अथवा हम त्रस्त होकर कहेंगे—हम इसकी इतनी सेवा करते हैं, फिर भी यह बड़बड़ाता रहता है । बीमार आदमी वैसे ही चिड़चिड़ा रहता है । उसके ऐसे स्वभाव से ऐसा सेवक, जिसके मन में सच्चा सेवा-भाव नहीं होता, ऊब जायेगा ।

कर्म के साथ जब आन्तरिक भाव का मेल हो जाता है तो वह कर्म कुछ और ही हो जाता है । तेल और बत्ती के साथ जब ज्योति का मेल होता है, तब प्रकाश उत्पन्न होता है । कर्म के साथ विकर्म का मेल हुआ तो निष्कामता आती है । बारूद में बत्ती लगाने से धड़ाका होता है । उस बारूद में एक शक्ति उत्पन्न होती है । कर्म को बंदूक की बारूद की तरह समझो । उसमें विकर्म की बत्ती या आग लगी कि काम हुआ । जब तक विकर्म आकर नहीं मिलता, तब तक वह कर्म जड़ है, उसमें चेतन्य नहीं । एक बार जहाँ विकर्म की चिनगारी उसमें

गिरी कि फिर उस कर्म में जो सामर्थ्य पैदा होती है, वह अवर्णनीय है। चिमटी भर बारूद जब में पड़ी रहती है, हाथ में उछलती रहती है, पर जहाँ उसमें बत्ती लगी कि शरीर के टुकड़े-टुकड़े हुए। स्वधर्माचरण का अनन्त सामर्थ्य इसी तरह गुप्त रहता है। उसमें विकर्म को जोड़िये तो फिर देखिये कि कैसे-कैसे बनाव-बिगाड़ होते हैं। उसके स्फोट से अहंकार, काम, क्रोध के प्राण उड़ जायेंगे व उसमें से उस परम ज्ञान की निष्पत्ति हो जायेगी।

कर्म ज्ञान का पलीता है। एक लकड़ी का बड़ा सा टुकड़ा कहीं पड़ा है। उसे आप जला दीजिये। वह जगमग अंगार हो जाता है। उस लकड़ी और उस आग में कितना अन्तर है? परन्तु उस लकड़ी की ही वह आग होती है। कर्म में विकर्म डाल देने से कर्म दिव्य दिखाई देने लगता है। माँ बच्चे की पीठ पर हाथ फेरती है। एक पीठ है, जिस पर एक हाथ यों ही इधर-उधर फिर गया। परन्तु इस एक मामूली कर्म से उन माँ-बच्चे के मन में जो भावनाएँ उठीं, उनका वर्णन कौन कर सकेगा? यदि कोई ऐसा समीकरण बिठाने लगेगा कि इतनी लम्बी-चौड़ी पीठ पर इतने वजन का एक मुलायम हाथ फिराइये, तो इससे वह आनन्द उत्पन्न होगा, तो एक दिल्लगी ही होगी। हाथ फिराने की यह क्रिया बिल्कुल क्षुद्र है परन्तु उसमें माँ का हृदय उडैला हुआ है। वह विकर्म उडैला हुआ है। इसी से वह अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है। तुलसीकृत रामायण में एक प्रसंग आता है। राक्षसों से लड़कर बन्दर आते हैं। वे जख्मी हो गए हैं। बदन से खून बह रहा है परन्तु प्रभु रामचन्द्र के एक बार प्रेम-पूर्वक दृष्टिपात मात्र से उन बन्दरों की वेदना काफूर हो गई। अब यदि दूसरे मनुष्य ने राम की उस समय की आँख व दृष्टि का फोटो लेकर किसी की ओर उतनी आँखें फाड़कर देखा होता तो क्या उसका वैसा प्रभाव पड़ा होता? वैसा करने का यत्न करना हास्यास्पद है।

कर्म के साथ जब विकर्म का जोड़ मिल जाता है तो शक्ति-स्फोट होता है और उसमें से अकर्म निर्माण होता है। लकड़ी जलने पर राख हो जाती है। पहले का वह इतना बड़ा लकड़ी का टुकड़ा, अंत में चिमटी भर बेचारी राख रह जाती है उसकी। खुशी से उसे हाथ में ले लीजिये और सारे बदन पर मल लीजिये। इस तरह कर्म में विकर्म की ज्योति जला देने से अन्त में अकर्म ही जाता है। कहाँ लकड़ी व कहाँ राख? कः केन सम्बन्धः। उनके गुण-धर्मों में अब बिल्कुल साम्य नहीं रह गया। परन्तु इसमें कोई शक नहीं है कि वह राख उस लकड़ी के लट्ठ की ही है।

कर्म में विकर्म उडैलने से अकर्म होता है। इसका अर्थ क्या? इसका अर्थ यह है कि ऐसा मालूम ही नहीं होता कि कोई कर्म किया है। उस कर्म का बोझ नहीं मालूम होता। करके भी अकर्त्ता होते हैं। गीता कहती है कि मारकर



भी तुम मारते नहीं। माँ बच्चे को पीटती है, इसलिये तुम तो उसे पीटकर देखो। तुम्हारी मार बच्चा नहीं सहेंगा। माँ मारती है फिर भी वह उसके आंचल में मुँह छिपाता है, क्योंकि माँ के बाह्य कर्म में चित्त शुद्धि का मेल है। उसका यह मारना-पीटना निष्काम भाव से है। उस कर्म में उसका स्वार्थ नहीं है। विकर्म के कारण, मन की शुद्धि के कारण कर्म का कर्मत्व उड़ जाता है। राम की वह दृष्टि, आन्तरिक विकर्म के कारण महज प्रेम-सुधा सागर हो गई थी परन्तु राम को उस कर्म का कोई श्रम नहीं हुआ था। चित्त शुद्धि से क्रिया-कर्म निर्लेप रहता है। उसका पाप-पुण्य कुछ बाकी नहीं रहता। नहीं तो कर्म का कितना बोझ, कितना जोर हमारी बुद्धि व हृदय पर पड़ता है। यदि यह खबर आज दो बजे उड़ी कि कल ही सारे राजनैतिक कैदी छूट जाने वाले हैं तो फिर देखो, कैसी भीड़ चारों ओर हो जाती है। चारों ओर हलचल व गड़बड़ मच जाती है। हम कर्म के अच्छे-बुरे होने की वजह से मानो व्यग्र रहते हैं। कर्म हमको चारों ओर से घेर लेता है, मानो कर्म ने हमारी गर्दन घेर दबाई है। जिस तरह समुद्र का प्रवाह जोर से जमीन में घंसकर खाड़ियाँ बना देता है उसी तरह कर्म का यह जंजाल चित्त में घुसकर क्षोभ पैदा करता है। सुख-दुःख के द्वन्द्व निर्माण होते हैं। सारी शान्ति नष्ट हो जाती है। कर्म हुआ और होकर चला भी गया। परन्तु उसका वेग बाकी बच ही रहता है। कर्म चित्त पर हावी हो जाता है। फिर उसकी नींद हराम हो जाती है।

परन्तु ऐसे इस कर्म में यदि विकर्म को मिला दिया तो फिर आप चाहे जितने कर्म करें तो भी उसका श्रम या बोझ नहीं मालूम होता। मन ध्रुव की तरह शान्त, स्थिर व तेजोमय बना रहता है। कर्म में विकर्म डाल देने से वह अकर्म हो जाता है। मानो कर्म को करके फिर उसे पोंछ दिया हो।

---

निज विवेक का प्रकाश मानव का अपना विधान है। उस विधान के आधीन बुद्धि, मन, इन्द्रिय, शरीर आदि को कर्म में लगाना है अथवा यों कहो कि कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति को शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि का उपयोग वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म में ही विवेक के प्रकाश में करना है। निज विवेक का प्रकाश अविवेक का नाशक है। अविवेक के नष्ट होते ही अकर्त्तव्य शेष नहीं रहता, जिसके न रहने पर कर्त्तव्य पालन में स्वाभाविकता आ जाती है। इस दृष्टि से विवेकयुक्त मानव ही कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकते हैं। अतः विवेक विरोधी कर्म का मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

---

हे पापरहित अर्जुन ! आरंभ से ही इस जगत् में दो मार्ग चलते आये हैं—एक में ज्ञान की प्रधानता है और दूसरे में कर्म की। पर तू स्वयं देख ले कि कर्म के बिना मनुष्य अकर्मो नहीं हो सकता, बिना कर्म के ज्ञान आता ही नहीं। सब छोड़कर बैठ जाने वाला मनुष्य सिद्धपुरुष नहीं कहला सकता।

तू देखता है कि प्रत्येक मनुष्य कुछ-न-कुछ तो करता ही है। उसका स्वभाव ही उससे कुछ करायेगा। जगत् का यह नियम होने पर भी जो मनुष्य हाथ-पाँव ढीले करके बैठा रहता है और मन में तरह-तरह के मनसूबे करता रहता है, उसे मूर्ख कहेंगे और वह मिथ्याचारी भी गिना जायेगा। क्या इससे यह अच्छा नहीं कि इन्द्रियों को वश में रखकर, राग-द्वेष छोड़कर, शोरगुल के बिना, आसक्ति के बिना अर्थात् अनासक्त भाव से, मनुष्य हाथ-पाँवों से कुछ कर्म करे, कर्मयोग का आचरण करे ? नियत कर्म—तेरे हिस्से में आया हुआ सेवा कार्य—तू इन्द्रियों को वश में रखकर करता रह। आलसी की भाँति बैठे रहने से यह कहीं अच्छा है। आलसी होकर बैठे रहने वाले के शरीर का अंत में पतन हो जाता है। पर कर्म करते हुए इतना याद रखना चाहिये कि यज्ञ-कार्य के सिवा सारे कर्म लोगों को बंधन में रखते हैं। यज्ञ के मानो है, अपने लिये नहीं, बल्कि दूसरे के लिये, परोपकार के लिये, किया हुआ श्रम, अर्थात् संक्षेप में सेवा। और जहाँ सेवा के निमित्त ही सेवा की जायेगी, वहाँ आसक्ति, राग-द्वेष नहीं होगा। ऐसा यज्ञ, ऐसी सेवा, तू करता रह। ब्रह्मा ने जगत् उपजाने के साथ-ही-साथ यज्ञ भी उपजाया, मानो, हमारे कान में यह मंत्र फूँका कि पृथ्वी पर जाओ, एक दूसरे की सेवा करो और फूलो-फूलो, जीव मात्र को देवतारूप जानो, इन देवों की सेवा करके तुम उन्हें प्रसन्न रखो, वे तुम्हें प्रसन्न रखेंगे। प्रसन्न हुए देव तुम्हें बिना माँगे मनोवांछित फल देंगे। इसलिये यह समझना चाहिये कि लोक-सेवा किये बिना, उनका हिस्सा उन्हें पहले दिये बिना, जो खाता है, वह चोर है और जो लोगों का, जीवमात्र का भाग उन्हें पहुँचाने के बाद खाता है या कुछ भोगता है, उसे वह भोगने का अधिकार है। अर्थात् वह पापमुक्त हो जाता है। इससे उलटा, जो अपने लिये ही कमाता है—मजदूरी करता है—वह पापी है और पाप का अन्न खाता है। सृष्टि का नियम ही यह है कि अन्न से जीवों का निर्वाह होता है। अन्न वर्षा से पैदा होता है और वर्षा यज्ञ से अर्थात् जीवमात्र की मेहनत से उत्पन्न होती है।

जहाँ जीव नहीं है वहाँ वर्षा नहीं पायी जाती। जहाँ जीव है वहाँ वर्षा अवश्य है। जीवमात्र श्रमजीवी है। कोई पड़े-पड़े खा नहीं सकता और मूढ़ जीवों के लिये जब यह सत्य है, तो मनुष्य के लिये यह कितने अधिक अंश में लागू होना चाहिये ? इससे भगवान ने कहा, कर्म को ब्रह्मा ने पैदा किया। ब्रह्मा की उत्पत्ति अक्षर-ब्रह्मा से हुई, इसलिये यह समझना चाहिये कि यज्ञ मात्र में, सेवा मात्र में अक्षर ब्रह्मा, परमेश्वर, विराजता है। ऐसी इस प्रणाली का जो मनुष्य अनुसरण नहीं करता, वह पापी है और व्यर्थ जीता है।

यह कह सकते हैं कि जो मनुष्य आन्तरिक शान्ति भोगता है और संतुष्ट रहता है, उसे कोई कर्तव्य नहीं है, उसे कर्म करने से कोई फायदा नहीं, न करने से कोई हानि नहीं है। किसी के संबंध में कोई स्वार्थ उसे न होने पर भी यज्ञ कार्य को वह छोड़ नहीं सकता। इससे तू तो कर्तव्य-कर्म नित्य करता रह, पर उसमें राग-द्वेष न रख, उसमें आसक्ति न रख। जो अनासक्तिपूर्वक कर्म का आचरण करता है, वह ईश्वर साक्षात्कार करता है। फिर जनक—जैसे निस्पृही राजा भी कर्म करते-करते सिद्धि को प्राप्त हुए, क्योंकि वे लोकहित के लिये कर्म करते थे। तो तू कैसे इससे विपरीत बर्ताव कर सकता है ? नियम ही यह है कि जैसा अच्छे और बड़े माने जाने वाले मनुष्य आचरण करते हैं उनका अनुकरण साधारण लोग करते हैं। मुझे देख। मुझे काम करके क्या स्वार्थ साधना था ? पर मैं चौबीसों घंटा बिना थके, कर्म करता ही रहता हूँ और इससे लोग भी उसके अनुसार अल्पाधिक परिमाण में बरतते हैं। पर यदि मैं आलस्य कर जाऊँ तो जगत का क्या हो ? तू समझ सकता है कि सूर्य, चंद्र, तारे इत्यादि स्थिर हो जायें और इन सबको गति देने वाला, नियम में रखने वाला तो मैं ही ठहरा। किन्तु लोगों में और मुझ में इतना फरक जरूर है कि मुझे आसक्ति नहीं है, और लोग आसक्त हैं, वे स्वार्थ में पड़े भागते रहते हैं। यदि मुझ जैसा बुद्धिमान कर्म छोड़े तो लोग भी वही करेंगे और बुद्धि भ्रष्ट हो जायेंगे। मुझे तो आसक्ति रहित होकर कर्तव्य करना चाहिये, जिससे लोग कर्म-भ्रष्ट न हों और धीरे-धीरे अनासक्त होना सीखें। मनुष्य अपने में मौजूद स्वाभाविक गुणों के वश होकर काम तो करता ही रहेगा। जो मूर्ख होता है, वही मानता है कि "मैं करता हूँ"। सांस लेना, यह जीवमात्र की प्रकृति है, स्वभाव है। आँख पर किसी मक्खी आदि के बैठते ही तुरंत मनुष्य स्वभावतः ही पलकें हिलाता है। उस समय नहीं कहता कि मैं सांस लेता हूँ, मैं पलक हिलाता हूँ। इस तरह जितने कर्म किये जायें, सब स्वाभाविक रीति से गुण के अनुसार क्यों न किये जायें ? उनके लिये अहंकार क्या ? और यों ममत्वरहित सहज कर्म करने का सुवर्ण मार्ग है, सब कर्म मुझे अर्पण करना और ममत्व हटाकर मेरे निमित्त करना। ऐसा करते-करते जब मनुष्य में से अहंकार वृत्ति का, स्वार्थ का नाश हो जाता है, तब उसके सारे कर्म स्वाभाविक और निर्दोष हो जाते हैं। वह बहुत जंजाल में से छूट जाता है। उसके लिये फिर कर्म-बंधन जैसा कुछ नहीं है और जहाँ

स्वभाव के अनुसार कर्म हो, वहाँ बलात्कार से न करने का दावा करने में ही अहंकार समाया हुआ है। ऐसा बलात्कार करने वाला बाहर से चाहे कर्म न करता जान पड़े, पर भीतर-भीतर तो उसका मन प्रपंच रचता ही रहता है। बाहरी कर्म की अपेक्षा यह बुरा है, अधिक बंधनकारक है।

तो, वास्तव में तो इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों में राग-द्वेष विद्यमान ही है। कानों को यह सुनना रुचता है, वह सुनना नहीं। नाक को गुलाब के फूल की सुगंध भाती है, मल बगौरह की दुर्गन्ध नहीं। सभी इन्द्रियों के संबंध में यही बात है। इसलिये मनुष्य को इन राग-द्वेषरूपी दो गुराणों से बचना चाहिये और इन्हें मार भगाना हो तो कर्मों की श्रृंखला में न पड़े। आज वह किया, कल दूसरा काम हाथ में लिया, परसों तीसरा, यों भटकता न फिरे, बल्कि अपने हिस्से में जो सेवा आ जाये, उसे ईश्वर प्रीत्यर्थ करने को तैयार रहे। तब यह भावना उत्पन्न होगी कि जो हम करते हैं, वह ईश्वर ही कराता है—यह ज्ञान उत्पन्न होगा और अहं भाव चला जायेगा। इसे स्वधर्म कहते हैं। स्वधर्म से चिपटे रहना चाहिये क्योंकि अपने लिये तो वही अच्छा है। देखने में पर धर्म अच्छा दिखायी दे तो भी उसे भयानक समझना चाहिये। स्वधर्म पर चलते हुए मृत्यु होने में मोक्ष है।

भगवान् के राग-द्वेष रहित होकर किये जाने वाले कर्म को यज्ञ रूप बतलाने पर अर्जुन ने पूछा—“मनुष्य किसकी प्रेरणा से पाप कर्म करता है? अक्सर तो ऐसा लगता है कि पाप कर्म की ओर कोई उसे जबर्दस्ती ढकेले ले जाता है।”

भगवान् बोले—“मनुष्य को पाप कर्म की ओर ढकेल ले जाने वाला काम है और क्रोध है। दोनों सगे भाई की भाँति हैं, काम की पूर्ति के पहले ही क्रोध आ धमकता है। काम-क्रोध वाला रजोगुणी कहलाता है। मनुष्य के महान शत्रु ये ही हैं। इनसे नित्य लड़ना है। जैसे मैल चढ़ने से दर्पण धुंधला हो जाता है, या अग्नि धुएँ के कारण ठीक नहीं जल पाती और गर्भ भिस्ली में पड़े रहने तक घुटता रहता है, उसी प्रकार काम-क्रोध ज्ञानी के ज्ञान को प्रज्वलित नहीं होने देते, फीका कर देते हैं या दबा देते हैं। काम अग्नि के समान विकराल है और इन्द्रिय, मन, बुद्धि, सब पर अपना काबू करके मनुष्य को पछाड़ देता है। इसलिये तू इन्द्रियों से पहले निपट, फिर मन को जीत, तो बुद्धि तेरे अधीन रहेगी, क्योंकि इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि क्रमशः एक दूसरे से बढ़ चढ़कर हैं, तथापि आत्मा उन सबसे बहुत बड़ा-चढ़ा है। मनुष्य को आत्मा की अपनी शक्ति का पता नहीं है, इसलिये वह मानता है कि इन्द्रियाँ वश में नहीं रहतीं, मन वश में नहीं रहता या बुद्धि काम नहीं करती। आत्मा की शक्ति का विश्वास होते ही बाकी सब आसान हो जाता है। इन्द्रियों को, मन और बुद्धि को ठिकाने रखने वाले का काम, क्रोध या उनकी असंख्य सेना कुछ नहीं कर सकती।

□ आचार्य विनोबा भावे

स्वधर्म को टालकर यदि हम अवान्तर धर्म स्वीकार करेंगे, तो निष्कामता-रूपी फल को अशक्य ही समझो। स्वदेशी माल बेचना व्यापार का स्वधर्म है परन्तु इस स्वधर्म को छोड़कर जब वह सात समुन्दर पार का विदेशी माल बेचने लगता है, तब उसके सामने यही हेतु रहता है कि बहुतेरा नफा मिले। तो फिर उस कर्म में निष्कामता कहाँ से आयेगी? अतएव कर्म को निष्काम बनाने के लिए स्वधर्म-पालन की अत्यन्त आवश्यकता है। परन्तु यह स्वधर्माचरण भी सकाम हो सकता है। अहिंसा की ही बात हम लें। जो अहिंसा का उपासक है, उसके लिये हिंसा तो वर्ज्य है, परन्तु यह सम्भव है कि ऊपर से अहिंसक होते हुए भा वह वास्तव में हिंसामय हो। क्योंकि हिंसा मन का एक धर्म है। महज बाहर से हिंसा कर्म न करने से ही मन अहिंसामय हो जायेगा सो बात नहीं। तलवार हाथ में लेने से हिंसा वृत्ति अवश्य प्रकट होती है, परन्तु तलवार छोड़ देने से मनुष्य अहिंसामय होता ही है सो बात नहीं। ठीक यही बात स्वधर्माचरण की है। निष्कामता के लिये पर धर्म से तो बचना ही होगा। परन्तु यह तो निष्कामता का आरम्भ मात्र हुआ। इससे हम साध्य तक नहीं पहुँच गये।

निष्कामता मन का धर्म है। इसकी उत्पत्ति के लिए एक स्वधर्माचरण रूपी साधन ही काफी नहीं है। दूसरे साधनों का भी सहारा लेना पड़ेगा। अकेली तेल-बत्ती से दिया नहीं जल जाता। उसके लिये ज्योति की जरूरत होती है। ज्योति होगी तो ही अंधेरा दूर होगा। यह ज्योति कैसे जगावें? इसके लिये मानसिक संशोधन की जरूरत है। आत्म-परीक्षण के द्वारा चित्त की मलिनता-कूड़ा-कचरा धो डालना चाहिये।

गीता में 'कर्म' शब्द 'स्वधर्म' के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। हमारा खाना, पीना, सोना ये कर्म ही हैं, परन्तु गीता के 'कर्म' शब्द से ये सब क्रियाएँ सूचित नहीं होती हैं। कर्म से वहाँ मतलब स्वधर्माचरण से है। परन्तु इस स्वधर्माचरण-रूपी कर्म को करके निष्कामता प्राप्त करने के लिये और भी एक वस्तु की सहायता जरूरी है, वह है काम व क्रोध को जीतना। चित्त जब तक गंगाजल की तरह निर्मल व प्रशान्त न हो जाये, तब तक निष्कामता नहीं आ सकती। इस तरह चित्त संशोधन के लिये जो-जो कर्म किये जायें, उन्हें गीता 'विकर्म'

साधारणतः कर्मवाद ऐसा कहता हुआ प्रतीत होता है कि जो हमने किया है, उसका फल हमें भोगना पड़ेगा। हमारे कर्म और हमारे भोग में एक अनिवार्य कार्य-कारण सम्बन्ध है। यह बिल्कुल सत्य है कि जो हम करते हैं, उससे अन्यथा हम नहीं भोगते-भोग भी नहीं सकते। कर्म भोग की तैयारी है। असल में, कर्म भोग का प्रारम्भिक बीज है। फिर वही बीज भोग में वृक्ष बन जाता है।

कर्मवाद का जो सिद्धान्त प्रचलित है, उसमें ठीक बात को भी इस ढंग से रखा गया है कि वह बिल्कुल गलत हो गई है। उस सिद्धान्त में ऐसी बात न मालूम किन् कारणों से प्रविष्ट हो गई है कि कर्म तो हम अभी करेंगे और भोगेंगे अगले जन्म में। कार्य-कारण के बीच अन्तराल नहीं होता-अन्तराल ही नहीं सकता। अगर अन्तराल आ जाय तो कार्य-कारण विच्छिन्न हो जायेंगे, उनका सम्बन्ध टूट जाएगा। आग में मैं अभी हाथ डालूँ और जलूँ अगले जन्म में—यह समझ के बाहर की बात होगी। लेकिन इस तरह के सिद्धान्त का, इस तरह की भ्रान्ति का कुछ कारण है। वह यह है कि हम एक ओर तो भले आदमियों को दुःख भेलते देखते हैं, वहीं दूसरी ओर हमें बुरे लोग सुख उठाते देखते हैं। अगर प्रतिपल हमारे कार्य और कारण परस्पर जुड़े हैं तो बुरे लोगों का सुखी होना और भले लोगों का दुःखी होना कैसे समझाया जा सकता है? एक आदमी भला है, सच्चरित्र है, ईमानदार है और दुःख भोग रहा है, कष्ट पा रहा है, दूसरा आदमी बुरा है, बेईमान है, चरित्रहीन है और सुख पा रहा है, वह धन-धान्य से भरा पूरा है। अगर अच्छे कार्य तत्काल फल लाते हैं तो अच्छे आदमी को सुख भोगना चाहिये और यदि बुरे कार्यों का परिणाम तत्काल बुरा होता है तो बुरे आदमी को दुःख भोगना चाहिये। परन्तु ऐसा कम होता है।

जिन्होंने इसे समझने-समझाने की कोशिश की उन्हें मानो एक ही रास्ता मिला। उन्होंने पूर्व जन्म में किए गए पुण्य-पाप के सहारे इस जीवन के सुख-दुःख को जोड़ने की गलती की और कहा कि अगर अच्छा आदमी दुःख भोगता है तो वह अपने पिछले बुरे कार्यों के कारण और अगर कोई बुरा आदमी सुख भोगता है तो अपने पिछले अच्छे कर्मों के कारण। लेकिन इस समस्या को सुलझाने के दूसरे उपाय भी थे और असल में दूसरे उपाय ही सच हैं। पिछले

जन्मों के अच्छे-बुरे कर्मों के द्वारा इस जीवन के सुख-दुःख की व्याख्या करना कर्मवाद के सिद्धान्त को विकृत करता है। सच पूछिए तो ऐसी ही व्याख्या के कारण कर्मवाद की उपादेयता नष्ट सी हो गई है।

कर्मवाद की उपादेयता इस बात में है कि वह कहता है—तुम जो कर रहे हो वही तुम भोग रहे हो। इसलिये तुम ऐसा करो कि सुख भोग सको, आनन्द पा सको। अगर तुम क्रोध करोगे तो दुःख भोगोगे, भोग रहे हो। क्रोध के पीछे ही दुःख भी आ रहा है छाया की तरह। अगर प्रेम करोगे, शान्ति से रहोगे, और दूसरों को शान्ति दोगे तो शान्ति अर्जित करोगे। यही थी उपयोगिता कर्मवाद की। किन्तु इसकी गलत व्याख्या हो गई। कहा गया कि इस जन्म के पुण्य का फल अगले में मिलेगा, यदि दुःख है तो इसका कारण पिछले जन्म में किया गया कोई पाप होगा। ऐसी बातों का चित्त पर बहुत गहरा प्रभाव नहीं पड़ता। वस्तुतः कोई भी व्यक्ति इतने दूरगामी चित्त का नहीं होता कि वह अभी कर्म करे और अगले जन्म में मिलने वाले फल से चिन्तित हो। अगला जन्म अंधेरे में खो जाता है। अगले जन्म का क्या भरोसा? पहले तो यही पक्का नहीं कि अगला जन्म होगा या नहीं? फिर, यह भी पक्का नहीं कि जो कर्म अभी फल दे सकने में असमर्थ है, वह अगले जन्म में देगा ही। अगर एक जन्म तक कुछ कर्मों के फल रोके जा सकते हैं तो अनेक जन्मों तक क्यों नहीं? तीसरी बात यह है कि मनुष्य का चित्त तत्कालजीवी है। वह कहता है ठोक है, अगले जन्म में जो होगा, होगा, अभी जो हो रहा है, करने दो। अभी मैं क्यों चिन्ता करूँ अगले जन्म की?

इस प्रकार कर्मवाद की जो उपयोगिता थी, वह नष्ट हो गई। जो सत्य था, वह भी नष्ट हो गया। सत्य है कार्य-कारण सिद्धान्त जिस पर विज्ञान खड़ा है। अगर कार्य-कारण को हटा दो तो विज्ञान का सारा भवन धराशायी हो जाय।

ह्यूम नामक दार्शनिक ने इंग्लैंड में और चार्वक ने भारतवर्ष में कार्य-कारण के सिद्धान्त को गलत सिद्ध करना चाहा। अगर ह्यूम जीत जाता तो विज्ञान का जन्म नहीं होता। अगर चार्वक जीत जाता तो धर्म का जन्म नहीं होता, क्योंकि चार्वक ने भी कार्य-कारण के सिद्धान्त को न माना। उसने कहा, “खाओ, पीओ, मौज करो” क्योंकि कोई भरोसा नहीं कि जो बुरा करता है, उसे बुरा ही मिले। देखो, एक आदमी बुरा कर रहा है और भला भोग रहा है। चोर मजा कर रहा है, अचोर दुःखी है। जीवन के सभी कर्म असम्बद्ध हैं। बुद्धिमान आदमी जानता है कि किसी कर्म का किसी फल से कोई सम्बन्ध नहीं।

चार्वाक के विरोध में ही महावीर का कर्म-सिद्धान्त है ।

धर्म भी विज्ञान है और वह भी कार्य-कारण-सिद्धान्त पर खड़ा है । विज्ञान कहता है, “अभी कारण, अभी कार्य ।” “परन्तु जब तथाकथित धार्मिक कहते हैं—“अभी कारण, कार्य अगले जन्म में तो धर्म का वैज्ञानिक आधार खिसक जाता है । यह अन्तराल एक दम भूठ है । कार्य और कारण में अगर कोई सम्बन्ध है तो उसके बीच में अन्तराल नहीं हो सकता, क्योंकि अन्तराल हो गया तो सम्बन्ध क्या रहा ? चीजें असम्बद्ध हो गईं, अलग-अलग हो गईं । यह व्याख्या नैतिक लोगों ने खोज ली, क्योंकि वे समझा नहीं सके जीवन को ।

मेरी अपनी समझ यह है कि प्रत्येक कर्म तत्काल फलदायी है । जैसे— यदि मैंने क्रोध किया तो मैं क्रोध करने के क्षण से ही क्रोध को भोगना शुरू करता हूँ । ऐसा नहीं कि अगले जन्म में इसका फल भोगूँ । क्रोध का करना और क्रोध का दुःख भोगना साथ-साथ चल रहा है । क्रोध विदा हो जाता है लेकिन दुःख का सिलसिला देर तक चलता है । यदि दुःख और आनन्द अगले जन्म में मिलेंगे और उनके लिए प्रतीक्षा करनी होगी तो कहीं किसी को हिसाब-किताब रखने की जरूरत होगी । परन्तु, फल के लिये प्रतीक्षा करने की जरूरत नहीं होती । वह तत्काल मिलता है । हिसाब-किताब रखने की जरूरत नहीं होती । इसलिये महावीर भगवान् को भी विदा कर सके । अगर जन्म-जन्मान्तर का हिसाब-किताब रखना है तो फिर नियन्ता की व्यवस्था जरूरी है । नियन्ता की जरूरत वहाँ होती है जहाँ नियम का लेखा-जोखा रखना पड़ता है । क्रोध मैं अभी करूँ और मुझे फल किसी दूसरे जन्म में मिले तो इसका हिसाब कहाँ रहेगा ? इसलिये कुछ लोगों ने कहा—परमात्मा के पास । इन लोगों का परमात्मा महालिपिक है जो हमारे पुण्य-पाप का हिसाब रखता है और देखता है कि नियम पूरे हो रहे हैं या नहीं ?

महावीर ने बड़ी वैज्ञानिक बात कही है । उनके अनुसार नियम पर्याप्त हैं, नियन्ता की जरूरत नहीं है । अगर नियन्ता है तो नियम में गड़बड़ी होने को संभावना बनी रहेगी । लोग उसकी प्रार्थना करेंगे, खुशामद करेंगे और वह खुश होकर नियमों में उलट-फेर करता रहेगा । कभी प्रह्लाद जैसे भक्तों को वह आग में जलने न देगा और कभी नाराज होगा तो आग को जलाने की आज्ञा देगा । उसके भक्त को पहाड़ से गिराओ तो उसके पैर नहीं टूटते, किसी दूसरे व्यक्ति को गिराओ तो उसके पैर टूट जाते हैं । प्रह्लाद की कथा पक्षपात की कथा है । उसमें अपने आदमी की फिक्र की जा रही है और नियम के अपवाद बनाये जा रहे हैं । महावीर कहते हैं कि अगर प्रह्लाद जैसे अपवाद हैं तो फिर धर्म नहीं हो सकता । धर्म का आधार समानता है, नियम है जो भगवान् के भक्तों पर उसी बेरहमी से लागू होता है जिस बेरहमी से उन लोगों पर जो उसके भक्त



नहीं हैं। यदि अपवाद की बात मान ली जाय तो कभी ऐसा भी हो सकता है कि क्षय के कीटाणु किसी दवा से न मरें। हो सकता है कि क्षय के कीटाणु भी प्रह्लाद की तरह भगवान् के भक्त हों और कोई दवा काम न करे। यदि धर्म है तो नियम है और अग्रर नियम है तो नियन्ता में बाधा पड़ेगी। इसलिये महावीर नियम के पक्ष में नियन्ता को विदा कर देते हैं। वे कहते हैं कि नियम काफ़ी है और नियम अखण्ड है। प्रार्थना, पूजा उनसे हमारी रक्षा नहीं कर सकती। नियम से बचने का एक ही उपाय है कि नियम को समझ लो। यह जान लो कि आग में हाथ डालने से हाथ जलता है, इसलिये हाथ मत डालो।

महावीर न तो चार्वाक को मानते हैं और न नियन्ता के मानने वालों को। चार्वाक नियम को तोड़कर अव्यवस्था पैदा करता है और नियन्ता के मानने वाले नियम के ऊपर किसी नियन्ता को स्थापित कर अव्यवस्था पैदा करते हैं। महावीर पूछते हैं कि यह भगवान् नियम के अन्तर्गत चलता है या नहीं? अग्रर नियम के अन्तर्गत चलता है तो उसकी जरूरत क्या है? यानी अगर भगवान् आग में हाथ डालेगा तो उसका हाथ जलेगा कि नहीं? अगर जलता है तो वह भी वैसा ही है जैसा हम हैं, अगर नहीं जलता है तो ऐसा भगवान् खतरनाक है। यदि हम उससे दोस्ती करेंगे तो आग में हाथ भी डालेंगे और शीतल होने का उपाय भी कर लेंगे। इसलिये महावीर कहते हैं कि नियम को न मानना अवैज्ञानिक है और नियन्ता की स्वीकृति नियम में बाधा डालती है। विज्ञान कहता है कि किसी भगवान् से हमें कुछ लेना-देना नहीं, हम तो प्रकृति के नियम खोजते हैं। ठीक यही बात ढाई हजार साल पहले महावीर ने चेतना के जगत् में कही थी। उनके अनुसार नियम शाश्वत, अखण्ड और अपरिवर्तनीय है। उस अपरिवर्तनीय नियम पर ही धर्म का विज्ञान खड़ा है। यह असम्भव ही है कि एक कर्म अभी हो और उसका फल अगले जन्म में मिले। फल इसी कर्म की शृंखला का हिस्सा होगा जो इसी कर्म के साथ मिलना शुरू हो जायगा। हम जो भी करते हैं उसे भोग लेते हैं। यदि मेरी अशान्ति पिछले जन्म के कर्मों का फल है तो मैं इस अशान्ति को दूर नहीं कर सकता। इस प्रकार मैं एक दम परतन्त्र हो जाता हूँ और गुरुओं के पास जाकर शान्ति के उपाय खोजता हूँ। मगर सही बात यह है कि जो मैं अभी कर रहा हूँ, उसे अनक्रिया करने की सामर्थ्य भी मुझ में है। अगर मैं आग में हाथ डाल रहा हूँ और मेरा हाथ जल रहा है, और अगर मेरी मान्यता यह है कि पिछले जन्म के किसी पाप का फल भोग रहा हूँ तो मैं हाथ डाले चला जाऊँगा, क्योंकि पिछले जन्म के कर्म को मैं बदल कैसे सकता हूँ? जिन गुरुओं की यह मान्यता है कि पिछले जन्म के किसी कर्म के कारण मेरा हाथ जल रहा है, वे यह नहीं कहेंगे कि हाथ बाहर खींचो तो जलना बन्द हो जाय। इसका मतलब यह हुआ कि हाथ अभी डाला जा रहा है और अभी डाला गया हाथ बाहर खींचा जा सकता है,

लेकिन पिछले जन्म में डाला गया हाथ आज कैसे बाहर खींचा जा सकता है ? हमारी इस व्याख्या ने कि अनन्त जन्मों तक कर्म के फल चलते हैं, मनुष्य को एक दम परतन्त्र कर दिया है। किन्तु मेरा मानना है कि सब कुछ किया जा सकता है इसी वक्त, क्योंकि जो हम कर रहे हैं, वही हम भोग रहे हैं।

जिन्दगी की विषमता को समझने के लिये ऊटपटांग व्यवस्थाएँ गढ़ ली जाती हैं। मेरी समझ में यदि कोई बुरा आदमी सफल होता है, सुखी है तो इसका भी कारण है। मैं बुरे आदमी को एक बहुत बड़ी जटिल घटना मानता हूँ। हो सकता है, वह झूठ बोलता हो, बेईमानी करता हो, लेकिन उसमें कुछ और गुण होंगे जो हमें दिखाई नहीं पड़ते। वह साहसी हो सकता है, बुद्धिमान हो सकता है, एक-एक कदम को समझकर उठाने वाला हो सकता है। उसके एक पहलू को देखकर ही कि वह बेईमान है, आपने निर्णय करना चाहा तो आप गलती कर लेंगे। हो सकता है कि अच्छा आदमी चोरी न करता हो, बेईमानी भी न करता हो, लेकिन वह कायर हो। बुद्धिमान आदमी के लिये अच्छा होना अक्सर मुश्किल हो जाता है। बुद्धिमान आदमी अच्छा होने के लिये मजबूर होता है। मेरी मान्यता है कि सफलता मिलती है साहस से। अगर बुरा आदमी साहसी है तो सफलता ले आयेगा। अच्छा आदमी अगर साहसी है तो वह बुरे आदमी की अपेक्षा हजार गुनी सफलता ले आयेगा। सफलता मिलती है बुद्धिमान से। अगर बुरा आदमी बुद्धिमान है तो उसे सफलता मिलेगी ही। अगर अच्छा आदमी बुद्धिमान है तो उसे हजार गुनी सफलता मिलेगी। लेकिन सफलता अच्छे भर होने से नहीं आती। सफलता आती है, बुद्धिमान से, विचार से, विवेक से। कोई आदमी अच्छा है, मन्दिर जाता है, प्रार्थना करता है, लेकिन उसके पास पैसे नहीं हैं। अब मन्दिर जाने और प्रार्थना करने से पैसा होने का क्या सम्बन्ध ? अगर कोई अच्छा आदमी यह कहे कि मैं सुखी नहीं हूँ, क्योंकि मैं अच्छा हूँ और वह दूसरा आदमी सुखी है क्योंकि वह बुरा है तो अच्छा दीखने वाला वह आदमी बुरे होने का सबूत दे रहा है। वह ईर्ष्या से भरा हुआ आदमी है। बुरे आदमी को जो-जो मिला है वह सब पाना चाहता है और अच्छा रहकर पाना चाहता है। यानी आकांक्षा ही बड़ी बेहूदी है। यदि बुरे आदमी ने दस लाख रुपये कमा लिये तो इसके लिये उसने बुरे होने का सौदा चुकाया, बुरे होने की पीड़ा भेली, बुरे होने का दंश भेला। अच्छा आदमी मन्दिर में पूजा करना चाहता है, घर में बैठना चाहता है और बुरे आदमी को दस लाख रुपये मिले हैं वह भी चाहता है, जब उसे रुपये नहीं मिलते तो कहता है कि मैं अपने पिछले जन्म के बुरे कर्मों का फल भोग रहा हूँ। उसे झूठी सान्त्वना भी मिलती है कि वहाँ वह अगले जन्म में स्वर्ग में होगा वहीं वह बुरा आदमी नरक में।

मैं कहता हूँ कि कर्म का फल तत्काल मिलता है, लेकिन कर्म बहुत जटिल बात

है। साहस भी कर्म है और उसका भी फल होता है। साहसहीन भी कर्म है और उसके भी फल हैं। इसी प्रकार बुद्धिमानी भी कर्म है, बुद्धिहीनता भी कर्म। इनके भी अपने-अपने फल हैं। यदि असफलता के कारण उनके भीतर होंगे तो अच्छे आदमी भी असफल हो सकते हैं। बुरे आदमी भी सुखी हो सकते हैं यदि सुख के कारण उनके भीतर वर्तमान होंगे। किसी और का दुःख तो हमें दिखता नहीं, दुःख सिर्फ अपना और सुख सदा दूसरे का दिखता है। ऐसे ही शुभ कर्म हमें अपना और अशुभ कर्म दूसरे का दिखता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म को शुभ मानता है, क्योंकि इससे उसके अहंकार की तृप्ति होती है। सुख के हम आदी होते जाते हैं, दुःख के कभी आदी नहीं हो पाते। आदमी दूसरे का देखता है अशुभ और सुख, अपना देखता है शुभ और दुःख। उपद्रव हो गया तो वह कर्म-वाद के सिद्धान्त का आश्रय लेता है। मेरी मान्यता यह है कि अगर वह सुख भोग रहा है तो उसमें कुछ ऐसा जरूर है जो सुख का कारण है, क्योंकि अकारण कुछ भी नहीं होता। अगर एक डाकू सुखी है तो उसका भी कारण है। साधु के दुःखी होने का भी कारण है। अगर दस डाकू साथ होंगे तो उनमें इतना भाई-चारा होगा जितना दस साधु में कभी सुना नहीं गया। लेकिन अगर दस डाकूओं में मित्रता है तो वे मित्रता के सुख अवश्य भोगेंगे, लेकिन साधु एक दूसरे से बिल्कुल भूठ बोलते रहेंगे। तब सच बोलने का जो सुख है वह साधु नहीं भोग सकता।

अन्त में मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि अकस्मात् कुछ भी नहीं होता। यदि कुछ घटनाओं को अकस्मात् होता मान लें तो कार्य-कारण का सिद्धान्त व्यर्थ हो जाता है। यहाँ तक कि लाटरी भी किसी को अकस्मात् नहीं मिलती। हो सकता है कि जिन लाख लोगों ने लाटरी लगाई उनमें सबसे ज्यादा संकल्प वाला आदमी वही हो जिसे लाटरी मिली। ऐसे ही हजार कारण हो सकते हैं जो हमें दीख नहीं पड़ते। वस्तुतः उस घटना को ही अकस्मात् कहते हैं जिसके कारण का हमें पता नहीं होता। ऐसी घटनाएं होती हैं जिनका कारण हमारी समझ में नहीं आता। जीवन सचमुच बहुत जटिल है। इसमें कोई घटना कैसे घटित हो रही है यह ठीक-ठीक कहना एकदम मुश्किल है, लेकिन इतना तो निश्चित है कि जो घटना हो रही है उसके पीछे कोई न कोई कारण है, चाहे वह ज्ञात हो या अज्ञात। कर्म के सिद्धान्त का बुनियादी आधार यह है कि अकारण कुछ भी नहीं होता। दूसरा बुनियादी आधार यह है कि जो हम कर रहे हैं वही भोग रहे हैं और उसमें जन्मों के फासले नहीं हैं। हमें जानना चाहिये कि हम जो भोग रहे हैं, उसके लिए हमने कुछ उपाय किया है, चाहे सुख हो या दुःख, चाहे शान्ति हो या अशान्ति।



एक महात्मा से किसी ने पूछा कि भगवन् ! मनुष्य के लिए भजन मुख्य है अथवा कर्त्तव्य पालन मुख्य है ? सभी धर्म बतलाते हैं कि ईश्वर का भजन जीवन के लिए अति आवश्यक है पर विद्वान्, ज्ञानी और कर्मशील व्यक्ति यही बताते हैं कि कर्म ही पूजा है । वास्तविकता क्या है ?

महात्मा ने बताया कि मनुष्य का मुख्य धर्म अपना कर्त्तव्य करना ही है । जिन्होंने 'गीता' का कुछ अध्ययन किया है, वे यही जानते हैं कि बिना फल की इच्छा रखते हुए, बिना आसक्ति या मोह के कर्म करना ही मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ धर्म है । संसार में हर बुद्धिमान प्राणी अच्छे कर्म करना चाहता है, सत्य बोलना चाहता है, किसी को कष्ट नहीं पहुँचाना चाहता, चोरी नहीं करना चाहता, पवित्र रहना चाहता है, सुखी व शांत रहना चाहता है, किसी से ईर्ष्या या द्वेष नहीं रखना चाहता, क्रोध से दूर रहना पसंद करता है, काम को बुरा मानता है, लोभी व लालची मनुष्य को बुरा समझता है, संसार में मोह रखना व्यर्थ मानता है । पर यह सब चाहते हुए भी व जीवन में इन गुणों की उपयोगिता समझते हुए भी, क्या उसका आचरण उसके चाहे अनुकूल हो पाता है ? मनुष्य अनजाने में, अनचाहे, परिस्थिति वश, किसी कारण वश कैसे-कैसे कुकृत्य कर बैठता है जिन्हें वह स्वप्न में भी करने से भिन्नकता है । आखिर क्यों ?

इसका कारण यही है कि हमने ईश्वर का ध्यान नहीं किया । इन चीजों को हमने ऊपरी मन से, बाहरी मन से तो करना चाहा पर मन में शक्ति थी नहीं, इसलिए हम इन्हें पूरा नहीं कर पाए । महात्मा गाँधी का उदाहरण हमारे सामने है । एक दुबला-पतला आदमी बिना हथियार विदेशी सरकार के कानून तोड़ता रहा क्योंकि उसके मन में ईश्वर की शक्ति थी । उन्होंने लिखा है कि—  
“मैं अपने हर दिन का कार्य ईश्वर भजन से प्रारम्भ करता हूँ, पूरे दिन का भावी कार्यक्रम भी उसी ईश्वर की प्रेरणा से निश्चित करता हूँ, उसी राम के प्रकाश में मुझे यह भी दीख जाता है कि इस कार्य को पूरा करने का, असली जामा पहिनाने का रास्ता क्या है ? और फिर इस प्रकार सुनिश्चित कर्त्तव्य को पालन करने की शक्ति भी मुझे मेरे राम से मिलती है, मेरा राम नाम सब बीमारियों की अचूक औषधि है ।”

कर्त्तव्य के ठीक-ठीक निभाने के लिए ही ईश्वर-उपासना की आवश्यकता है और अगर थोड़ा आगे सोचा जाए तो कर्त्तव्य के पालन को तो दूर, कर्त्तव्य के ठीक-ठीक ज्ञान के लिए भी परमात्मा का भजन करना प्रथम और अनिवार्य शर्त है। कर्त्तव्य पालन करने के लिए तीन बातें आवश्यक हैं :—

१. सही कर्त्तव्य का ज्ञान ।
२. कर्त्तव्य पालन करने या निभाने के सही रास्ते का ज्ञान ।
३. कर्त्तव्य पालन करने के लिए शक्ति ।

इन बातों का जीवन में आना ईश्वर की उपासना से ही संभव है। सच तो यह है कि कर्त्तव्य पालन को हम जितना आसान समझ बैठे हैं उतना बिना ईश्वर भजन के—आसान नहीं। कर्त्तव्य की बलिवेदी पर बलिदान होना बच्चों का खिलवाड़ नहीं, मात्र पुस्तकीय ज्ञान, पांडित्य व विद्वता से संभव नहीं।

ईश्वर के ध्यान से जब मनुष्य के विचार शांत होने लगते हैं, तो आत्म-निरीक्षण द्वारा मनुष्य को अपनी कमियाँ दिखने लगती हैं। ध्यान से छोटी-से-छोटी कमी भी उभर कर सामने आ जाती है और मनुष्य उसे दूर करने की सोचता है। ध्यान करते-करते मन में मलिन संस्कार दग्ध होते रहते हैं, मन साफ होने लगता है, विचार पवित्र होते हैं, बुद्धि तीव्र होती है, धिवेक प्रबल होने लगता है और आत्मा का प्रकाश मन में फैलने लगता है। ऐसे धर्म के प्रकाश में ही मनुष्य को सही कर्त्तव्य का ज्ञान होता है। सूर्य के प्रकाश में किये गए फैसले गलत हो सकते हैं, परन्तु ईश्वर के प्रकाश में अंधे भी सही निर्णय करते हैं।

अपने कर्त्तव्य का बोध या ज्ञान हो जाने के पश्चात् उसे निभाने के सही रास्ते का ज्ञान भी होना चाहिए। यदि कर्त्तव्य पालन करने का रास्ता ठीक नहीं है अथवा अन्यायपूर्ण है तो निश्चय ही कर्त्तव्य-पालन से जो शांति व आनन्द हमें मिलना चाहिए, वह नहीं मिल सकेगा।

हम संसार में अक्सर देखते हैं कि कर्त्तव्य का बोध होने के बावजूद व सही रास्ता मालूम होने के बावजूद कई मनुष्य कर्त्तव्य करने से चूक जाते हैं। उनमें हिम्मत नहीं होती। वे परिस्थितियों से या स्वार्थवश घबरा जाते हैं। अतः कर्त्तव्य परायणता की आवश्यकता होती है, वह भी ईश्वर के गहरे ध्यान से ही प्राप्त होती है। ईश्वर का ध्यान करते-करते जब मनुष्य के हृदय में भगवान् बस जाता है तो उसमें स्वतः आत्म-शक्ति का, अदम्य साहस का, पूर्ण निर्भयता का भी विकास होता है। गाँधीजी ने अपने रोम-रोम में राम को

बसा लिया था, इसलिए कर्त्तव्य-मार्ग पर हमेशा डटे रहे व निर्भयता से आगे बढ़ते रहे ।

अतः मनुष्य को रोजाना प्रातः एवं सायं ईश्वर के ध्यान द्वारा उनकी समीपता प्राप्त करनी चाहिए जिससे कि सच्चा ज्ञान मिलता रहे, कर्त्तव्य-बोध होता रहे एवं विवेक जागृत होता रहे व आत्मा सशक्त एवं बलवान बनती रहे । अन्य समय में, प्रातः उठते समय, रात को सोते समय, कोई वस्तु खाते या पीते समय, अकेले घूमते समय, फालतू क्षणों में मनुष्य को मानसिक चिंतन के द्वारा ईश्वर का स्मरण करते रहना चाहिए, समीपता प्राप्त करते रहना चाहिए व ईश्वर से ज्ञान का प्रकाश, शांति, आनन्द प्राप्त करते रहना चाहिए । ईश्वर तो वास्तव में तत्त्व है, एक शक्ति है जिसका न कोई नाम है न रूप, जो हमने रख लिया या मान लिया वही ठीक है । वही ईश्वर शक्ति हमारे मन के संस्कारों को साफ करेगी, संसार के गंदे विचारों की धूल साफ करेगी । उससे हमारा मन का शीशा साफ रहेगा व हमें सही कर्त्तव्य-बोध होता रहेगा । ज्ञान और विवेक के जागृत होने के साथ-साथ ईश्वरीय शक्ति भी ध्यान के द्वारा खींचनी होगी ताकि हम कर्त्तव्य निभाने में सफल हो सकें ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि कर्म अथवा कर्त्तव्य ही सच्ची पूजा है परन्तु बिना ध्यान या ईश्वर-उपासना के न तो सही कर्त्तव्य का ज्ञान हो सकता है, न उसके निभाने के सही रास्ते का ज्ञान हो पाएगा और न ही कर्त्तव्य-पालन हेतु शक्ति प्राप्त हो सकेगी । □

□ प्रत्येक कर्त्तव्य-कर्म अपने-अपने स्थान पर महान हैं, परन्तु कब ? जब कर्म के पीछे जो भाव हैं वह पवित्र हो, भाव के पीछे जो ज्ञान हैं वह उद्देश्य-पूर्ति में हेतु हो और उद्देश्य वह हो जिसके आगे और कोई उद्देश्य न हो । अतः प्रत्येक कर्त्तव्य-कर्म द्वारा अपने वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति अनिवार्य हैं ।

□ अपवित्र उपाय से पवित्र उद्देश्य-पूर्ति की आशा करना भूल है, क्योंकि की हुई अपवित्रता मिटाई नहीं जा सकती और उसके परिणाम से बचा नहीं जा सकता अपितु अपवित्र उपाय का परिणाम पवित्रतम उद्देश्य को मलीन बना देगा । अतः पवित्रतम उद्देश्य की पूर्ति के लिए पवित्र उपाय का ही अनुसरण अनिवार्य हैं ।

कर्मवाद को सिद्धान्त माना जाए या दर्शन, इसमें मतभेद हो सकता है। मैं उसे एक वाद या विचार मानता हूँ, क्योंकि वह जड़ और चेतन के बंध और मोक्ष की प्रक्रिया का विचार करता है। विकास की प्रारम्भिक स्थितियाँ पार कर, जब मानव जाति ने सामाजिक जीवन शुरू किया और आर्थिक तथा राजनैतिक दृष्टियों से उसमें ठहराव आया तो भाषा के साथ उसमें विचार चेतना विकसित हुई। सृष्टि और जन्म-मृत्यु के रहस्यों को जानने की तीव्र इच्छा में कई प्रश्न खड़े कर दिए। जैसे यह सृष्टि अपने आप बनी, या किसी ने इसे बनाया? उसका कारोबार स्वतः चल रहा है, या वह किसी अदृश्य शक्ति से नियंत्रित है? जीव क्या है, कहाँ से आता है, और कहाँ जाता है? वह स्वतंत्र तात्त्विक इकाई है, या कई तत्त्वों का मिश्रण है? उसमें इच्छाएँ क्यों पैदा होती हैं, वे अपने आप पैदा होती हैं या कोई पैदा करता है? आहार, निद्रा, भय और मैथुन की जैविक आवश्यकताएँ क्यों जीव के साथ जुड़ी हैं? आदमी इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जितने उपकरण जुटाता है, वे उतनी ही फेल-फैलाती जाती हैं, पूर्ति के संतोष के स्थान पर अपूर्ति का असंतोष तीव्रतर होता जाता है, पूर्ति के साधनों की होड़ में शोषण की सभ्यता शुरू हो जाती है। उसने जानना चाहा कि क्या आहार, निद्रा की दैनिक भङ्गटों वाले तथा जन्म-मृत्यु की काराओं में बंद जीवन के स्थान पर ऐसा जीवन पाया जा सकता है, जहाँ सब कुछ अनंत हो, प्रचुर हो, स्वकेन्द्रित हो, आनन्दमय हो?

इस प्रकार अनंत और शाश्वत जीवन की खोज में मनुष्य ने पाया कि इच्छामय जीवन से छुटकारे के बाद ही, शाश्वत जीवन पाया जा सकता है। अपने विचारों को निश्चित दिशा देने के लिए उसने कुछ पूर्व कल्पनाएँ कीं। किसी ने माना कि सृष्टि और जीव किसी नियंता के अधीन हैं, वही इनसे मुक्ति दिला सकता है, इसलिए उसका साक्षात्कार जरूरी है। दूसरे ने माना कि यह सृष्टि एक सनातन प्रवाह है जिसका न आदि है और न अंत। प्रवाह के कारणों को रोक देने से, आत्मा प्रवाह से मुक्त होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। कुछ ने यह माना कि आत्मा कुछ और नहीं, कई तत्त्वों के मेल से बनी इच्छा की ज्वाला है, दीपक की लौ की तरह उसका शांत हो जाना ही उसकी

चरम स्थिति या निर्वाण है । लेकिन ये विचार, किसी पूर्व कल्पना (Prothesis) को मूल मानकर चलते हैं, जिसके बारे में सभी दार्शनिकों का विचार है कि वह ईश्वर या सर्वज्ञ के द्वारा दृष्ट सत्य है, यह सत्य हो सकता है, परन्तु इस सत्य को पाने की प्रक्रिया का विचार करने वालों के लिए वह, एक पूर्वकल्पित सत्य ही होगा, क्योंकि वे यह दावा नहीं करते कि उन्होंने उक्त सत्य का साक्षात्कार कर लिया है ।

जैन दर्शन के विचारक भी यह मानकर चलते हैं कि सृष्टि और उसमें जड़ चेतन का मिश्रण अनादि निधन है, यानी वह प्रारम्भ हीन सतत प्रवाह है । जीवन की सारी विषमताएँ और समस्याएँ—इसी मिश्रण की प्रतिक्रियाएँ हैं, वे वैभाविक परिणतियाँ हैं, राग चेतना की निष्पत्तियाँ हैं, जो जीव के साथ इतनी घुल-मिल गई हैं कि 'जीव' इन्हीं के माध्यम से अपने को पहचानता है । उसकी यह पहचान जितनी गाढ़ी होती है, उसे सुख-दुःख की अनुभूति उतनी ही तीव्रतर होती है । रागात्मक परमाणु चेतना के प्रत्येक गुण पर आवरण डाल देते हैं, और वह दुःखी हो उठती है, अनुकूल स्थिति में सुखी भी होती है । इस प्रकार व्यक्ति के सुख-दुःख का कारण, उसी में है न कि समाज या बाहरी परिस्थितियों में । अपने सुख-दुःख का कर्ता और भोक्ता व्यक्ति स्वयं है, जिन कर्मों से यह होता है, उनका कर्ता वह स्वयं है । इस प्रकार ऊपर से देखने पर कर्मवाद—व्यक्ति को करने की स्वतंत्रता देता है और उससे मुक्त होने का अधिकार भी । परन्तु मूलतः यह प्रक्रिया अत्यन्त जटिल है, और एक बार जीव जब कर्म के जंजाल में फँस जाता है (या फँसा दिया गया है) तो उससे छूटना आसान नहीं है । फिर भी कर्मवाद में व्यक्ति को मुक्त होने की स्वतंत्रता है । लेकिन यह सारी विचारधारा, समाज निरपेक्ष विचारधारा है, जो मनुष्य को लौकिक दृष्टि से उदासीन और आत्म केन्द्रित बना देती है, उस पर यह बहुत बड़ा आक्षेप है । यह प्रवृत्ति मनुष्य को अकर्मण्य और सामाजिक संघर्ष से निरपेक्ष बना देती है, जबकि आधुनिक चिंतन इस विचारधारा को समाज के लिए अत्यंत खतरनाक मानता है ।

वास्तव में देखा जाए तो दूसरे भारतीय दर्शनों की तरह जैन कर्मवाद भी इसी प्रवृत्ति का पोषक है । यानी उसके अनुसार व्यक्ति के नैतिक विकास से समाज और राष्ट्र का विकास स्वतः हो जाएगा । यह मान्यता, इतिहास के उतार-चढ़ाव में कई बार झुठलाई जा चुकी है । इससे बड़ी विडम्बना और क्या हो सकती है कि आत्म स्वातंत्र्य की अलख जगाने वाला देश सहस्राब्दियों तक भौतिक गुलामी की बेड़ियों में जकड़ा रहा, जिसकी दूसरी मिसाल नहीं मिलती ।

आधुनिक चिंतन की परिभाषा को लेकर चाहे जो मतभेद हों, परन्तु



यह सब स्वीकारते हैं कि सुख-दुःख, गरीबी-अमीरी के कारण हमारी समाज व्यवस्था और अर्थ-व्यवस्था में मौजूद हैं। पुण्य-पाप, ऊँच-नीच के विचार को सामाजिक न्याय में आड़े नहीं आना चाहिए। परन्तु वह आता है। जैन कर्मवाद, इस सम्बन्ध में यथास्थिति वाद को स्वीकार करके चलता है। सबसे बड़ा आक्षेप यह है कि कर्मवाद दृश्य समस्याओं के लिए अदृश्य कारणों को जिम्मेदार मानता है। दूसरा आक्षेप यह है कि कर्म प्रक्रिया इतनी जटिल है कि वह सामान्य बुद्धि के परे है। कर्मवाद का प्रयोग व्यक्ति स्तर पर किया गया, वह भी मोक्ष की प्राप्ति के लिए। संसार या समाज व्यवस्था को बदलने की दिशा में उक्त वाद का कभी प्रयोग नहीं किया गया। यह भूलना भयावह होगा कि कर्मवाद जीवन की स्वीकृति है, उससे पलायन नहीं, वीतरागता का मार्ग रागात्मकता में से गुजरता है, मोक्ष, रागवृक्ष का फल है, फल पाने के लिए वृक्ष की पूरी संरचना की उपेक्षा का वही परिणाम होगा जो हम देख रहे हैं।



- प्रत्येक कर्म ही कर्ता का चिह्न है। अतः कर्ता की सुन्दरता तथा अमुन्दरता का परिचय उसके किये हुए कर्म से ही व्यक्त होता है, सुन्दर कर्ता के बिना सुन्दर कार्य सम्भव नहीं है। कर्ता वही सुन्दर हो सकता है कि जिसका कर्म 'पर' के लिए हितकर सिद्ध हो तथा किसी के लिए अहितकर न हो। अतः कार्यारम्भ से पूर्व यह विकल्प-रहित निर्णय कर लेना चाहिये कि उस कार्य का मानव-जीवन में स्थान ही नहीं है जो किसी के लिए भी अहितकर है। अहितकर कार्य का अर्थ है कि जो किसी के विकास में बाधक हो।
- प्राप्त परिस्थिति के अनुसार कर्तव्य-पालन का दायित्व तब तक रहता ही है जब तक कर्ता के जीवन से अमुद्ध तथा अनावश्यक संकल्प नष्ट न हो जाय, आवश्यक तथा मुद्ध संकल्प पूरे होकर मिट न जाय, सहज भाव से निर्विकल्पता न आ जावे, अपने आप आर्या हुई निर्विकल्पता से असंगत न हो जाय तथा असंगतापूर्वक प्राप्त स्वाधीनता को समर्पित कर जीवन प्रेम से परिपूर्ण न हो जाय। कर्तव्य-पालन से अपने को बचाना भूल है। अतः प्राप्त परिस्थिति के अनुरूप मानव को कर्तव्यनिष्ठ होना अनिवार्य है।

आध्यात्मिक दृष्टि से कर्म सिद्धान्त पर बड़ी गहराई से विचार हुआ है। उसके सामाजिक संदर्भों की प्रासंगिकता पर भी विचार करना अपेक्षित है।

आध्यात्मिक दृष्टि से व्यक्ति माया के कारण अपना प्रकृत स्वभाव भूल जाता है। राग-द्वेष से प्रमत्त जीव इन्द्रियों के वशीभूत होकर मन, वचन, काय से कर्मों का संचय करता है। जैसे दूध और पानी परस्पर मिल जाते हैं, वैसे ही कर्म-पुद्गल के परमाणु आत्म-प्रदेशों के साथ संश्लिष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार लोह-पिंड को अग्नि में डाल देने पर उसके कण-कण में अग्नि परिव्याप्त हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा के असंख्यात प्रदेशों पर अनन्त-अनन्त कर्म वर्गीणा के पुद्गल संश्लिष्ट हो जाते हैं।

जीव अनादि काल से संसारी है। दैहिक स्थितियों से जकड़ी हुई आत्मा के क्रियाकलापों में शरीर (पुद्गल) सहायक एवं बाधक होता है। आत्मा का गुण चैतन्य और पुद्गल का गुण अचैतन्य है। आत्मा एवं पुद्गल भिन्न धर्मी हैं फिर इनका अनादि प्रवाही सम्बन्ध है। आत्मा एवं शरीर के संयोग से “वैभाविक गुण” उत्पन्न होते हैं। ये हैं—पौद्गलिक मन, श्वास—प्रश्वास, आहार, भाषा। ये गुण न तो आत्मा के हैं और न शरीर के हैं। दोनों के संयोग से ही ये उत्पन्न होते हैं। मनुष्य की मृत्यु के समय श्वास—प्रश्वास, आहार एवं भाषा के गुण तो समाप्त हो जाते हैं किन्तु पुद्गल-कर्म के आत्म-प्रदेशों के साथ संश्लिष्ट हो जाने के कारण एक “पौद्गलिक शरीर” उसके साथ निर्मित हो जाता है जो देहान्तर करते समय उसके साथ रहता है।

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द रूप मूर्त-पुद्गलों का निमित्त पाकर अर्थात् शरीर की इन्द्रियों द्वारा विषयों का ग्रहण करने पर आत्मा राग-द्वेष एवं मोह रूप में परिणामन करती है। इसी से कर्मों का बन्धन होता है। कर्मों का उत्पादक मोह तथा उसके बीज राग एवं द्वेष हैं। कर्म की उपाधि से आत्मा का शुद्ध स्वभाव आच्छादित हो जाता है। कर्मों के बन्धन से आत्मा की विरूप अवस्था हो जाती है। बन्धनों का अभाव अथवा आवरणों का हटना ही मुक्ति है। मुक्ति की दशा में आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप अवस्था में स्थित हो जाती है।

इस तथ्य को भारतीय-दर्शन स्वीकार करते हैं। आत्मा के "आवरणों" को भिन्न नामों द्वारा व्यक्त किया गया है किन्तु मूल अवधारणा में अन्तर नहीं है। आत्मा के आवरण को जैन दर्शन कर्म-पुद्गल, बौद्ध-दर्शन तृष्णा एवं वासना, वेदान्त-दर्शन अविद्या-अज्ञान के कारण माया तथा योग-दर्शन 'प्रकृति' के नाम से अभिहित करते हैं।

आवरणों को हटाकर मुक्त किस प्रकार हुआ जा सकता है? कर्त्तवादी-सम्प्रदाय परमेश्वर के अनुग्रह, शक्तिपात, दीक्षा तथा उपाय को इसके हेतु मान लेते हैं। जो दर्शन जीव में ही कर्मों को करने की स्वातंत्र्य शक्ति मानकर जीवात्मा के पुरुषार्थ को स्वीकृति प्रदान करते हैं तथा कर्मानुसार फल-प्राप्ति में विश्वास रखते हैं, वे साधना-मार्ग तथा साधनों पर विश्वास रखते हैं। कोई शील, समाधि तथा प्रज्ञा का विधान करता है, कोई श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन का उपदेश देता है। जैन दर्शन सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र्य के सम्मिलित रूप को मोक्ष-मार्ग का कारण मानता है।

इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि जो कर्म करता है, वही उसका फल भोगता है। जो जैसा कर्म करता है उसके अनुसार वैसा ही कर्म-फल भोगता है। इसी कारण सभी जीवों में आत्म शक्ति होते हुए भी वे कर्मों की भिन्नता के कारण जीवन की नानागतियों, योनियों, स्थितियों में भिन्न रूप में परिभ्रमित हैं। यह कर्म का सामाजिक संदर्भ है। सामाजिक स्तर पर 'कर्मवाद' व्यक्ति के पुरुषार्थ को जागृत करता है। यह उसे सही मायने में सामाजिक एवं मानवीय बनने की प्रेरणा प्रदान करता है। उसमें नैतिकता के संस्कारों को उपजाता है। व्यक्ति को यह विश्वास दिलाता है कि अच्छे कर्म का फल अच्छा होता है तथा बुरे कर्म का फल बुरा होता है। राग-द्वेष वाला पापकर्मी जीव संसार में उसी प्रकार पीड़ित होता है जैसे विषम मार्ग पर चलता हुआ अन्धा व्यक्ति। प्राणी जैसे कर्म करते हैं, उनका फल उन्हें उन्हीं के कर्मों द्वारा स्वतः मिल जाता है। कर्म के फल भोग के लिए कर्म और उसके करने वाले के अतिरिक्त किसी तीसरी शक्ति की आवश्यकता नहीं है। समान स्थितियों में भी दो व्यक्तियों की भिन्न मानसिक प्रतिक्रियाएँ कर्म-भेद को स्पष्ट करती हैं।

कर्म वर्गणा के परमाणु लोक में सर्वत्र भरे हैं। हमें कर्म करने ही पड़ेंगे। शरीर है तो क्रिया भी होगी। क्रिया होगी तो कर्म-वर्गणा के परमाणु आत्म-प्रदेश की ओर आकृष्ट होंगे ही। तो क्या हम क्रिया करना बन्द कर दें? क्या फिर कोई व्यक्ति जीवित रह सकता है? क्या ऐसी स्थिति में सामाजिक जीवन चल सकता है? खेती कैसे होगी? कल कारखाने कैसे चलेंगे? वस्तुओं का उत्पादन कैसे होगा? क्या कर्म हीन स्थिति में कोई जिन्दा रह सकता है।

कर्म का मूल क्षण हिंसा है। अहिंसा से बढ़कर दूसरी कोई साधना नहीं है। इसी अहिंसा के व्यावहारिक जीवन में पालन करने के सम्बन्ध में भगवान् महावीर के समय में भी जिज्ञासायें उठी थीं। जल में जीव हैं, स्थल पर जीव हैं, आकाश में भी सर्वत्र जीव हैं। जीवों से ठसाठस भरे इस लोक में भिक्षु अहिंसक कैसे रह सकता है? हमें कर्म करने ही पड़ेंगे। मार्ग में चलते हुए अनजाने यदि कोई जीव अहृत हो जावे तो क्या वह हिंसा हो जावेगी? यदि वह हिंसा है तो क्या हम अकर्मण्य हो जावें? क्रिया करनी बन्द कर दें? ऐसी स्थिति में समाज का कार्य किस प्रकार सम्पन्न हो सकता है?

महावीर ने इन जिज्ञासाओं का समाधान किया। उन्होंने अहिंसा के प्रतिपादन द्वारा व्यक्ति के चित्त को बहुत गहरे से प्रभावित किया। उन्होंने लोक के जीव मात्र के उद्धार का वैज्ञानिक मार्ग खोज निकाला। उन्होंने संसार में प्राणियों के प्रति आत्मतुल्यता-भाव की जागृति का उपदेश दिया, शत्रु एवं मित्र सभी प्राणियों पर समभाव की दृष्टि रखने का शंखनाद किया।

यहाँ आकर आध्यात्मिक दृष्टि एवं सामाजिक दृष्टि परस्पर पूरक हो जाती हैं। आत्मा का साक्षात्कार करना है। आप क्या हैं? "मैं"। इस "मैं" को जिस चेतना शक्ति के द्वारा जानते हैं, वही आत्मा है। बाकी अन्य सभी "पर" हैं। अपने को अन्यो से निकाल लो—शुद्ध आत्मा के स्वरूप में स्थित हो जाओ। आत्म साक्षात्कार का दूसरा रास्ता भी है। अपने को अन्य सभी में बाँट दो। समस्त जीवों पर मंत्रीभाव रखो। सम्पूर्ण विश्व को समभाव से देखने पर साधक के लिए न कोई प्रिय रह जाता है न कोई अप्रिय। अपने को अन्यो में बाँट देने पर आत्म तुल्यता की क्षतीति होती है। जो साधक आत्मा को आत्मा से जान लेता है, वह एक को जानकर सबको जान लेता है। एक को जानना ही सबको जानना है तथा सबको समभाव से जानना ही अपने को जानना है। दोनों ही स्थितियाँ केवल नामान्तर मात्र हैं। दोनों में ही राग-द्वेष के प्रसंगों में सम की स्थिति है, राग एवं द्वेष से अतीत होने की प्रक्रिया है। राग-द्वेष हीनता धार्मिक बनने की प्रथम सीढ़ी है। इसी कारण भगवान् महावीर ने कहा कि भव्यात्माओं को चाहिए कि वे समस्त संसार को समभाव से देखें। किसी को प्रिय एवं किसी को अप्रिय न बनावें। शत्रु अथवा मित्र सभी प्राणियों पर समभाव की दृष्टि रखना ही अहिंसा है।

समभाव एवं आत्मतुल्यता की दृष्टि का विकास होने पर व्यक्ति अपने आप अहिंसक हो जाता है। इसका कारण यह है कि प्राणी मात्र जीवित रहने की इच्छा रखते हैं। सबको अपना जीवन प्रिय है। सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। सभी प्राणियों को दुःख अप्रिय है। इस कारण किसी

भी प्राणी को मारना तथा दुःख पहुँचाना हिंसा है तथा किसी भी प्राणी को न मारना तथा उसे दुःख न पहुँचाना ही अहिंसा है ।

इसका व्यक्ति की मानसिकता के साथ सम्बन्ध है । इस कारण महावीर ने कहा कि अप्रमत्त आत्मा अहिंसक है । एक किसान अपनी क्रिया करते हुए यदि अनजाने जीव हिंसा कर भी देता है तो भी हिंसा की भावना उसके साथ जुड़ती नहीं है । भले ही हम किसी का वध न करें, किन्तु किसी का वध करने का विचार यदि हमारे मस्तिष्क में आ जाता है तो उसका सम्बन्ध हमारी मानसिकता से सम्पृक्त हो जाता है ।

इसी कारण कहा गया है कि राग-द्वेष का अप्रादुर्भाव अहिंसा एवं उसका प्रादुर्भाव हिंसा है । राग-द्वेष रहित प्रवृत्ति में अशक्य कोटि के प्राणियों का प्राणवध हो जाए तो भी नैश्चयिक हिंसा नहीं होती, राग-द्वेष सहित प्रवृत्ति से प्राणवध न होने पर भी हिंसा होती है ।

हिंसा अघर्म का प्रतीक है तथा अहिंसा धर्म का । हिंसा से पाशविकता का जन्म होता है, अहिंसा से मानवीयता एवं सामाजिकता का । दूसरों का अनिष्ट करने की नहीं, अपने कल्याण के साथ-साथ दूसरों का भी कल्याण करने की प्रवृत्ति ने मनुष्य को सामाजिक एवं मानवीय बनाया है । प्रकृति से वह आदमी है । संसारी है । राग-द्वेष युक्त है । कर्मों के बन्धनों से जकड़ा हुआ है । उसके जीवन में राग के कारण लोभ एवं काम की तथा द्वेष के कारण क्रोध एवं वैर की वृत्तियों का संचार होता है । लोभ के कारण बाह्य पदार्थों में हमारी आसक्ति एवं अनुरक्ति बढ़ती जाती है । काम से माया एवं मोह बढ़ता है । माया से दम्भ अहंकार एवं प्रमाद बढ़ता है । मोह से आसक्त अज्ञानी साधक विपत्ति आने पर धर्म के प्रति अवज्ञा करते हुए पुनः पुनः संसार की ओर लौट पड़ते हैं । क्रोध एवं वैर के कारण संघर्ष एवं कलह का वातावरण पनपता है । एक ओर अहंकार से क्रोध उपजता है, दूसरी ओर अहंकार के कारण क्रोध का विकास होता है । क्रोध के अभ्यास से व्यक्ति का विवेक नष्ट हो जाता है । उसका जीवन दर्शन विध्वंसात्मक हो जाता है । उसकी मानवीयता एवं सामाजिकता नष्ट हो जाती है ।

धार्मिक चेतना एवं नैतिकता बोध से व्यक्ति में मानवीय भावना का विकास होता है । उसका जीवन सार्थक होता है ।

आज व्यक्ति का धर्मगत आचरण पर से विश्वास उठ गया है । पहले के व्यक्ति की जीवन की निरन्तरता एवं समग्रता पर आस्था थी । उसका यह विश्वास था कि व्यक्ति के कर्म का प्रभाव उसके अगले जन्म पर पड़ता है । वह यह मानता था कि वर्तमान जीवन की हमारी सारी समस्याएँ हमारे अतीत के

जीवन के कर्मों का फल है। वर्तमान जीवन के आचरण के द्वारा हमारे भविष्य का स्वरूप निर्धारित होगा। वह वर्तमान जीवन को साधन तथा भविष्य को साध्य मानकर चलता था। पुनर्जन्म के विश्वास की आधार भूमि पर ही 'कर्मों के फल' के सिद्धान्त का प्रवर्तन हुआ।

आज के व्यक्ति की दृष्टि 'वर्तमान' को ही सुखी बनाने पर है। वह अपने वर्तमान को अधिकधिक सुखी बनाना चाहता है। अपनी सारी इच्छाओं को इसी जीवन में तृप्त कर लेना चाहता है। आज का मानव संशय और द्विधा के चौराहे पर खड़ा है। वह सुख की तलाश में भटक रहा है। धन बटोर रहा है। भौतिक उपकरण जोड़ रहा है। वह अपना मकान बनाता है। आलीशान इमारत बनाने के स्वप्न को मूर्तिमान करता है। मकान सजाता है। सोफासेट, वातानुकूलित व्यवस्था, मँहगे पर्दे, प्रकाश-ध्वनि के आधुनिकतम उपकरण एवं उनके द्वारा रचित मोहक प्रभाव। उसको यह सब अच्छा लगता है। जिन लोगों को जिन्दगी जीने के न्यूनतम साधन उपलब्ध नहीं हो पाते वे संघर्ष करते हैं। आज वे अभाव का कारण अपने विगत कर्मों को न मानकर सामाजिक-व्यवस्था को मानते हैं। समाज से अपेक्षा रखते हैं कि वह उन्हें जिन्दगी जीने की स्थितियाँ मुहैया करावे। यदि ऐसा नहीं हो पाता तो वे आज हाथ पर हाथ धरकर बैठने के लिए तैयार नहीं हैं। वे सारी सामाजिक व्यवस्था को नष्ट-भ्रष्ट कर देने के लिए बेताब हैं।

व्यक्ति के चिन्तन को फ्रायड एवं मार्क्स दोनों ने प्रभावित किया है। फ्रायड ने व्यक्ति की प्रवृत्तियों एवं सामाजिक नैतिकता के बीच 'संघर्ष' एवं 'द्वन्द्व' को अभिव्यक्त किया है। उसकी दृष्टि में 'सैक्स' सर्वाधिक प्रमुख है। इसी एकांगी दृष्टिकोण से जीवन को विश्लेषित एवं विवेचित करने का परिणाम 'कीन्से रिपोर्ट' के रूप में सामने आया। इस रिपोर्ट ने सैक्स के मामले में मनुष्य की मनःस्थितियों का विश्लेषण करके 'नार्मल आदमी' के व्यवहार के मानदण्ड निर्धारित किए। संयम की सीमायें टूटने लगीं। भोग का अतिरेक सामान्य व्यवहार का पर्याय बन गया। जिनके जीवन में यह अतिरेक नहीं था उन्होंने अपने को मनोरोगी मान लिया। सैक्स-कुंठाओं के मनोरोगियों की संख्या बढ़ती गयी।

मनोविज्ञान भी चेतना के ऊर्ध्व आरोहण में विश्वास रखता है। प्रेम से तो संतोष, विश्वास, अनुराग एवं आस्था प्राप्त होती है। किन्तु पाश्चात्य जीवन ने तो प्रेम का अर्थ इन्द्रियों की निर्बाध तृप्ति मान लिया। 'प्रेम' को निरर्थक करार दे दिया गया। 'वासना' तृप्ति ही जिन्दगी का लक्ष्य हो गया। प्रेम में तो मधुरिमा और त्याग होता है। अब हैवानियत एवं भोग की बाढ़ आ गयी। परिवार की व्यवस्थायें टूटने लगीं। एकनिष्ठ प्रेम का आदर्श समाप्त होने लगा।

वे भूल गए कि प्रेम में सौन्दर्य चेतना के लिए एकनिष्ठता आवश्यक है। मनुष्य ने अपने को पशु जगत् से भिन्न 'मानव' बनाया था, समाज का निर्माण किया था, काम भाव का संयमीकरण किया था, स्वपत्नी द्वारा, काम वासना की संतुष्टि की प्रक्रिया द्वारा ब्रह्मचर्य की सामाजिक व्यवस्था का आदर्श निर्मित किया था। वह सुखी था। उसकी जिन्दगी में अपने प्रेम के आलम्बन के प्रति विश्वास रहता था। उसने इस सत्य को खोज निकाला था कि सम्भोग-सुख की पूर्ण अनुभूति एवं तृप्ति के लिए भी इन्द्रिय-नियंत्रण आवश्यक है।

इस परिवर्तन से क्या व्यक्ति को सुख प्राप्त हो सका है? परिवार के सदस्यों में पहले परस्पर जो प्यार एवं विश्वास पनपता था उसकी निरन्तर कमी होती जा रही है। जो सदस्य भावना की पवित्र डोरी से बँधे रहते थे, वह टूटती जा रही है। पहले पति-पत्नी का सुख-दुःख एक होता था। उनकी इच्छाओं की धुरी 'स्व' न होकर 'परिवार' होती थी। वे अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं को पूरा करने के बदले अपने बच्चों एवं परिवार के अन्य सदस्यों की इच्छाओं की पूर्ति में सहायक बनना अधिक अच्छा समझते थे।

पाश्चात्य जीवन ने पहले संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली को तोड़ा। फिर परिवार में पति-पत्नी अपने में सिमटे, बच्चों के प्रति अपने उत्तरदायित्वों की उन्होंने अवहेलना की। परिवार में अपने ही बच्चे बेगाने हो गए। बच्चों का कमरा अलग, माँ-बाप का कमरा अलग। बच्चों की दुनिया अलग, माँ-बाप की दुनिया अलग। एक ही घर में रहते हुए भी कोई आवात्मक सम्बन्ध नहीं। बच्चों में आक्रोश पनपा। वे विद्रोही हो गए। अधिक भावुक एवं संवेदनशील 'हिप्पी' बन गए। 'हिप्पी पीढ़ी' इतिहास के पन्नों पर उभर गयी। जो व्यवस्था से नहीं भागे, उन्होंने जब बड़े होकर अपना घर बसाया तो उनके घर में उनके माँ-बाप पराये हो गए।

पहले पति-पत्नी आजीवन साथ-साथ रहने के लिए प्रतिबद्ध होते थे। दोनों का सुख-दुःख एक होता था। दोनों को विश्वास रहता था कि वे आजीवन साथ-साथ रहेंगे। विवाह पर कोई नहीं कहता था कि आप लोग आजीवन साथ-साथ रहें। यह तो जीवन का माना हुआ तथ्य होता था। आजीवन सुखी एवं सानंद रहने को कामना की जाती थी। जब मनुष्य की चेतना क्षणिक, संशय-पूर्ण एवं तात्कालिकता में ही केन्द्रित होकर रह गयी तो व्यक्ति अपने स्वार्थों में सिमटता गया। सम्पूर्ण भौतिक सुखों को अकेला भोगने की दिशा में व्यग्र मनुष्य ने प्रेम को एकनिष्ठता का आदर्श भी तोड़ डाला। आज पति-पत्नी में परस्पर विश्वास भी टूट रहा है। तलाकों की संख्या बढ़ती जा रही है। दुःखों को अकेले ही भोगना नियति हो गयी है। 'भरी भीड़ में अकेला' मुहावरा हो गया है। मानसिक रोगों की संख्या बढ़ती जा रही है। व्यक्ति भौतिक उपकरणों

को जोड़ लेने के बाद भी मानसिक दृष्टि से अशान्त हैं। तनावों का दायरा बढ़ता जा रहा है। इन तनावों को दूर करने के लिए व्यक्ति अपने को भुलाता है। मद्यपान करता है, चरस, भाँग का सेवन करता है। उनसे भी जब नशा नहीं होता तो 'एल. एस. डी.', 'हैरा', 'ऐकीड्रीन', 'बैलियम', 'मैनड्रेक्स' लेता है। इनसे भी मानसिक थकान नहीं मिटती तो 'हेरोइन' यानी 'एच' लेता है। इन्हीं प्रक्रियाओं से गुजरकर ऐसे मुकाम में पहुँच जाता है जहाँ चेतना अंधेरी कोठरी में बन्द हो जाती है, पुरुषार्थ थक जाता है। अपराध प्रवृत्तियों के शिकार मानसिक रोगियों की जिन्दगी में फिर प्रकाश की कोई किरण कभी रोशनी नहीं फैलाती।

कार्ल मार्क्स ने शोषक और शोषित—इस वर्ग संघर्ष को उभारकर तथा इतिहास की अर्थ परक व्याख्या के द्वारा रीटी के प्रश्न को मानवीय चेतना का केन्द्र बिन्दु बनाकर प्रस्थापित किया। उत्पादन के साधनों पर किसका अधिकार है, उत्पादन की प्रक्रिया में रत लोगों के आपसी सम्बन्ध कैसे हैं तथा उत्पादित भौतिक सम्पदा का लाभ एवं उसके वितरण का क्या प्रबन्ध है आदि तथ्यों पर मार्क्स तथा उसकी विचारणा से प्रभावित अन्य व्यक्तियों ने विचार किया। मार्क्सवाद की विचारधारा का प्रभाव एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के देशों में राष्ट्रीय जनवादी क्रान्तियों, अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी क्रान्ति के संघर्षों, विभिन्न देशों में व्यापक आम जनवादी मोर्चों के संगठनों तथा समाजवादी देशों में उत्पादन के साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व की प्रणाली में पहचाना जा सकता है। साधनहीन अथवा शोषकों का चिन्तन भी बदला है। वे अपनी जिन्दगी की मुसीबतों का कारण व्यवस्था को मानकर समाज एवं राज्य से साधनों की माँग कर रहे हैं। यह बात भी आज स्पष्ट है कि राज्य के कल्याणकारी कार्यक्रमों के क्रियान्वयन द्वारा बहुत सी मुसीबतों एवं कष्टों को दूर किया जा सकता है। मगर व्यवस्था के द्वारा व्यक्ति की मानसिकता को सर्वथा नहीं बदला जा सकता। वस्तुतः केवल भौतिक दृष्टि से विचार करना भी एकांगिता है। इसके अतिरिक्त पूँजीवादी व्यवस्था को बदलने मात्र से खतरे समाप्त हो ही जावेंगे—यह भी निश्चित नहीं है। सार्वजनिक स्वामित्व के नाम पर राजकीय पूँजीवाद (State Capitalism) के स्थापित हो जाने पर क्या उसके चारित्रिक स्वरूप में परिवर्तन आता है? यह कहा जाता है कि पूँजीवादी व्यवस्था में सम्पत्ति पर पूँजीपति वर्ग का निजी स्वामित्व एवं नियंत्रण रहता है। राजकीय पूँजीवाद में पूँजीवादी व्यवस्था में ही राष्ट्र एवं मेहनतकश वर्गों के हित में इसके उपयोग की सम्भावनायें पैदा होती हैं।

मगर प्रश्न है कि सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति के नाम पर यदि दल के अधिकारी सत्ता पर कब्जा कर लेते हैं तो क्या पार्टी—अधिनायकवाद के छद्मवेश में सत्ता पर इनकी तानाशाही स्थापित नहीं हो जाती तथा यदि इन्हीं के हाथों



में राजकीय स्वामित्व आता है तो आगे चलकर उसके पूँजीवादी तानाशाही के स्वरूप में बदलने की सम्भावना से कैसे इन्कार किया जा सकता है ?

वास्तव में 'पेट की भूख' एवं 'शरीर की भूख' मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ हैं। प्राकृतिक जीवन में मनुष्य पशुओं की तरह आचरण करता है। अपनी भूख को मिटाने के लिए कोई नियम नहीं होते। इस व्यवस्था में शारीरिक दृष्टि से सबल मनुष्यों के सामने निर्बल मनुष्यों को हानि उठानी पड़ती है। सबल मनुष्य निर्बल को पराजित कर भूख मिटाता है। भूख मिटाकर भी उसके जीवन में शान्ति नहीं रहती। उसे अन्य सबल व्यक्तियों का डर लगा रहता है। छीना-भ्रपटी, भ्रगड़ा-फसाद जीवन में बढ़ जाता है। इन्हीं से बचने के लिए मनुष्य ने समाज बनाया। शरीर की भूख तथा पेट की भूख की तृप्ति के लिए सामाजिक नियम बनाए। शरीर की भूख की तृप्ति के लिए 'विवाह' संस्था का जन्म हुआ। परिवार बना। घर बना। निश्चित हुआ एक पुरुष की एक पत्नी। उसकी पत्नी पर उसका अधिकार। उसकी पत्नी पर दूसरों का कोई अधिकार नहीं। दूसरों की पत्नियों पर उसका कोई अधिकार नहीं। उसने अपनी भोपड़ी बनायी। घर बनाया। घर के चारों ओर चार दिवारी बनायी। घर के क्षेत्र की सीमा निर्धारित हुई। उसके घर पर उसका अधिकार। उसके घर पर दूसरों का अधिकार नहीं। दूसरों के घर पर उसका कोई अधिकार नहीं।

पेट की भूख मिटाने हेतु उसने जमीन साफ की, बीजों का वपन किया, कृषि-कर्म किया। अपने खेत के चारों ओर मेंडें बनायीं। सरहदें स्थापित कीं। उसकी सरहद वाली भूमि पर दूसरों का अधिकार नहीं। दूसरों के खेत पर उसका अधिकार नहीं। अपना-अपना खेत, अपनी-अपनी पैदावार।

अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अन्य प्रकार के उद्यम एवं उद्योग धन्धों का विकास हुआ, इन क्षेत्रों में इसी प्रकार की सीमा एवं समझदारी विकसित हुई।

इस प्रकार समाज के अस्तित्व की आधारशिला परस्पर समझदारी, सीमा, एक दूसरे के अधिकार क्षेत्र में अतिक्रमण न करने का संयम, शर्तों का परस्पर सम्मान एवं एक दूसरे के अस्तित्व वृत्त एवं अधिकार वृत्त के प्रति सहिष्णुता ही है। इसी समाज में व्यक्ति संयम के साथ भोग करता आया है, अपने जीवन को बेहतर बनाता आया है।

मनुष्य में नैसर्गिक प्रकृति के साथ-साथ वृत्तियों के उन्नयन, परिष्कार, संस्कार की प्रवृत्ति भी रहती है। इसी कारण वह अपने जीवन को सामाजिक बनाता है। सामाजिक जीवन नीति से ही सम्भव है, अनीति से नहीं। नैतिक आचरण

के लिए संयम की लगाम आवश्यक है। समाज में व्यवस्था एवं स्वच्छ वातावरण तभी रह सकता है जब उसके सदस्य संयमित आचरण करें। प्रेम, कष्टना, बन्धुत्व-भाव के द्वारा ही मनुष्य का जीवन उन्नत एवं सामाजिक बनता है। चेतना का विकास होने पर ही मानव समाज लोक कल्याण की भावना की ओर उन्मुख होता है। जब जिन्दगी लक्ष्यहीन हो जाती है तो सम्पूर्ण जीवन में भटकाव आ जाता है। यही भटकाव संत्रास एवं तनाव को जन्म देता है। इससे मुक्ति पाना समस्या बन जाती है। जब-जब संयम की सीमायें टूटती हैं, जीवन एवं परिवेश दूषित एवं विषाक्त होने लगता है।

परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने, वंशानुक्रमण एवं व्यक्तित्व का प्रसार तथा आत्म परिवेष्टन के अतिक्रमण के कारण मनुष्य अकेला नहीं रह पाता। वह समाज बनाता है। समाज के अस्तित्व के लिए परस्पर सहयोग, समझदारी एवं साभेदारी आवश्यक है। कोई भी समाज धर्म चेतना से विमुख होकर नहीं रह सकता। धर्म सम्प्रदाय नहीं। धर्म पवित्र अनुष्ठान है। जिन्दगी में जो हमें धारण करना चाहिए—वही धर्म है। हमें जिन नैतिक मूल्यों को जिन्दगी में उतारना चाहिए—वही धर्म है। समाज की व्यवस्था, शान्ति तथा समाज के सदस्यों में परस्पर प्रेम एवं विश्वास का भाव जगाने के लिए धर्म का पालन आवश्यक है। धर्म के पालन का अर्थ ही है—श्रेष्ठ नैतिक कर्मों के अनुरूप आचरण।

मन की कामनाओं को नियंत्रित किए बिना समाज रचना सम्भव नहीं है। कामनाओं के नियंत्रण की शक्ति या तो धर्म में है या शासन की कठोर व्यवस्था में। धर्म का अनशासन 'आत्मानुशासन' होता है। व्यक्ति अपने पर स्वयं नियंत्रण करता है। शासन का नियंत्रण हमारे ऊपर 'पर' का अनुशासन होता है। दूसरों के द्वारा अनुशासित होने पर हम विवशता का अनुभव करते हैं, परतंत्रता का बोध करते हैं, घुटन की प्रतीति करते हैं।

धर्म मानव हृदय की असीम कामनाओं को स्व की प्रेरणा से सीमित कर देता है। धर्म हमारी दृष्टि को व्यापक बनाता है, मन में उदारता, सहिष्णुता एवं प्रेम की भावना का विकास करता है।

अभी तक धर्म एवं दर्शन की व्याख्यायें इस दृष्टि से हुईं कि उससे हमारा भविष्य जीवन उन्नत होगा। धर्म के आचरण की वर्तमान व्यक्तिगत जीवन एवं सामाजिक जीवन की दृष्टि से सार्थकता क्या है, इसको केन्द्र बनाकर चिन्तन करने की महती आवश्यकता है तभी कर्म का सामाजिक संदर्भ स्पष्ट हो सकेगा।





## कर्म सिद्धांत और समाज-संरचना

□ श्री रणजीतसिंह कूमट

वर्तमान समाज-संरचना के लिये जिम्मेदार कौन ? किसने यह व्यवस्था की, परिवर्तन कैसे आता है व कौन लाता है ?

इस प्रश्नावली का उत्तर देने का प्रयत्न दार्शनिक, समाजशास्त्री, इतिहासज्ञ और धार्मिकों ने किया परन्तु जितना इनका अध्ययन करते हैं, उलझते जाते हैं। उत्तर आसान नहीं है। प्रत्येक ने अपने-अपने दृष्टिकोण से तो देखा ही परन्तु कई स्थानों पर ऐसा आभास भी होता है कि इन दार्शनिक सिद्धांतों और वादों के पीछे निहित स्वार्थ भी कार्य करते रहे हैं। ऐसे सिद्धांत भी प्रतिपादित होते रहे हैं जिनसे व्यवस्था स्थायी बनी रहे और उसमें उथल-पुथल कम-से-कम हो। कभी यह भी हुआ कि पूर्णतः वैज्ञानिक सिद्धांत को कालान्तर में ऐसा मरोड़ दे दिया कि उसका अर्थ उल्टा हो गया और वह निहित हितों की रक्षा में काम आया।

अब इसी प्रश्न को ले लें—व्यक्ति गरीब क्यों है ? गरीब घर में जन्म क्यों लिया ? कोई उच्च कुल कहलाता, कोई अछूत या नीच कुल। किसी को खाने से अजीर्ण हो रहा है, तो किसी को दो वक्त का भोजन भी नसीब नहीं।

भारत में प्रचलित कर्म सिद्धांत कहता है कि व्यक्ति गरीब है क्योंकि यह उसके पूर्व जन्म के कर्मों का फल है। उसके कर्मों की वजह से ही वह नीच कुल में पैदा होता है और दुःख पाता है। इन्हीं कर्मों से समाज में वर्ण-व्यवस्था, जाति-प्रथा, गरीबी-अमीरी, छुआछूत आदि की व्यवस्था निर्धारित है।

व्यक्ति के जीवन में सुख-दुःख, यश-अपयश, धन-प्रतिष्ठा, पांडित्य-मूर्खता, जन्म-मरण आदि कर्म-आधारित हैं। व्यक्ति पर लागू होने वाले इस सिद्धान्त को पूरे समाज पर लागू कर समाज की पूरी संरचना व व्यवस्था की भी व्याख्या की जाती है और इसको वैज्ञानिक भी बताया जाता है। इसके विपरीत पश्चिम के प्रसिद्ध दार्शनिक मार्क्स का कहना है कि यह गरीबी, अमीरी समाज की संरचना का फल है। यदि समाज में व्यक्तिगत पूँजी की एकत्र करने की छूट है तो अधिक चालाक व्यक्ति उपलब्ध जमीन, धन व उत्पादन के साधनों पर आधिपत्य कर लेंगे और फिर अन्य निर्धन व्यक्तियों का शोषण कर अपनी सत्ता व साधनों

का पोषण करेंगे। वे ऐसी व्यवस्था करेंगे कि उनका धन-साधन सुरक्षित रहे और जो उनकी सत्ता को उखाड़ने की कोशिश करें, वे दण्ड के भागी बनें। न केवल राजदण्ड बल्कि धार्मिक व्यवस्था भी ऐसी करावेंगे कि उनको कोई छेड़े नहीं। ऐसे नियम व उपदेश का प्रचार होगा कि पराया धन नरक में ले जाने वाला है, अतः उस ओर नजर भी न डालें। इससे सुन्दर व्यवस्था बनी रहे और जो जैसा जीवन जी रहे हैं, उसी में सुख महसूस करें। जो वर्तमान स्थिति है उसे पूर्व कर्मों का फल मानकर इस जीवन में पश्चात्ताप करें और आगे का जीवन सुधारने का प्रयत्न करें। इसीलिये मार्क्स ने धर्म को जनता के लिये अफीम की संज्ञा दी है।

व्यक्ति को फल अपने कर्म के अनुसार मिलता है। इस वैज्ञानिक सिद्धांत को कौन नकार सकता है ? जैसा बीज वैसा फल। जैसा कर्म वैसा जीवन।

परन्तु व्यक्ति पर लागू होने वाले सिद्धांत को बिना अपवाद के पूरे समाज पर लागू करके समाज की व्यवस्था बनाना और उसकी अच्छाइयों या बुराइयों को तर्कसंगत बनाना उतना वैज्ञानिक नहीं है। बल्कि यह सिद्ध किया जा सकता है कि इस कर्म सिद्धांत को समाज-व्यवस्था का आधार बनाने में निहित स्वार्थों ने कार्य किया है और धर्म व कर्म के वैज्ञानिक और शुद्ध स्वरूप को विकृत कर व्यवस्था को स्थायी बनाये रखने का प्रयास किया है।

यदि धार्मिक और दार्शनिक बार-बार यह कहें कि जो कुछ तुम्हें मिला या मिलेगा वह कर्म आधारित है और पूर्व जन्म के कर्मों का फल है तो अपनी वर्तमान स्थिति के बारे में यही समझ कर संतोष करेगा कि उसके पूर्व जन्म के कर्म खराब हैं अतः उसे ऐसा दुःखी जीवन मिला है और वर्तमान को किसी तरह भोगते हुए अगले जीवन को सुधारने का प्रयत्न करना है। वर्तमान को कैसे सुधारें, यह कौन बताये ? जब अमीर आदमी के पास धन-दौलत है तो वह उसको अपने पूर्व जन्म के कर्म का फल मानकर गर्व करता है कि यह उसका पुराना गौरव है और उसको भोगना उसका हक है। यदि कोई उसे छीनने का प्रयत्न करे तो धार्मिक कहते हैं यह पाप है क्योंकि सम्पत्ति पर उसका हक पूर्व जन्म के कर्मों के फल से है।

व्यक्ति का वर्तमान के कर्मों के फल प्राप्त कर उसका भोग करना एक बात है और भूत के कर्मों के फल पर बिना प्रयत्न के भी वर्तमान अमीरी में रहना दूसरी बात है। यह अमीरी और गरीबी कर्म आधारित नहीं वरन् समाज व्यवस्था पर आधारित है। जैसी व्यवस्था होगी उसी आधार पर गरीबी या अमीरी होगी।

व्यक्ति धन कमाकर रोटी खावे यह वर्तमान कर्म का फल है; परन्तु पिता कमाकर पुत्र के लिये छोड़ जावे और पुत्र उसका भोग करे, यह पूर्व जन्म

के कर्म का फल नहीं बरन् समाज-व्यवस्था का फल है। यदि समाज-व्यवस्था में यह नियम हो कि पिता की सम्पत्ति पुत्र को नहीं मिलेगी या कोई व्यक्ति निजी सम्पत्ति नहीं रख सकेगा तो क्या कोई गरीब घर और अमीर घर हो सकता है ? पिता का हक यदि पुत्र को मिलेगा ही नहीं तो पुत्र को नया प्रयत्न करना होगा और वह है उसके कर्म का फल ।

परन्तु जब हम कर्म सिद्धान्त की आड़ लेते हैं तो व्यवस्था का पोषण करते हैं। पिता की सम्पत्ति पुत्र को मिले और वह उसका भोग करे, यह समाज-व्यवस्था है न कि कर्म-व्यवस्था ।

पूँजीवादी व्यवस्था में जिसके पास उत्पादन का साधन अर्थात् जमीन, सोना, पशु आदि कुछ है, वह आगे संवर्द्धन कर सकता है बशर्ते अपनी सम्पत्ति को सम्हाल कर रखे। परन्तु जिसके पास कोई सम्पत्ति नहीं है उसे जन्म भर मजदूरी के अलावा कोई राह नहीं है ।

अक्सर कहा जाता है कि जो गरीब हैं वे वास्तव में मेहनत नहीं करते और गरीबों में ही मस्त रहना चाहते हैं। लेकिन अध्ययन बताता है कि जो जितने गरीब हैं उतनी ही अधिक कड़ी मेहनत व लम्बे समय तक कार्य करते हैं। अच्छे पद या सम्पत्ति वाला व्यक्ति मेहनत का कार्य या लम्बे घंटों तक कार्य नहीं करते जबकि भूमिहीन मजदूर दिन भर कार्य करके भी रोटी खाने जितना नहीं कमा पाते। धन जोड़ने की बात तो बहुत दूर है ।

धनवान के पुत्र को धनहीन कर गरीब के बराबर की स्थिति में लाकर बराबर का मौका दिया जाय और फिर जो अच्छी स्थिति या कमजोर स्थिति में आवे तो वे उनके कर्म के फल हैं। परन्तु धनवान और गरीब की दौड़ तो बराबरी की दौड़ नहीं है। हम कई बार कहते हैं कि सबके लिये बराबर के अवसर हैं परन्तु यह भ्रम मात्र है। जो धनवान पुत्र है उसे पढ़ने का, पूँजी का, बचपन में अच्छे लालन-पालन सबका लाभ मिला है जबकि गरीब को बचपन में पूरा खाना व पहनने को भी नहीं मिलता। अतः यह कहना कि गरीबी या अमीरी पूर्व कर्म का फल है, यह भ्रम है। यह वर्तमान व्यवस्था का ही फल है, इसे समझना चाहिये ।

बार-बार जब उपदेश देते हैं कि तुम गरीब हो, अछूत हो या नीच कुल के हो, क्योंकि तुमने पूर्व जन्म में कर्म खराब किये हैं तो यह उनको गुमराह करना है। कर्म जीवन को सुधारने के किये हैं। कर्म भुलावा देने के लिये नहीं है। यदि पूर्व कर्म से ही सब कुछ होता है और इस जीवन के कर्म का फल अभी नहीं मिलना है तो निष्कर्मण्यता की बढावा मिलता है। फिर तो शांत होकर भोगना ही जीवन का उद्देश्य बनता है। यही कारण है की भारत में इतनी गरीबी

है परन्तु कहीं विद्रोह का काम नहीं। गरीबों को धार्मिकों ने काफी गहरी नींद सुला दिया है। यदि सिर कभी उठाया भी तो राजदण्ड और उच्च वर्ग के अत्याचारों ने दृढ़तापूर्वक दबा दिया है। सदियों के अत्याचार से वे मूक बन गये हैं। चुपचाप सहना सीख गये हैं। कर्मों के सुफल का इन्तजार है, इस जीवन में नहीं तो अगले जीवन में सही।

कर्म सिद्धान्त मानव को सबल बनाने, अपने प्रति जागरूक और सक्रिय बनाने के लिये था। कर्म का फल उसे ही मिलेगा जिसने कर्म किया है, परन्तु व्यवस्था ऐसी बना दी कि कर्म का फल बितौलिये-श्रेष्ठ वर्ग-छीन ले गये। हल चलाया किसान ने और फल खाया जमींदार ने। यदि किसान ने आवाज उठाई तो पिटाई हो गई। तब कोई धार्मिक नहीं बोला। धार्मिकों का लालन-पालन तो राजा ही करते थे। उनको भिक्षा तो श्रेष्ठ घरों से ही मिलती थी। उन्होंने उस पिटे किसान को पुचकारा और भरहम पट्टी की और सलाह दी "अगले जीवन को सुधार"।

कर्म सिद्धान्त का संबंध व्यक्तिगत जीवन से है समाज की संरचना से इसका सीधा संबंध नहीं है। समाज में भाईचारे, सहानुभूति और सहृदयता के नये संस्कार डालने होंगे। आज समाज में हृदयहीनता जगह-जगह देखी जाती है। यह सब मानव मूल्यों के खिलाफ है। लेकिन धन के नशे में चूर और उनको यह गर्व कि यह धन उनके कर्मों का फल है और जो गरीब हैं वे गरीबी भोगने के लिये हैं, ये संस्कार हृदयहीनता के कारण हैं। कर्म-सिद्धान्त की आड़ लेकर धनी वर्ग बहुत दिन सुखी नहीं रह सकता। समाज-संरचना की वजह से धन का योग है; यदि उन्होंने सहृदयता और सहानुभूति नहीं दर्शाई और गरीबी-अमीरी में काफी अन्तर रहा तो वह दिन दूर नहीं जब विद्रोह की आग भड़केगी।

विद्रोह का आधार हिंसा है। अतः उसका सुफल ही मिले, आवश्यक नहीं। परिवर्तन में अहिंसा का आधार हो तो समाज में सरसता व सहृदयता बनी रह सकती है। विद्रोह के अनन्तर एक सबल वर्ग दूसरे वर्ग पर सत्तारूढ़ हो सकता है; परन्तु अहिंसात्मक परिवर्तन निर्देशित ढंग से हो सकता है और उसमें शोषक और शोषित दोनों मुक्त होते हैं। अतः समय रहते समाज की व्यवस्था में निर्देशित परिवर्तन, शिक्षा और संस्कृति के माध्यम से हो तो न्याय-वादी और समतावादी समाज का आधार बनाया जा सकता है। गुमराह कर विषमताओं का पोषण अन्ततोगत्वा खतरनाक साबित हो सकता है।

## “जैसी करनी वैसी भरनी” पर एक टिप्पणी

□ डॉ. राजेन्द्रस्वरूप भटनागर

हम सभी सुनते आये हैं कि जो जैसा करेगा वह वैसा फल पायेगा। ‘जैसी करनी वैसी भरनी’। परन्तु हम में से बहुतों का यह अनुभव भी है, कि व्यवहार में इस मान्यता के उल्लंघन ही अधिक मिलते हैं। यदि अनुभव से इस मान्यता की पुष्टि नहीं होती तो इसे क्यों सही समझा जाय ? एक उत्तर यह हो सकता है कि यह मान्यता एक ऐसी दण्ड व्यवस्था की सूचक है, जो तब भी सक्रिय रहती है, जब मानवीय व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है, और परिणाम-स्वरूप सन्मार्ग में प्रवृत्ति के लिए इसमें विश्वास सहायक है। परन्तु पुनः शंका होती है कि यदि ऐसी कोई दण्ड व्यवस्था है तो उसकी पुष्टि किस प्रकार होती है ? मानवीय व्यवस्था के छिन्न-भिन्न होने पर ‘त्राहि माम्, त्राहि माम्’ तो सर्वत्र सुनाई पड़ता है, परन्तु उस पुकार को कोई सुनता है, यह कैसे निश्चय हो, जबकि अनुभव इसके विपरीत है। पुराण तथा साहित्य के क्षेत्र से ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनसे कर्म-फल की संगति की युक्ति का औचित्य सिद्ध हो। परन्तु ऐसे सभी उदाहरणों के विषय में, विवाद की स्थिति (ऐतिहासिकता की दृष्टि से) होने से, इतना ही कहा जा सकता है, कि यह मान्यता मानवीय इच्छा की द्योतक है, हम चाहते हैं, कि ऐसा हो, पर ऐसा होगा, इसकी कोई गारन्टी नहीं। और यदि किन्हीं अवसरों पर ऐसी संगति मिल भी जाय तब भी यह सिद्ध नहीं होगा कि यह संगति अनिवार्य है। इसकी अनिवार्यता केवल तभी सिद्ध मानी जा सकती है जब उसका अपवाद असम्भव हो।

दूसरी ओर इस उक्ति की विलक्षणता यह है कि विपरीत अनुभव होने पर भी बुद्धि को यह बात युक्तियुक्त लगती है, कि जो जैसा करेगा वह वैसा फल पायेगा। ऐसा क्यों ? इस सम्बन्ध में दो भिन्न प्रकार की बातों की ओर ध्यान जाता है। प्रथम तो कार्यकारण का सिद्धान्त, दूसरे कर्त्ता के सन्दर्भ में कर्म का जीवनवृत्त। यह बुद्धि की एक मांग है कि यदि घटनाएँ बुद्धिश्राह्य हैं तो उनमें कार्यकारण सम्बन्ध प्राप्त होना चाहिए। यदि ऐसे संसार की कल्पना करें जिसमें कुछ भी सम्भव हो, किसी घटना के बाद कोई भी घटना हो जाती हो, तो वहाँ बुद्धि को कोई गति नहीं हो सकती—ऐसे संसार के विषय में किसी भी घटना के बारे में कोई युक्तियुक्त बात नहीं कही जा सकती। भविष्य के विषय में हमारी अपेक्षाएँ पहले तो हो ही नहीं सकतीं, और यदि हम किसी प्रकार की

कल्पना कर भी लें, तो उसकी संभाव्यता के बारे में कोई निश्चय सम्भव नहीं होगा। इसके विपरीत मानवीय व्यवहार बड़ी सीमा में इस अपेक्षा पर निर्भर है कि घटनाओं में कोई परस्पर सम्बन्ध होता है, इस सम्बन्ध को कार्यकारण के रूप में जाना जा सकता है, तथा इस प्रकार के ज्ञान के आधार पर ही कर्म को सम्भावना को स्वीकार किया जा सकता है। अन्य शब्दों में, व्यवस्था एवं संगठन की अवधारणा ज्ञान तथा कर्म के लिए समान रूप में महत्वपूर्ण हैं।

कुछ दार्शनिकों ने इस सम्बन्ध में यह शंका उठाई है कि कार्यकारण की अनिवायता का कोई बौद्धिक एवं आनुभाविक आधार नहीं है। घटनाओं के किसी क्रम विशेष को अनेक बार देखने पर एक घटना से दूसरी घटना की ओर हमारा ध्यान सहसा ही चला जाता है, और हम मान बैठते हैं कि एक दूसरे का कारण है। स्कॉटलैण्ड के दार्शनिक ह्यूम का यह मत दार्शनिकों के लिए भारी चुनौती रहा है। इस मत को यदि मान भी लें, तब भी इस बात पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता कि विषय ग्रहण के लिए बुद्धि की किंचित मांगों की पूर्ति आवश्यक है। इस बहस में जाये बिना तथा कम से कम इतना स्वीकार कर लेने पर कि घटनाओं में किसी प्रकार का क्रम देखना सम्भव है, उसका आधार चाहे कुछ भी हो, कर्म के विषय में भी यह अपेक्षा होती है कि कोई भी कर्म परिणाम स्वरूप किसी स्थिति विशेष में परिसमाप्त होता है। इस परिणाम तथा कर्म की ठोस प्रक्रिया में कोई सम्बन्ध होता है। यह उपयुक्त सम्बन्ध होना चाहिए। स्पष्ट है कि इस ढांचे में हम कर्म तथा परिणाम को दो अलग-अलग स्थितियों—कारण तथा कार्य के रूप में देख रहे हैं।

यहां एक कठिनाई उपस्थित होती है और वह कर्म के जीवनवृत्त को दूसरे रूप में देखने के लिए बाध्य करती है। परिणाम को कर्म से अलग देखने से क्या तात्पर्य है? हमने कहा कि परिणाम वह स्थिति है जिसमें कर्म की परिसमाप्ति होती है। तो क्या यह कहना अधिक संगत नहीं होगा कि परिसमाप्ति तक जो कुछ होता है, वह सब कर्म है? किसी व्यक्ति का इच्छा करना, संकल्प करना, विषय अथवा स्थिति विशेष (लक्ष्य) के प्राप्ति के निमित्त उद्यम करना, लक्ष्य को प्राप्त करना—ये सभी अवस्थाएँ कर्म के जीवन वृत्त की विभिन्न अवस्थाएँ हैं, और इनमें अन्तिम स्थिति कर्म के परिणाम की स्थिति है। इस अवस्था में कर्म तथा परिणाम का भेद वस्तुतः कर्म के अन्तर्गत ही पड़ेगा—कदाचित् ‘कर्म’ के स्थान पर केवल ‘प्रक्रिया’ कहना अधिक उचित होगा—प्रक्रिया तथा परिणाम कर्म के दो अंग होंगे जिनमें कारण और कार्य का सम्बन्ध मान सकेंगे। और फिर कारण तथा कार्य की संगति के सन्दर्भ में प्रक्रिया तथा परिणाम की संगति की चर्चा करना कदाचित् अधिक युक्तिसंगत होगा।

यहाँ प्रबुद्ध पाठक यह आपत्ति उठायेंगे कि कर्म फल की संगति, प्रक्रिया और परिणाम की संगति की बात नहीं है। इस आपत्ति को समझने के लिए



एक उदाहरण लें : 'क' ने 'ख' को चाकू से मार डाला । 'क' पकड़ा जाता है । उसे दण्ड मिलता है—उसे आजीवन कारावास दिया जाता है । इस स्थिति में 'चाकू मारना' तथा 'ख का मरना' कारण कार्य के रूप में देखे जा सकते हैं तथा प्रक्रिया एवं परिणाम के रूप भी । 'ख का मरना' क के लिए उसके कर्म का फल नहीं माना जायगा । अपितु 'क' का इस कर्म के लिए दण्ड पाना फल कहा जायगा । स्वयं 'क' की दृष्टि से देखें तो कदाचित् वह 'ख' को केवल जरूरी करना चाहता था, अथवा कदाचित् वह अपने तीव्र रोष को व्यक्त करना चाहता था । ऐसी अवस्था में फल के सम्बन्ध में 'क' की क्या अपेक्षा हो सकती थी ? शायद यह कि 'ख' उसकी ताकत को पहचाने । अब 'ख' के चोट लगना, उसके प्राणों का घात, तथा 'क' की ताकत की पहचान 'ख' के लिए, ये एक ही बात नहीं है, और परिणामस्वरूप परिणाम, कार्य तथा फल भी एक ही चीज नहीं है । कर्म फल की संगति की दृष्टि से, यदि 'क' न्यायिक दृष्टि से दोषी था, तो उसका दण्ड पाना, संगति की पुष्टि के रूप में देखा जायगा । परन्तु 'क' (मान लीजिए, वह विवाहित है, उसके बच्चे हैं) की पत्नी तथा बच्चों को किस कर्म का फल मिला ? वे हत्यारे के परिवार के सदस्य कहलायेंगे, उनके जीवन यापन पर संकट आयेगा, बच्चों के पालन पोषण, शिक्षा-दीक्षा पर हानिकारक प्रभाव पड़ेगा—ये सब उनके किस कर्म से जोड़ा जाय ? इसी प्रकार, जिसकी हत्या हुई है, उसके परिवार के सदस्यों के सम्बन्ध में प्रश्न उठता है । स्थिति के ये दूसरे पक्ष कर्मफल संगति पर प्रश्न चिह्न लगाते हैं ।

उपर्युक्त उदाहरण से अनेक उलझनों की ओर ध्यान जाता है । परिणाम, कार्य अथवा फल की अवधारणाओं का परस्पर क्या सम्बन्ध है ? फल की बात करते समय हम एक सिलसिले में किसी एक कड़ी को क्यों चुनते हैं ? इस विश्लेषण में घटनाओं को सामाजिक अर्थ देने से किस प्रकार की जटिलता उत्पन्न होती है ? आदि । दूसरे जिन अवस्थाओं में फल तथा कर्म की संगति बैठती नहीं दीखती वहाँ किस प्रकार की व्याख्या सन्तोषजनक हो सकती है ?

इन प्रश्नों के आलोक में एक बार कर्म के जीवनवृत्त पर पुनः दृष्टि डालें । हमने कर्म की विभिन्न अवस्थाओं को निम्नलिखित रूप में लिया : इच्छा, संकल्प, उद्यम तथा परिणाम (लक्ष्य की प्राप्ति/अप्राप्ति) । विश्लेषण की दृष्टि से कर्म के रूप का यह बड़ा सीधा सादा तथा स्पष्ट चित्रण मालूम पड़ता है । परन्तु यह अपर्याप्त विश्लेषण का परिणाम है, तथा केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही सरल स्थिति है । यह अनावश्यक रूप में सरल क्यों है, इसमें किस प्रकार की जटिलताएँ हैं ? इनकी ओर ध्यान दें । पहले तो 'इच्छा' स्वयं एक परिणाम है । किसी कर्म विशेष को अलग करने के प्रयास में ही हम उसे किसी इच्छा विशेष से जोड़ते हैं । परन्तु उसकी विशद समझ के लिए 'इच्छा' को समझना आवश्यक होता है । न्यायिक सन्दर्भ में बहुधा कर्म को प्रेरणा के विषय में प्रश्न उठाया

जाता है। यह समझ हमें एक दूसरे सिलसिले की ओर ले जाती है, और हम इच्छा को स्वभाव, उद्दीपन आदि के परिणाम अथवा कार्य के रूप में देखने लगते हैं। यदि और ध्यान से विचार करें, तो व्यक्ति जिस समाज में है, जिस युग तथा देश में है, तथा जिस सांस्कृतिक प्रवेश में है, उससे उसकी इच्छा के विषय में समझ बढ़ती है। इस प्रकार के सन्दर्भ उस अवस्था में महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं, जब हम इच्छापूर्ति तथा उसके साधन पर कर्त्ता के विचार-विमर्श तथा अन्ततः उसके निश्चय पर ध्यान देते हैं। इस प्रकार कर्म का एक आन्तरिक इतिहास भी होता है, जो परोक्ष रूप में जाना, समझा जा सकता है। जब उद्यम के विषय में विचार करते हैं तो साधारणतया कर्त्ता की शारीरिक गति तथा मुद्रा की ओर ध्यान जाता है। परन्तु उद्यम की आवश्यकता तथा पर्याप्त अवस्थाओं पर विचार करें, तो पता चलेगा कि बहुत कुछ हम मान कर चलते हैं, तो बहुत कुछ ऐसा भी है जिसकी ओर हमारा ध्यान नहीं जाता परन्तु जिसके बिना उद्यम सम्भव नहीं हो सकता। इन अवस्थाओं में गृहत्वाकर्षण, देश, काल, शरीर की स्वस्थास्वस्थ अवस्था, शरीर की परिपक्वता, प्रशिक्षण (औपचारिक, अनौपचारिक), अभ्यास, सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्यवधान अथवा सुविधाएँ, जैसी अनेक बातें आती हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उद्यम बिना एक वृत्त तथा व्यापक सन्दर्भ का अंग बने सम्भव नहीं हो सकता। और जब परिणाम पर दृष्टिपात करते हैं, तो पता चलता है कि परिणाम को नाम दिया जाना उस व्यक्ति तथा दृष्टि पर आश्रित है जिससे तथा जिसके द्वारा वह लक्षित हो। इस रूप में परिणाम कोई सरल एकिक स्थिति नहीं है, अपितु एक बहु आयामों से युक्त स्थिति है जिसे उसके किसी एक या अनेक आयामों के आधार पर नाम दिया जा सकता है, और जैसा पाठक लक्ष्य करेंगे नाम देना एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है तथा उसमें हमारे मूल्य एवं आदर्शों का समावेश होता है।

इस अत्यन्त संक्षिप्त विवेचन से यह लगता है कि कर्म को एक सरल शृंखला के रूप में देखना, अनेक महत्त्वपूर्ण पक्षों की अवहेलना होगा। व्यक्ति के दायित्व, कर्म फल के रूप में उसे जो भोगना पड़ता है, व्यक्ति की परिवेश में परिवर्तन लाने की सामर्थ्य की सीमा—इन सभी के विषय में जो अनेक विवाद हैं, कदाचित् उनकी तह में कर्म के सम्बन्ध में उसे एक सरल शृंखला के रूप में देखना, तथा उसे एक पूरे तन्त्र के अंग के रूप में देखना—ये दो दृष्टियाँ विद्यमान हैं। दोनों का सम्बन्ध दो भिन्न प्रकार की आवश्यकताओं से जुड़ा लगता है। जब हम कर्म को एक सरल शृंखला के रूप में देखते हैं तो हमारा लक्ष्य व्यक्ति के दायित्व को निश्चित करना होता है, और समाज में दण्ड या न्याय-व्यवस्था को सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक प्रतीत होता है। यहां हमारे सामने एक व्यावहारिक समस्या होती है, और हमें एक निर्णय लेना होता है—मुख्य रूप में हमारे सामने प्रश्न होता है ‘किसने किया?’ इस सन्दर्भ में हम

व्यक्ति को एक समर्थ कर्ता का दर्जा देते हैं, और यह मान कर चलते हैं कि वह चाहता तो जो उसने किया वह, वह नहीं भी कर सकता था, वस्तुतः उसे वैसा नहीं करना चाहिए था, उसे वैसा नहीं चाहना चाहिए था। हम मान लेते हैं, कि जो उसने किया उसका आरम्भ एक निश्चित इच्छा अथवा प्रेरणा थी, उसके परे सोचने की कोई आवश्यकता नहीं है। और इतना उसके कर्तृत्व को निश्चित करने के लिए पर्याप्त है, और निश्चित नियमों के आधारों पर हम व्यक्ति को उसके किए लिए उपयुक्त दण्ड का विधान करते हैं।

दूसरी ओर जब हम कर्म को 'समझना' चाहते हैं, जब सम्बन्धित कर्मफल की संगति के अपवाद सामने आते हैं, तब हम वैयक्तिक प्रणाली को छोड़कर समष्टिमूलक प्रणाली को अपनाते हैं। कर्म को समझने के लिए हम स्वभाव, आदत, तात्कालिक परिस्थिति, व्यक्ति का सांस्कृतिक परिवेश तथा अनेक दूसरे पहलुओं पर सोचते हैं, जिनका पहले उल्लेख किया जा चुका है। हमें यह युक्तियुक्त नहीं लगता कि जो न किया हो उसका हमें फल मिले तथा जो किया हो उसका फल नहीं मिले। परिणामस्वरूप हमने जन्म-जन्मान्तर की कल्पना की, अदृश तथा अपूर्व की कल्पना की। हमें लगा कि किसी व्यवस्था के बिना तो जीवन की कल्पना ही सम्भव नहीं है, वह व्यवस्था मूलतः न्याय, औचित्य, सत्य की रक्षा करती है। मानव स्वयं, (अपनी परिसीमा के कारण) किसी व्यवस्था को स्थापित करने, तथा उसकी रक्षा करने में असमर्थ रहते हैं तो यह मूल व्यवस्था सक्रिय होती है तथा दैवी दण्ड विधान समाज की स्थिति तथा स्थिरता की रक्षा करता है। परन्तु यहां फिर एक और दिलचस्प बिन्दु की ओर ध्यान जाता है। मानवों के समाज में जो अव्यवस्था है, कर्मफल की जहां असंगति है, वहां वस्तुतः दैवी विधान ही सक्रिय है। हमें असंगति इसलिए दिखलाई पड़ती है कि हम पूरी शृंखला को नहीं देख पाते, जो पूरी शृंखला को देख सकता, जो जन्म-जन्मान्तरों में फैले जीवन का सारा गणित कर सकता, वह यह देख लेता कि मूलतः व्यक्ति ही अपने सारे भूत, वर्तमान तथा भविष्य के लिए उत्तरदायी है। एक जन्म में जो असंगत लगता है, एक से अधिक जन्मों को देखने पर, संगति की अदृष्ट कड़ियाँ स्पष्ट हो जाती हैं।

परन्तु बहुत लोग जन्म-जन्मान्तर तथा अदृश को बीच में लाना पसन्द नहीं करेंगे। शायद वे कहें कि मानवीय सम्बन्धों में, मानव के क्रिया कलाप तथा उसके परिणामों के बीच किसी संगति को न तो पाया जा सकता है, और न स्थापित किया जा सकता है। फलतः कर्मफल की असंगति कोई समस्या नहीं है परन्तु ऐसी अवस्था में कोई भी समस्या नहीं होगी। परन्तु समस्याएँ तो हैं, अतः इस दृष्टि को छोड़ना होगा। तब उस अवस्था में कर्मफल की असंगति को कैसे समझा जाय? 'क' की पत्नी तथा बच्चे हत्या के लिए उत्तरदायी नहीं हैं, तो वे उसका दण्ड क्यों भोगें? शायद यहाँ कहा जाय कि यदि वे पत्नी और

बच्चे नहीं होते तो उन्हें दण्ड नहीं भोगना पड़ता परन्तु उनका पत्नी तथा बच्चे होना क्या उनके अपने संकल्प का परिणाम है ? शायद पत्नी के लिए यह कहा जा सकता हो, क्या बच्चों के लिए भी यह कहा जा सकता है ? शायद यहां यह कहा जाय कि जिस समाज में ‘क’ सदस्य था उसकी संरचना में ही ये सम्बन्ध अन्तर्निहित हैं, तथा इन सम्बन्धों का एक विशेष प्रकार का होना, समाज के सदस्यों के लिए विशिष्ट प्रकार के परिणाम लाता है। यदि ऐसे समाज की कल्पना करें जिसमें ‘क’ को कारावास मिलने पर पत्नी तथा बच्चों की देखभाल समाज के अन्य सदस्यों पर, अथवा व्यवस्था पर आश्रित होती, तो वहां, स्पष्टतया इनके लिए भिन्न परिणाम होते। परन्तु हमारे समाज में, अथवा ऐसे ही किसी समाज में, जहां ‘क’ के किए फल अन्यों को भी भुगतना पड़ता है, वहां शायद मान्यता यह है कि बीबी-बच्चों का मोह ‘क’ को उस अविवेकपूर्ण कृत्य से बचा लेता। दूसरों को इससे सबक लेना चाहिए, और यदि उन्हें अपने बीबी बच्चों से मोह है, तो उन्हें ऐसे अविवेकपूर्ण कृत्यों से बचना चाहिए। अन्य शब्दों में, यद्यपि बीबी बच्चों ने ऐसा कुछ नहीं किया जो उन्हें ‘क’ के किए का फल भुगतना पड़े, उनका एक विशेष सामाजिक संरचना का अंग होना ही उनकी विपत्ति का कारण है। जिस प्रकार दैवी अथवा पृच्छन्न व्यवस्था को न जानने पर कर्मफल की संगति हमें अप्राप्य होती है, उसी प्रकार समाज की संरचना को न समझने के कारण हम उसे नहीं देख पाते, दोनों ही अवस्थाओं में कर्म तथा फल का कोई सीधा सम्बन्ध हो, अथवा वे किसी एक सरल शृंखला का अंग हों, यह आवश्यक नहीं है। हमने यह देखा कि समाज की ऐसी संरचना की कल्पना सम्भव है, जिसमें यह सम्बन्ध अधिक निकट का हो। इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य है कि जिन विचारकों ने न्याय तथा दण्ड की उस व्यवस्था की कल्पना की है जिसमें अपराधो का बहिष्कार नहीं किया जाता, अपितु उसके साथ लगभग उसी प्रकार का व्यवहार होता है जैसा रूग्ण व्यक्तियों के साथ। वे वस्तुतः ऐसी सामाजिक संरचना को प्रस्तुत करते हैं जिसमें कर्मफल की संगति अधिक तर्क संगत रूप में प्राप्त होती है।

इस विवेचन में जिन दो दृष्टियों की बात की गई है, वे महाभारत के मनीषियों के लिए अलग-अलग नहीं थीं। शान्तिपर्व में इस बात पर बड़ा बल दिया गया है कि राजा तथा राज्य इतने घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं कि सारी सामाजिक व्यवस्था इस सम्बन्ध का प्रतिबिम्ब है। राजा के कर्तव्यनिर्वाह के अभाव में न केवल सारी व्यवस्था ही छिन्न-भिन्न हो जाती है, अपितु प्राकृतिक घटनाएँ भी अनियमित हो जाती हैं। वर्षा, ऋतुएँ मानव जीवन में घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। जीवन कल्याणमय हो तथा समृद्ध दिशा ले इसके साथ ऋतुओं का सहयोग अथवा उनकी अनुकूलता भी आवश्यक है। ऐसा लगता है कि समस्त चराचर जगत् की एक अखण्ड कल्पना तथा उसके आधार में एक न्यायिक

व्यवस्था मानवीय समाज एवं व्यापार की समझ में आधारभूत स्थान रखती है। राजा का कर्तव्य न केवल दण्ड नीति द्वारा दुष्टों को दण्ड देकर मर्यादा को स्थापित करना, अपितु सभी वर्णों के त्रिवर्ग की रक्षा करना भी था। पूर्वापेक्षा यह लगती है कि सभी सदस्य अपना-अपना कर्तव्य शास्त्रविहित रूप में नहीं निभायेंगे, तथा एक दूसरे के धर्म क्षेत्रों में हस्तक्षेप करेंगे तो ऐसी अव्यवस्था जन्म लेगी जिसमें कोई व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम की सिद्धि नहीं कर सकेगा। व्यक्ति का कल्याण तथा एक निश्चित सामाजिक संरचना परस्पर इतने घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं कि एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती। पृथ्वी पर राजा तथा परलोक में देवता इस संरचना की रक्षा करते हैं।

यह कल्पना बड़ी मोहक है, परन्तु फिर यही प्रश्न उठता है कि किसी भी समय समाज में विघटन आरम्भ ही कैसे हुआ? यहाँ महाभारत का सन्दर्भ देकर हमारा उद्देश्य महाभारत के मनीषियों के विचारों की मीमांसा नहीं है, अपितु केवल इस ओर ध्यान आकर्षित करना है कि कर्मफल की संगति का प्रश्न सामाजिक संरचना के प्रश्न से जुड़ा हुआ है।

निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि कर्मफल की संगति के विषय में हमें असन्तोष इसलिए होता है कि हम प्रथम तो कर्म को एक ऐसी सरल श्रृंखला के रूप में देखते हैं जो एक निश्चित आदि तथा अन्त रखती है, दूसरे इस श्रृंखला को हम एक अन्य श्रृंखला अर्थात् कारण-कार्य की श्रृंखला के उदाहरण के रूप में लेते हैं जहाँ हम दो घटनाओं में सीधे एक निश्चित संबंध मान बैठते हैं। दोनों ही अपेक्षाएं अनुचित हैं। कार्य तथा फल एक ही चीज नहीं है, दूसरे कर्म की आवश्यकता तथा पर्याप्त अवस्थाएँ हमें कर्म को एक जटिल व्यवस्था के अंग के रूप में देखने के लिए बाध्य करती हैं। □

---

जिस कार्य का सम्बन्ध वर्तमान से हो, जिसके बिना किये किसी प्रकार न रह सकें, जिसके सम्पादन के साधन उपलब्ध हों, जिससे किसी का अहित न हो, ऐसे सभी कार्य आवश्यक कार्य हैं। आवश्यक कार्य को पूरा न करने से और अनावश्यक कार्य का त्याग न करने से कर्ता उद्देश्य-पूर्ति में सफल नहीं होता। अतः मानव मात्र को अनावश्यक कार्य का त्याग और आवश्यक कार्य का सम्पादन करना अनिवार्य है।

---

प्रायः यह कहा जाता है कि अच्छे कर्म का फल अच्छा होता है और बुरे कर्म का फल बुरा। यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'अच्छा' क्या है और 'बुरा' क्या है? इन पदों को परिभाषित करना अत्यन्त कठिन है क्योंकि 'अच्छा' और 'बुरा' इन पदों को परिभाषित करते समय हम उन्हें कुछ परिस्थितियों या वस्तुओं या मानसिक अवस्थाओं से जोड़ते हैं। इतना ही नहीं कुछ व्यक्तियों के लिये एक ही परिस्थिति अच्छी हो सकती है तो अन्यो के लिये बुरी। न केवल यही बल्कि यह भी सही है कि परिस्थिति जो एक समय विशेष में अच्छी कही गयी, वही अन्य समय में बुरी कही जाती है। इसी प्रकार जब हम संसार में देखते हैं तो पाते हैं कि कुछ व्यक्ति दुराचारी और बेईमान होते हुए भी सुखी जीवन बिताते हैं तो दूसरी ओर सदाचारी और ईमानदार व्यक्ति दुःखी देखे जाते हैं। जब इन विसंगतियों के बारे में प्रश्न उठाया जाता है तो उनकी यह कहकर व्याख्या की जाती है कि ये अपने पिछले जन्मों का फल भोग रहे हैं और इस जीवन में जो कर्म कर रहे हैं, उनका फल अगले जीवन में भोगेंगे।

'कर्म' पद की व्याख्या के लिये इस शब्द के अन्य प्रयोगों पर विचार कीजिये। उदाहरण के रूप में इस कथन को लें—'करम गति टारे नाहिं टरे'। इस कथन में प्रयुक्त 'कर्म' पद पर जब हम विचार करते हैं तो पाते हैं कि यहां 'कर्म' पद का वह अर्थ नहीं है जो ऊपर के उदाहरण से लक्षित होता है। यहाँ 'भाग्य' के अर्थ में 'कर्म' पद को समझा जा रहा है। लेकिन भाग्य भी तो कर्म के अनुसार निर्धारित होता है।

एक और अन्य अर्थ पर विचार कीजिये। 'वह अपने कर्मों का फल भोग रहा है।' इस कथन में व्यक्ति के इसी जीवन में कर्मों के आधार पर प्राप्त फलों की बात कही जा रही है। उदाहरण के रूप में कोई गरीब लड़का मेहनत-मजदूरी करके शिक्षा प्राप्त करता है और अपनी योग्यता के आधार पर अच्छी नौकरी पा जाता है तो हम कहते हैं यह उसके कर्मों का फल है। इसी प्रकार अगर कोई व्यक्ति निरन्तर शराब पीने के कारण अपना स्वास्थ्य खराब कर लेता है तो भी हम इसी प्रकार की बात कहते हैं।

उपर्युक्त सभी उदाहरणों में कर्म के द्वारा कुछ व्यवहारों की व्याख्या

की जा रही है और 'कर्म' पद का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया जा रहा है। अतः कर्म के स्वरूप और उससे सम्बन्धित कुछ प्रश्नों की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करना वांछनीय है।

चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त सभी भारतीय दार्शनिक तंत्र किसी न किसी रूप में कर्म के प्रत्यय को स्वीकार करते हैं। कर्म को बन्धन के कारण के रूप में एवं मुक्ति के साधन के रूप में व्याख्यायित किया गया है। कर्म के बारे में विभिन्न मान्यताएँ हैं जिनके आधार पर कर्म के कारण और साधन रूप पर प्रकाश पड़ता है। एक मान्यता है कि प्रत्येक कर्म का कोई न कोई परिणाम अवश्य होता है (या होना चाहिये)। इस मान्यता (या वास्तविकता ?) का आधार है कारण और कार्य नियम की सार्वभौमिकता। दूसरे शब्दों में, कारण और कार्य में सार्वभौमिक सम्बन्ध है। इसी कारण और कार्य के नियम के आधार पर कर्म और फल के बीच सम्बन्ध की व्याख्या की जाती है। और कहा जाता है कि अगर हम इस नियम कि 'कर्म होगा तो फल अवश्य मिलेगा' को स्वीकार नहीं करेंगे तो कारण-कार्य नियम की सार्वभौमिकता को भी अस्वीकार करना पड़ेगा। अगर हम थोड़ा विचार करें तो ज्ञात होगा कि कर्मवादी मात्र इतना ही नहीं कह रहा है कि कारण और कार्य के बीच का सम्बन्ध भौतिक घटनाओं की व्याख्या तक सीमित है वरन् वह इस नियम को नैतिक घटनाओं की व्याख्या के लिये भी कह रहा है। ऐसा करते समय उसका यह दावा है कि कर्म का जैसे प्राकृतिक परिणाम होता है, उसी प्रकार नैतिक परिणाम भी होता है। देखा जाय तो कर्मवादी की रुचि इसी में ही होती है। कर्म चाहे व्यक्तिगत रूप से किया जाय या सामूहिक रूप से, उसका नैतिक परिणाम अवश्य होता है। इसीलिए कर्मवादी कहता है कि अच्छे कर्म का अच्छा और बुरे का बुरा परिणाम होता है।

कर्म के नैतिक परिणाम के बारे में सभी कर्मवादी एक मत नहीं हैं। नैतिक परिणाम मानने वाले विचारक यह मानते हैं कि कर्म से एक शक्ति उत्पन्न होती है जो जीव में सुरक्षित रहती है और बाद में नैतिक परिणाम उत्पन्न करती है। ये विचारक किसी व्यक्ति के हैजे से मरने या पेड़ से गिरकर हड्डी के टूटने जैसी घटनाओं की व्याख्या भी व्यक्ति द्वारा पिछले जन्म में किये गये अशुभ कर्मों के आधार पर करते हैं। इस दृष्टि से देखें तो ज्ञात होता है कि कर्मवादी न तो कर्म के प्राकृतिक कारणों में रुचि रखता है और न प्राकृतिक परिणाम में। उसके अनुसार किसी घटना का प्राकृतिक कारण वास्तविक कारण नहीं होता, वास्तविक कारण होता है पिछले कर्म से उत्पन्न शक्ति जो जीव में परिणाम उत्पत्ति तक रहती है। प्राकृतिक कारण उसके लिए गौण-होते हैं। उदाहरण के रूप में हैजे से मरना या पेड़ से गिरकर मरना, पिछले कर्म (उसके द्वारा किसी व्यक्ति की हत्या) का परिणाम कहा जायेगा।

‘कर्म की शक्ति’ के स्वरूप के बारे में तथा उसके निर्देशन के बारे में विभिन्न भारतीय दार्शनिक तंत्रों के मत अलग-अलग हैं जिनकी संक्षेप में चर्चा करना सम्भव नहीं। यहां केवल दो विवादास्पद बिन्दुओं, जिन पर चर्चा की जानी चाहिये, को इंगित किया जाता है—(१) क्या चेतन सत्ता के अतिरिक्त किसी अन्य अर्थात् कर्म में शक्ति रह सकती है? तथा (२) क्या नैतिक मूल्यों और प्राकृतिक गुणों को समान स्तर का माना जा सकता है? इन प्रश्नों को उठाने का आधार यह है कि ‘होना चाहिये’ और ‘है’ दो अलग-अलग कोटियां हैं। एक को दूसरे में घटित करने में तार्किक कठिनाई उत्पन्न होती है।

कुछ दर्शन-सम्प्रदाय कर्म सिद्धान्त के साथ ईश्वर के प्रत्यय को भी जोड़ते हैं। इन दार्शनिकों का मत है कि ईश्वर कुछ भी कर सकता है क्योंकि वह सर्वज्ञ है और सर्वशक्तिशाली है। लेकिन क्या उचित और अनुचित, शुभ और अशुभ, अच्छा या बुरा क्या है, इसे भी ईश्वर तय करता है? लेकिन हम देखते हैं नैतिक नियम सार्वभौमिक नहीं होते और चूंकि नैतिक नियम प्राकृतिक नियम जैसे नहीं हैं अतः ईश्वर के नियमों के ज्ञान की सम्भावना संदेहास्पद है। इन आलोचनाओं से बचने का एक ही मार्ग है और वह है कि ईश्वर को नैतिक नियमों का स्रोत न मानकर मानव या मानव-समाज को ही नैतिकता का स्रोत माना जाय।

कर्म से सम्बन्धित उपर्युक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि कर्मवाद की एक मान्यता तो यह है कि प्रत्येक कर्म का उसके अनुसार फल मिलता है, दूसरी मान्यता है कि पुनर्जन्म होता है और तीसरी मान्यता (कुछ दर्शनों के अनुसार) यह है कि ईश्वर की सत्ता है और वह इन सबका नियंत्रण करता है।

लेकिन इसके साथ-साथ हमने यह भी देखा है कि ऐसा मानने पर कुछ वैचारिक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए एक सुझाव प्रस्तुत किया कि अगर नैतिक विधान को मानवीय विधान मान लिया जाय तो ये कठिनाइयाँ दूर की जा सकती हैं। इस प्रकार की विचारधारा के पक्ष में हमें बहुत से तर्क मिल सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म के बारे में जानता है, अतः वह अपने कर्म के लिए उत्तरदायी भी है। अतः उसे कर्मों के लिए पुरस्कार और दण्ड दिया जा सकता है। लेकिन इस मत के विरुद्ध भी अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित की जा सकती हैं क्योंकि विभिन्न कालों और समाजों में नैतिकता के स्तर या अच्छे और बुरे की परिभाषा भिन्न-भिन्न रही है, अतः हम कोई सार्वकालिक और सार्वभौमिक नियम नहीं बना पायेंगे। नैतिक नियम निरपवाद एवं निरपेक्ष होना चाहिये। □



## सेवा आत्मा का विस्तार

□ डॉ० नरेन्द्र मानावत

जग में हैं जितने भी प्राणी,  
उन सबके मन और भाव है।  
जैसा मैं सुख-दुःख अनुभवता,  
वैसा ही उनका स्वभाव है।

उनके सुख-दुःख में सहभागी  
बनकर करूँ सभी को प्यार।  
सेवा आत्मा का विस्तार ॥१॥

भूखों को भोजन नसीब हो,  
तृषितजनों को निर्मल पानी।  
रोगी को औषध मिल जाये,  
भीतजनों को निर्भय वाणी ॥

जो जड़ता में मूर्च्छित-बन्धित,  
खोलूँ उनके चेतन द्वार।  
सेवा आत्मा का विस्तार ॥२॥

सेवा सौदा नहीं, हृदय का  
सहज उमड़ता अमित स्नेह है।  
जो इसमें रमता उसके हित,  
सारी वसुधा परम गेह है ॥

सेवा का सुख शाश्वत, स्वाश्रित,  
उसमें किञ्चित् नहीं विकार।  
सेवा आत्मा का विस्तार ॥३॥

सेवा से सब मल गल जाते,  
नयी शक्ति नव तेज निखरता।  
आत्म-गुणों का सिंचन होता,  
दुःख-दरदों का जाल विदरता ॥

सेवा से बनते परमात्म,  
दुर्लभ नर जीवन का सार।  
सेवा आत्मा का विस्तार ॥४॥

□ □ □

तृतीय खण्ड



कर्म सिद्धान्त  
और  
आधुनिक विज्ञान



'कर्म' का जो रूप और आत्मा के साथ सम्बन्ध के प्रारूप जो जैन सिद्धान्त ने स्थापित किए हैं, वे अत्यन्त आधुनिक विज्ञानमय हैं। जैन कर्म सिद्धान्त और आधुनिक विज्ञान में कोई विभेद नहीं है—सिवा इसके कि एक जीव—आत्मा—शरीर-धारी से सम्बन्धित है तो दूसरा प्रायोगिक, रासायनिक और भौतिक प्रभावों के समीकरणों से संयुक्त है। आधुनिक विज्ञान ने जीव-जीवन और आत्मा सम्बन्धित रिसर्च (अनुसंधान) तो बहुत किया और कर रहा है पर अभी तक किसी विशेष नतीजे पर नहीं पहुँच पाया है। जैन तीर्थंकरों ने हजारों वर्ष पहले, तपस्या (गंभीर चिन्तन) द्वारा जीवन के विषय में जो उपलब्धियाँ प्राप्त की वे वैज्ञानिक तथ्यों और प्रयोगों द्वारा अकाट्य एवं पूर्णतः समर्थित पाई जाती हैं। यदि वैज्ञानिकों ने थोड़ा भी जैन कर्म सिद्धान्त का अध्ययन किया होता या करते तो एक महान सफलता को उपलब्ध उनके खोजों और अनुसंधान (रिसर्च) में हुई होती परन्तु अफसोस यही है कि वैज्ञानिक धर्म सिद्धान्त को बकवास मानते हैं और धर्माधिकारी लोग विज्ञान को धर्मद्वेषी। यदि दोनों मिलकर काम करें तो संसार की कितनी ही विसंगतियों और समस्याओं को सुलभाने में कठिनाई नहीं रह जाय। विशेषकर जैन कर्म सिद्धान्त तो परम वैज्ञानिक है। इस और आधुनिक वैज्ञानिकों तथा विद्वानों का ध्यान आकषित करने के लिए कुछ ऐसे साहित्य के सृजन की परम आवश्यकता है जिससे ऐसे लोगों में इस विषय में दिलचस्पी उत्पन्न हो सके।

विज्ञान का इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन, पोजीट्रॉन आदि हमारे जैन कर्म सिद्धान्त के "पुद्गल परम परमाणु" ही हैं। तीर्थंकरों ने इन्हें जीव-जीवन और आत्मा से संबंधित प्रभावों को व्यक्त किया। वे तो मानव की श्रेष्ठता, उसके दुःखों का निवारण, शाश्वत आनंद और मोक्ष प्राप्ति की दिशा में ही मानसिक अनुसंधान (तपस्या या गंभीर चिन्तन) द्वारा उपलब्ध तथ्यों को प्रकाश में लाने में लगे रहे। उन्होंने भौतिक या सांसारिक सभी कुछ दुःखमय पाकर त्याग करने का ही उपदेश दिया। भौतिक संसार विज्ञान में इतना अधिक उन्नति कर गया है—पर क्या सभी सुखी हो सके हैं? भौतिक समृद्धियाँ और जीवन के आयाम काफी बढ़ गए हैं। फिर भी मानव असंतुष्ट और दुखी ही पाया जाता है। भोग-विलास से क्षणिक सुख ही होता है। शाश्वत सुख तो तीर्थंकरों के बतलाए मार्ग

पर चलकर ही मिल सकता है। तीर्थंकरों ने भी साधारण मानव की भाँति जन्म लिया और अपनी साधना और सम्यक् चिंतन और आचरण द्वारा महामानव—भगवान बन गए।

विज्ञान तो आजकल महानाश—प्रलय का अग्रदूत बन गया है। विकसित कुछ बड़े देशों ने ऐसे अस्त्रशस्त्रों का निर्माण कर लिया है और करते जा रहे हैं जिनसे संसार या पृथ्वी टुकड़े-टुकड़े होकर समाप्त की जा सकती हैं। सर्वज्ञ तीर्थंकरों का कर्म-सिद्धान्त इसके ठीक विपरीत देश और संसार में तथा किसी भी समाज में सुख-शान्ति की स्थायी स्थापना कर सकता है।

जैन कर्म सिद्धान्त की कुछ प्रमुख विशेषताएँ हैं—जिनमें मुख्य है आत्मा और पुद्गल के सम्बन्ध की विशद, विधिवत, पूर्ण वैज्ञानिक व्याख्या। सभी जीवधारियों के साथ अनादिकालीन रूप से आत्मा के साथ पुद्गल (मटर) निर्मित शरीर है। शरीर हलन-चलन कार्य या कर्म का माध्यम है और आत्मा चेतना, ज्ञान और अनुभूति का माध्यम। बिना आत्मा के सभी पुद्गल शरीर निष्क्रिय और बेजान जड़ हैं। किसी शरीर में जब तक आत्मा विद्यमान रहती है वह शरीर कर्म करता है, ठीक उसी प्रकार जैसे बिजली की हर प्रकार की मशीनें। बिजली की मशीन या तंत्र तरह-तरह के विभिन्न बनावटोंवाले होते हैं पर बिना बिजली के कुछ भी काम नहीं कर सकते। उसी प्रकार सभी आदमियों और जीवधारियों के शरीरों का निर्माण—बनावट भिन्न-भिन्न होती है—पर वे सभी अपने शरीरों में आत्मा रहने पर ही काम करते हैं। आत्मा के नहीं रहने पर वे मुर्दा—निष्क्रिय होते हैं। आत्मा सभी में समान है पर बनावट विभिन्न होने से उनके कार्य अलग-अलग होते हैं जैसे बिजली के यन्त्रों के।

जैन कर्म सिद्धान्त के अनुसार किसी जीवधारी के स्थूल शरीर के अतिरिक्त “कार्मण शरीर” और “तैजस” शरीर भी होता है। इन दोनों को हम नहीं देख सकते। इनके निर्माण करने वाले पुद्गल परमाणु और उनके संघ इतने सूक्ष्म होते हैं कि देखना संभव नहीं होता। इनमें कार्मण शरीर सबमें प्रमुख है। यही मानव या किसी भी जीवधारी के कार्यकलापों का प्रेरक नियंता या कर्ताघर्ता है। हमारा शरीर अनेकानेक रासायनिक द्रव्यों के सम्मेलन से बना हुआ है। ये रासायनिक पदार्थ, सभी के सभी, पुद्गल निर्मित होते हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि आधुनिक विज्ञान के इलेक्ट्रन, प्रोटन, न्यूट्रन, पोर्जी-ट्रन आदि जैन सिद्धान्त में वर्णित “पुद्गल” हैं। चूँकि “एटम” को हिन्दी में परमाणु की संज्ञा दी गई है—इसलिए इलेक्ट्रन आदि को मैंने “परम परमाणु” कहा है। ये ही परम परमाणु “पुद्गल” हैं। पुद्गल परम परमाणु ही आपस में मिल-मिलाकर परमाणु (एटम) बनाते हैं और ये एटम (पुद्गल परमाणु) मिलकर अणु (मौलीक्यूल) बनाते हैं। जिनके मिलने से-संघबद्ध होने से,

ठोस, तरल और गैस बनते हैं। शरीर के भीतर अनेकानेक प्रकार के ये पुद्गल पिण्ड या रासायनिक संगठन हैं। इनमें सर्वदा कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है। सारा वायुमंडल पुद्गल परमाणुओं से भरा हुआ है। विश्व की हर एक वस्तु, हर एक अणु-परमाणु सर्वदा कंपन-प्रकंपन युक्त हैं—जिससे हर एक वस्तु से पुद्गलों का अजस्र प्रवाह होता रहता है।

हम भोजन, पान करते हैं जिनसे भीतर रासायनिक प्रक्रियाएँ होती रहती हैं और शरीर के भीतर हर समय नए पुद्गल पिण्ड बनते रहते हैं और पुरानों में कुछ परिवर्तन होता रहता है। इन्हीं पुद्गल पिण्डों के बीज रूप पुद्गल परमाणुओं से कर्मण शरीर का निर्माण होने से उसमें भी परिवर्तन होते रहते हैं। बाहर से अनंतानंत पुद्गल परमाणु विभिन्न संगठनों में आते रहते हैं और भीतर से निकलते रहते हैं। और आपसी क्रिया-प्रक्रिया द्वारा आंतरिक पुद्गल-पिण्डों में अथवा रासायनिक संगठनों में परिवर्तन होते रहते हैं। कुछ क्षणिक, कुछ अधिक समय तक रहने वाले कुछ काफी स्थायी प्रकार के नए-पुराने संगठन बनते-बिगड़ते रहते हैं। जो पुद्गल परमाणु शरीर के अंतर्गत पुद्गल पिण्डों से मिलकर—संघबद्ध होकर या रासायनिक क्रिया द्वारा स्थायी परिवर्तन कर देते हैं उन्हें जैन साहित्य में “आस्रव” नाम दिया गया है। रासायनिक क्रिया द्वारा संघबद्धता हो जाने पर उस क्रिया को “बंध” कहते हैं। ये परिवर्तन यथानुरूप “कर्मण शरीर” में भी होते रहते हैं। मानव जो कुछ भी करता, कहता या विचारता है वे सभी किसी न किसी पुद्गल पिण्ड द्वारा ही परिचालित, प्रेरित या प्रभावित होते हैं। यह “कर्म प्रकृति” कही जाती है। इनका विशद पर संक्षिप्त विवरण दो पुस्तकों से प्राप्त हो सकता है। ये हैं—हिन्दी में—“जीवन रहस्य एवं कर्म रहस्य” तथा अंग्रेजी में “मिस्ट्रीज ऑफ लाइफ एण्ड इटर्नल ब्लिस।”<sup>१</sup> इन्हें देखें। कर्म सिद्धान्त जैन वाङ्मय में बड़े ही विशाल रूप में वर्णित है यदि पुद्गल परमाणुओं का आना-जाना और आंतरिक पुद्गल पिण्डों से संघबद्ध होकर “बंधादि” करना समझ में आ जाय तो फिर परम वैज्ञानिक जैन कर्म सिद्धान्त समझने में कोई कठिनाई नहीं हो और तब ज्ञान श्रुतज्ञान न रहकर वैज्ञानिक सम्यक् ज्ञान हो जाय।

यह “बंध” ही भाग्य है। जो आस्रवित पुद्गल बंध बनाते हैं उन्हें कर्म पुद्गल या संक्षेप में “कर्म” कहते हैं और ये कर्म पुद्गल कर्मण शरीर से रासायनिक क्रिया द्वारा प्रतिबन्धित हो जाते हैं। यह बंधन-प्रतिबंधन सर्वदा चलता रहता है। “कर्मों” में भी परिवर्तन होता रहता है। हमारे यहाँ आठ प्रकार के “कर्म-बंध” कहे गए हैं। जो आत्मा के आठ गुणों को आच्छादित या मर्यादित कर देते हैं। कर्म

१. पुस्तकें मिलने का पता :—तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उत्तरप्रदेश, पारस सदन, आर्य नगर, लखनऊ, पिन : २२६ ००१  
जीवन रहस्य एवं कर्म रहस्य—मूल्य रु० ३.५०  
मिस्ट्रीज ऑफ लाइफ एण्ड इटर्नल ब्लिस—मूल्य रु० ७.५०

पुद्गलों का आस्रव हमारे शारीरिक, मानसिक, वाचिक हलन-चलन द्वारा होता है। आस्रव के अन्य कई कारण जैन शास्त्रों में वर्णित हैं। आस्रवित पुद्गल काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि “कषायों” और बुरी भावनाओं द्वारा “बंध” में परिणत हो जाते हैं। ये बंध कुछ क्षणिक, कुछ अर्ध स्थायी और कुछ स्थायी होते हैं। ये सभी कुछ, रासायनिक पद्धति द्वारा, शरीर से कर्म कराने की व्यवस्था करते हैं। अच्छे कर्म पिण्ड अच्छा कर्म और बुरे कर्म पिण्ड बुरा कर्म प्रभावित करते हैं। आत्मा स्वयं कुछ नहीं करती वह तो शुद्ध, बुद्ध, ज्ञानमय है। परन्तु उसकी उपस्थिति में ही कर्म होते हैं अन्यथा तो शरीर निर्जीव अचेतन, जड़ ही है।

हम जो कुछ भी करते हैं—देखते-सुनते हैं सभी कुछ पुद्गल निर्मित-पुद्गलमय होते हैं। इन्हें जैन वाङ्मय में “व्यवहार” कहा गया है। “निश्चय” तो केवलमात्र आत्मा या आत्मा में लीन हो जाना ही है। एकाग्रता से एक ही प्रकार का कर्मास्रव होता है। आत्मा में ध्यान लगाने से चिन्ता, माया, मोह आदि से निलिप्त होने से कर्म पुद्गलों का आगमन और बंध एकदम रुक जाता है। इतना ही नहीं पुद्गल पिण्डों में से पुद्गल परमाणु निःसृत होते हैं। उनसे कर्मों की “निर्जरा” भी होती है। जिससे आत्मा की शुद्धता, कर्मों या कर्म पुद्गलों से छुटकारा मिलने से बढ़ती है।

अनंतकालिक परंपरा से चले आते कौटुम्बिक अथवा सामाजिक प्रचलनों में फंसे लोग “अज्ञान” में ही पड़े रहकर सच्चे ज्ञान और सच्चे धर्म की शिक्षा की प्राप्ति नहीं कर पाते हैं। इसके लिए सभी को षट्द्रव्य, सप्ततत्त्व, नवपदार्थ—जैसा जैन सिद्धान्त में वर्णित है, उसकी जानकारी आवश्यक है। पर जैन सिद्धान्तों का तीव्र विरोध स्वार्थी लोगों ने इतना फैला रखा है कि इनका ज्ञान बिरले लोगों को ही हो पाता है। जैन समाज भी इन तत्त्वों का प्रचार-प्रसार उचित रीति से नहीं करता, इससे संसार अव्यवस्था, अनीति और अनाचार एवं दुःखों से भरा हुआ है। सरल भाषा में सरल शब्दावली लिए यदि जैनदर्शन और सिद्धान्त की पुस्तकें लिखकर सस्ते दामों में प्रचारित की जाएं तो संसार का बड़ा भला हो। अभी तो हमारे श्रीमंत, पंडित, और गुरु मुनि लोगों का ध्यान इधर गया ही नहीं तो क्या हो? जैन समाज को जैन तत्त्वों के प्रचार-प्रसार पर मंदिर-निर्माण से अधिक खर्च करना चाहिए। इसी से सबका सच्चा भला होगा। जैन मंदिरों और संस्थाओं में तो रुपया बहुत इकट्ठा है पर उस धन का सदुपयोग नहीं हो पाता। प्रति वर्ष मूर्ति प्रतिष्ठा, कल्याणक महोत्सव आदि समारोहों पर लाखों रुपया इकट्ठा होता है, पर क्या इन रुपयों का एक फीसदी भी तत्त्व-ज्ञान के प्रचार-प्रसार में खर्च होगा? यदि यह धन ईंट, पत्थर, मंदिर, मूर्ति तथा इमारतों में न लगाकर प्रचार में उचित रीति से खर्च किया जाय तो समाज, देश, विश्व और मानवता का कितना भला हो!



□ श्री अशोककुमार सक्सेना

विज्ञान को जड़ से चेतन करने का श्रेय आचार्य जगदीशचन्द्र बसु को है, जिन्होंने सर्वप्रथम यह प्रतिपादित किया कि सारी प्रकृति जीवन से स्पंदित होती है और तथाकथित 'अचेतन' तथा 'चेतन' में सीमारेखा व्यर्थ है। इसी प्रकार आइन्स्टाइन ने यह प्रक्रिया प्रारम्भ की जिसके आधार पर आधुनिक विज्ञान 'वस्तु' और 'विचार' को एक साथ देख सकने में समर्थ हो सका। जिस प्रकार पृथक्-पृथक् बिन्दुओं की कोई आकृति नहीं होती है परन्तु वे मिलकर कोई चित्र बना सकते हैं, उसी प्रकार पारमाणविक अवयव—प्रोटान, इलेक्ट्रान, न्यूट्रान, मेजान, क्वार्क—स्वयं 'वस्तु' न होकर केवल 'विचार' हैं, किन्तु वे मिलकर कोई वस्तु अर्थात् परमाणु बना सकते हैं। इसी प्रकार का एक विचार है 'कोटोन' जो प्रकाश का 'निर्माण' करता है—और वैज्ञानिक पोली का विचार है—'न्यूट्रिनो', जो कि ठोस द्रव्य से एकदम अनासक्त भाव से गुजर जाता है। इसके अतिरिक्त आइन्स्टाइन की सभी ब्रह्माण्डिकियाँ एक मान्यता के अधीन परिकल्पित की जाती हैं, जिसे ब्रह्माण्डिकीय सिद्धान्त कहते हैं, जिसका अर्थ है कि ब्रह्माण्ड सर्वत्र औसतन एक जैसा है अर्थात् द्रव्य और गति का वितरण पूरे ब्रह्माण्ड में औसतन वैसा ही है जैसा उसके किसी भाग—उदाहरणार्थ हमारी नौहारिका—आकाशगंगा—मन्दाकिनी में। इस मान्यता के पीछे 'गणितीय सौन्दर्यबोध' के अतिरिक्त और कोई आधार नहीं है—और इस प्रकार आइन्स्टाइन के सूत्रों के आधार पर विभिन्न ब्रह्माण्डिकियाँ वैसे ही प्रस्तुत की जाने लगीं जैसे कर्म-सिद्धान्त के आधार पर जैन, बौद्ध, सांख्य आदि दर्शन।

प्रकृति की लीला समझने के लिये मानव के पास गणित ही 'एक भरोसा, एक बल' है, परन्तु गणितीय निष्कर्ष निराकार ब्रह्म की तरह होते हैं। उनके साकार रूप की उपासना प्रयोगशाला के मन्दिर में होती है और इन्जीनियरी तथा प्रौद्योगिकी अपना काम निकालने के लिए सिद्धि-प्राप्ति का प्रयास हैं। इसी प्रकार परम तत्त्व को समझने के लिए कर्म-सिद्धान्त एक वास्तविक सच है, जिसमें स्वयं आत्मा निराकार ब्रह्म है और मोक्ष या कैवल्य या सिद्धि-प्राप्ति के साधन हैं—भक्ति, कर्म, ज्ञान व योग।

संसार की सभी घटनाएँ, जीवों की सभी चेष्टाएँ, यहाँ तक कि स्वयं यह



जगत्, कर्म की ही गति का फल है । देवता लोग भी कर्म के बन्धनों से परे नहीं हैं । अवतार लेने पर भगवान भी कर्म के गतिचक्र में घूमने लगते हैं । कर्म की गति बड़ी विचित्र है । इसके आदि—अन्त को जानना सरल नहीं है । सच ही कहा गया है—‘गहना कर्मणो गति’ ।

विश्व में व्याप्त विषमता का एकमात्र कारण प्राणियों द्वारा किये गये अपने कर्म हैं । ‘कर्मजम् लोकवैचित्र्य’, अर्थात् विश्व की यह विचित्रता कर्मजन्य है, कर्म के कारण है ।

“कर्म प्रधान विश्व करि राखा, जो जस करहि सो तसि फल चाखा”  
—यही कर्म सिद्धान्त है, जिसे वेदान्त, गीता, जैन, बौद्ध, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, सांख्य, योग, अद्वैत, काश्मीरीय शैव, वैष्णव, भेदाभेद, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत—सभी दर्शन स्वीकार करते हैं ।

विभिन्न दार्शनिकों के मन्तव्यों से यह स्पष्ट है कि कर्म क्रिया या वृत्ति या प्रवृत्ति या द्रव्यकर्म है, जिसके मूल में राग और द्वेष रहते हैं—‘रागो य दोसो विय कम्मबीय’ । हमारा प्रत्येक अच्छा या बुरा कार्य संस्कार, धर्म-अधर्म, कर्माशय, अनुशय या भावकर्म छोड़ जाता है । संस्कार से प्रवृत्ति और प्रवृत्ति से संस्कार की परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है । इसी का नाम संसार है, जिसके चक्र में पड़े हुए प्राणी कर्म, माया, अज्ञान, अविद्या, प्रकृति, वासना या मिथ्यात्व से संलिप्त हैं, जिनके कारण वे संसार के वास्तविक स्वरूप को समझने में असमर्थ हैं, अतः प्राणी के प्रत्येक कार्य राग द्वेष के अभिनिवेश हैं । इसलिए प्राणियों का प्रत्येक कार्य आत्मा पर आवरण का ही कारण होता है । परन्तु सत्त्व-रजस-तमो-रूपा त्रिगुणात्मिका अविद्या त्रिगुणातीत आत्मा से पृथक् है । जीव और कर्म के सम्बन्ध का प्रवाह अनादि है । कर्म-प्रवाह के अनादित्व को और मुक्त जीव के संसार में न लौटने को सभी प्रतिष्ठित दर्शन मानते हैं ।

आत्मा ही कर्म का कर्ता और उसके फल का भोक्ता है—“य कर्त्ता कर्म भेदानाम् भोक्ता फलस्य च” यद्यपि जीव और पौद्गलिक कर्म दोनों एक दूसरे का निमित्त पाकर परिणामन करते हैं तथापि आत्मा अपने भावों का ही कर्ता है, पुद्गल कर्मकृत समस्त भावों का कर्ता नहीं है ।

गीता में स्पष्ट कहा है—“नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभु”, अर्थात् परमेश्वर न तो किसी के पाप को लेता है और न पुण्य को, यानी प्राणी-मात्र को अपने कर्मानुसार सुख-दुःख भोगने पड़ते हैं । कर्म अपना फल स्वयं देते हैं । ‘कर्मणा बध्यते जन्तुः’ (महाभारत, शान्तिपर्व) अर्थात् प्राणी कर्म से बंधता है और कर्म की परम्परा अनादि है । ऐसी परिस्थिति में ‘बुद्धि कर्मानुसारिणी’

अर्थात् कर्म के अनुसार प्राणी की बुद्धि होती है। 'यादृशी भावना यस्य सिद्धि-  
र्भवति तादृशी' अर्थात् अच्छे आशय से किया गया कार्य पुण्य और बुरे अभिप्राय  
से किया गया कार्य पाप का निमित्त होता है। इसलिये साधारण लोग यह  
समझते हैं कि अमुक काम न करने से अपने को पाप-पुण्य का लेप न लगेगा,  
इससे वे उस काम को तो छोड़ देते हैं, पर बहुधा उनकी मानसिक क्रिया नहीं  
छूटती, इससे वे इच्छा रहने पर भी पाप-पुण्य के बन्ध से अपने को मुक्त नहीं  
कर सकते। सच्ची निर्लेपता मानसिक क्षोभ के त्याग में है। अनासक्त कार्य से  
ही मोक्ष प्राप्त होता है। इसीलिये "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन"  
(गीता), अर्थात् कर्म करना अपना अधिकार है, फल पाना नहीं। परम पुरुषार्थ  
या मोक्ष पाने के तीन साधन हैं—श्रद्धा या भक्ति या सम्यग् दर्शन, ज्ञान या  
सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र अर्थात् कर्म और योग। मनोनिग्रह, इन्द्रिय-जय  
आदि सात्विक कर्म ही कर्म मार्ग है और चित्त-शुद्धि हेतु की जाने वाली  
सत्प्रवृत्ति ही योग मार्ग है। कर्ममार्ग और योगमार्ग दोनों ही कर्म-सिद्धान्त के  
अभिन्न अंग हैं।

चार्ल्स डार्विन का जैव-विकासवाद जिस प्रकार से सरलतम से जटिलतम  
जीव की उत्पत्ति बतलाता है, उसी प्रकार कर्म-सिद्धान्त भी जीव या आत्मा के  
आध्यात्मिक विकास को कर्म के आधार पर मानता है और कर्मानुसार जीव  
को विभिन्न योनियों में से होकर जन्म-जन्मन्तर गुजरना पड़ता है। जीव मोह  
के प्रगाढ़तम परदे को हटाता हुआ उत्तरोत्तर आध्यात्मिक विकास की परि-  
मापक रेखाओं या गुणस्थानों या चित्त-भूमिकाओं की विभिन्न अवस्थाओं में से  
होकर गुजरता है (पातंजल योग-दर्शन, योगवासिष्ठ, श्री देवेन्द्रसूरिकृत कर्म-  
विपाक) और जब अज्ञान रूपी हृदय-ग्रंथियाँ विनष्ट हो जाती हैं तभी मोक्ष  
या केवल्य प्राप्त होता है (शिव गीता)। यही आत्मा के विकास की पराकाष्ठा  
है। यही परमात्म-भाव का अभेद है। यही ब्रह्मभाव है। यही जीव का शिव  
होना है, यही पूर्ण आनन्द है। तपस्या के कारण पुण्य के उदय होने से तत्त्व-  
की प्राप्ति जीवित अवस्था में यदि किसी जीव को हो जाये, तो उसके ज्ञान के  
प्रभाव से उसकी वासना नष्ट हो जाती है, क्रियमाण या प्रारब्ध कर्म का नाश  
हो जाता है एवं संचित कर्म भी शक्तिहीन हो जाते हैं। यही जीवर्ण-मुक्त की  
अवस्था है, जिसके पश्चात् चरम पद की प्राप्ति होती है। अतः परम पद के  
जिज्ञासु को अनासक्त होकर कर्म को करते रहना चाहिये, क्योंकि कर्म और  
भक्ति के बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती और ज्ञान की प्राप्ति से ही परम  
पद की प्राप्ति होती है। मोक्ष कहीं बाहर से नहीं आता। वह आत्मा की समग्र  
शक्तियों का परिपूर्ण व्यक्त होना मात्र है। सभी निवर्तकवादियों का सामान्य  
लक्षण यही है कि किसी प्रकार से कर्मों की जड़ नष्ट करना और ऐसी स्थिति  
पाना कि जहाँ से फिर जन्मचक्र में आना न पड़े, क्योंकि पुनर्जन्म और परलोक

का कारण कर्म है। जीव कर्मों के आवरण को पुरुषार्थ द्वारा हटाता है। सिद्ध जीव की विकसित दशा है।

वैज्ञानिक क्लाइड की ब्रह्माण्डकी गोचर ब्रह्माण्ड को एक परिमित व्यवस्था—परानीहारिका (मैटागैलेक्सी) का सदस्य मानती है। इस परानीहारिका में पहले द्रव्य और प्रतिद्रव्य दोनों उपस्थित थे। प्रतिद्रव्य को संक्षेप में यों समझिये कि परमाणु के जो दो सौ से ऊपर ज्ञात अवयव हैं उनमें से कुछ के 'विरोधी' अवयव प्रयोगशाला में पहचान लिए गए हैं, तो यदि समस्त अवयवों के विरोधी अवयव हों और वे आपस में मिल भी सकें तो 'प्रति-परमाणु' बन सकता है और फिर आगे प्रतिद्रव्य का भी अस्तित्व सम्भव है। यदि प्रतिद्रव्य है तो वह द्रव्य के साथ नहीं रह सकता—परस्पर संयोग होते ही वे एक-दूसरे को समाप्त कर देंगे और इस प्रक्रिया में अकल्पनीय ऊर्जा की सृष्टि होगी—परन्तु प्रतिद्रव्य अकेले बना रह सकता है, जैसे कि द्रव्य अकेले बना रह सकता है। प्रतिद्रव्य की बनी हुई एक दुनिया भी हो सकती है। उस दुनिया में क्या हो सकता है, इस चर्चा के अपने-अलग मजे हैं और 'प्रतिविश्व' पर वैज्ञानिकों का कोई एकाधिकार भी नहीं है। उदाहरण के लिये कृष्ण-लीला की उदात्तता सिद्ध करने के लिए कुछ वैष्णव दार्शनिकों ने 'गोलोक' की कल्पना प्रतिविश्व के रूप में ही की है, जिसका विशेष लाभ यह है कि परकीया प्रेम जो इस लोक में अधम कृत्य है, उस लोक में उत्तम कृत्य हो जाता है। भारतीय दर्शन में सत्यलोक, ब्रह्मलोक, तपलोक, महर्लोक, भुवर्लोक, पितृलोक, देवलोक, चन्द्रलोक, सूर्यलोक आदि की कल्पना प्रतिविश्व के रूप में ही है।

इसी प्रकार अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड स्वरूप इस विश्व में एक-एक ब्रह्माण्ड में अनन्तानन्त जीव हैं। ब्रह्माण्ड की अनेकता और अनन्तता अब वैज्ञानिक भी स्वीकृत कर चुके हैं। कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डाक्टर हेज हाबेर ने दूसरी दुनिया में जीवन के बारे में एक अनोखा सिद्धान्त पेश किया है, जिसके अनुसार जरूरी नहीं कि जहाँ भी विकसित सभ्यता अथवा विकासशील जीवन हो, वहाँ पानी और आक्सीजन हो ही। शुक्रग्रह जैसे गैसीय वातावरण युक्त ग्रहों के आकाश में भी जीवन उसी तरह पनप सकता है, जैसे पृथ्वी के ऊपर महासागरों में पनपा। पृथ्वी के जीवधारियों के शरीर में भले ही कार्बन-यौगिकों का बाहुल्य है, मगर अन्य ग्रहों का जीवन बिल्कुल भिन्न तत्त्वों से बना हो सकता है। जिन ग्रहों पर सरसरी तौर से जीवन नहीं दिखाई देता, वहाँ भी 'भूमिगत' जीवन हो सकता है। हो सकता है आए दिन हम जो उड़न-तश्तरियाँ वगैरह पृथ्वी पर देखते हैं, वे हमारे 'पड़ोस' से आई हों और पृथ्वी से आक्सीजन, जल तथा अन्य आवश्यक पदार्थ एकत्र करके वापिस चली जाती हों। इस सिलसिले में वैज्ञानिक पृथ्वी और शुक्र के बीच, पृथ्वी और

मंगल के बीच तथा मंगल से कुछ पीछे तक के अन्तरिक्ष में “तैरते अन्तरिक्ष नगरों” की सम्भावना को भी गम्भीरता से ले रहे हैं, अर्थात् ब्रह्माण्डों में अनन्त जीवन है। अनंतानन्त जीवों में एक-एक जीव के अनंतानन्त जन्मों में एक-एक जन्म में अनंतानन्त कर्म हैं।

समस्त विश्व एक ही ‘शक्ति’ और ‘शक्तिमान’ का उल्लसित रूप है। सभी चिन्मय हैं। परम शिव सर्वथा स्वतंत्र होकर बिना किसी की सहायता से, केवल अपनी ही ‘शक्ति’ से, सृष्टि को लीला के लिए उद्भाषित करते हैं और लीला का संवरण भी कर लेते हैं। वस्तुतः यहीं आकर साधक को “एकमेवाद्वितीयं नेह नानास्ति किञ्चन” तथा “सर्वं खल्विदं ब्रह्म” का वास्तविक अनुभव होता है। ‘माया’ या ‘कर्म’ ब्रह्मशक्ति, ब्रह्माश्रित है, पर ‘ब्रह्म’ सत्य है, परन्तु विचार-दृष्टि से माया या कर्म ‘सदसद्विलक्षण’ है, किन्तु माया या कर्म की स्वीकार कर उसको ब्रह्ममयी, नित्या और सत्यस्वरूपा मानने से ‘ब्रह्म’ और ‘माया’ या ‘कर्म’ की एकरसता हो जाती है, यह एकरसता माया या कर्म को त्याग कर या तुच्छ समझकर नहीं बल्कि उसको अपनी ही शक्ति समझने में है, क्योंकि मूल प्रकृति ‘अव्यक्त’ है। कर्म की गति अनादि है, अविद्या अनादि है। अविद्या या कर्म तथा जीव का सम्बन्ध भी अनादि है, परन्तु ये कर्मगति, अविद्या या कर्म सम्बन्ध, अनित्य हैं। इनका नाश यद्यपि परिणाम के द्वारा ही होता है तथापि नाश के लिए भी सृष्टि का होना आवश्यक है। अव्यक्त रूप के रहने से सृष्टि नहीं हो सकती तो फिर सृष्टि होती कैसे है? वास्तव में ‘कार्य’ वस्तुतः ‘कारण’ में वर्तमान है, अर्थात् कारण व्यापार के पूर्व ‘कार्य’ कारण में अव्यक्त रूप में रहता है। कार्य की उत्पत्ति और नाश का अर्थ ‘उस विषय की सत्ता का होना या न होना’ नहीं है। कारण से कार्य की उत्पत्ति का अर्थ है—‘अव्यक्त से व्यक्त होना’ तथा कार्य के नाश का अर्थ है—‘व्यक्त से अव्यक्त होना।’ यह भी एक प्रकार का परिणाम है, जिसके कारण अव्यक्त मूला प्रकृति में अव्यक्त रूप में वर्तमान वस्तु व्यक्त हो जाती है, अर्थात् न किसी को ‘उत्पत्ति’ और न किसी का ‘नाश’ होता है; केवल स्वरूप में परिवर्तन होता है, वस्तु में नहीं; यानी समस्त विश्वरूप कार्य मूल प्रकृति रूप कारण में अव्यक्तावस्था में वर्तमान रहता है।

भौतिक विज्ञान के अनुसार जगत् में किसी भी पदार्थ का नाश नहीं होता, रूपान्तर मात्र होता है। विज्ञान शक्ति के संरक्षण-सिद्धान्त में, पदार्थ की अनश्वरता के सिद्धान्त में विश्वास करता है। जब जगत् के जड़ पदार्थों की यह स्थिति है, तब इन्हीं के अभिन्न-निमित्त-उपादान कारण चेतन आत्मतत्त्व की अनश्वरता सैमुक्तिक न्याय से सुतरां सत्य होनी चाहिये।

श्री अरविन्द द्वारा चेतना के विभिन्न स्तरों की परिकल्पना के साथ-साथ

‘अति-मानव’ का सृष्टि-विकास तथा भूतल पर देवत्व के स्वयं आविर्भाव की उच्चतम परिकल्पना भारत के प्राचीन मनीषियों के सिद्धान्त से निराली है। मूलतः यह परिकल्पना डार्विन के विकासवाद की श्रेष्ठतम आध्यात्मिक परिणति है।

विश्व में प्रत्येक कार्य की प्रतिक्रिया होती है, जिससे प्रकृति में कार्य शक्ति का सन्तुलन बना रहता है। उसी प्रकार कर्म एक क्रिया है और फल उसकी प्रतिक्रिया है, अतः जो भले या बुरे कर्म हमने किये हैं, उनका अच्छा या बुरा फल हमें भुगतना पड़ेगा।

स्वामी विवेकानन्द ने कर्म-सिद्धान्त की वैज्ञानिक विवेचना की है। उनका कथन है कि जिस प्रकार प्रत्येक क्रिया जो हम करते हैं, हमारे पास पुनः वापिस आती है प्रतिक्रिया के रूप में; उसी प्रकार हमारे कार्य दूसरे मनुष्यों पर प्रतिक्रिया कर सकते हैं और अन्य मनुष्य के कार्य हमारे ऊपर प्रतिक्रिया कर सकते हैं। समस्त मस्तिष्क जो कि समान प्रवृत्ति रखते हैं, वे समान विचार से प्रभावित होते हैं। यद्यपि मस्तिष्क पर विचारों का यह प्रभाव दूरी आदि अन्य कारणों पर निर्भर करता है, तथापि मस्तिष्क सदैव अभिग्रहण के लिए खुला रहता है।

जिस प्रकार दूरस्थ ब्रह्माण्डकीय पिण्डों से आने वाली प्रकाश तरंगें पृथ्वी तक आने में करोड़ों प्रकाश वर्ष ले लेती हैं, उसी प्रकार विचार-तरंगें भी कई सौ वर्षों तक संचरित होती हुई स्पन्दन करती रहती हैं जब तक कि वे किसी अभिग्राही तक न पहुँच जायें। इसलिये, बहुत कुछ सम्भव है कि हमारा वातावरण इस प्रकार के अच्छे तथा बुरे विचार-स्पन्दनों के कम्पनों से ओतप्रोत हो। जब तक कि कोई मस्तिष्क-अभिग्राही ग्रहण नहीं कर लेता है तब तक प्रत्येक मस्तिष्क से निकला हुआ विचार स्पन्दन करता रहता है और मस्तिष्क जो कि इनको ग्रहण करने के लिए खुला हुआ है, तत्काल इन विचार-स्पन्दनों में से कुछ को अभिगृहीत कर लेता है, अतः एक मनुष्य जब कोई बुरा कार्य करता है, तो उसका मस्तिष्क वातावरण में व्याप्त बुरी विचारधाराओं के स्पन्दनों को लगातार ग्रहण करता रहता है। यही कारण है कि बुरा कार्य करने वाला सतत बुरे कार्य ही करते रहने में तत्पर रहता है। यही बात अच्छे कार्य करने वाले पर भी लागू होती है।

हमारे सभी कार्य—अच्छे या बुरे—दोनों एक-दूसरे से जुड़े हुये हैं। उनके बीच हम कोई सीमा-रेखा नहीं खींच सकते। ऐसा कोई भी कार्य नहीं है जो एक ही समय में अच्छा तथा बुरा फल न रखता हो।

जो अच्छा कार्य करने वाला यह जानता है कि अच्छे कर्म में भी कुछ-न-

कुछ बुराई है और बुराइयों के मध्य जो देखता है कि कहीं-न-कहीं पर कुछ अच्छाई भी है, वही कर्म के रहस्य को जानता है। इसलिये हम कितनी भी कोशिश क्यों न कर लें, कोई भी कार्य पूर्णतया शुद्ध या अशुद्ध नहीं हो सकता।

दूसरों के प्रति लगातार अच्छे कार्य करने के जरिये हम अपने को भूलने का प्रयास करते हैं। यह अपने को भूलना ही वह बहुत बड़ा सबक है जो हमें अपनी जिन्दगी में सीखना चाहिये। अपने को भूलने की यह अवस्था ही ज्ञान, भक्ति और कर्म का अपूर्व संयोग है, जहां पर "मैं" नहीं रहता।

इस जन्म में देखी जाने वाली सब विलक्षणतायें न वर्तमान जन्म की कृति ही का परिणाम है, न माता-पिता के केवल संस्कार का ही, और न केवल परिस्थिति का ही। इसलिये आत्मा के अस्तित्व को गर्भ के आरम्भ समग्र से और भी पूर्व मानना पड़ता है, जिससे अनेक पूर्व जन्म की परम्परा सिद्ध होती है, क्योंकि अपरिमित ज्ञान-शक्ति एक जन्म के अभ्यास का फल नहीं हो सकती। इस प्रकार आत्मा अनादि है और इस अनादि तत्त्व का कभी नाश नहीं होता। गीता में सच ही कहा है—

न जायते म्रियते व कदाचिन्नाय भूत्वा, भविता न भूयः-।  
अजो नित्यं शाश्वतोयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

और "नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः"—इस सिद्धान्त को सभी दार्शनिक व अब आधुनिक वैज्ञानिक मानते हैं।

पुनर्जन्म का मूल कारण विभिन्न प्रकार के शुभाशुभ कर्म ही हो सकते हैं, जिनके फलस्वरूप प्राणिमात्र को तारतम्य या वैषम्य से जन्म से मृत्युपर्यन्त सुख-दुःख भोगने पड़ते हैं। पूर्वजन्म के संस्कार मन में रहते हैं। उन संस्कारों को उद्भासित करने वाला देश, काल, अवस्था, परिस्थिति आदि कोई भी पदार्थ जैसे ही सामने आता है, संस्कार उद्भासित हो जाते हैं और प्राणी को पूर्व जन्म के अभ्यास से उस कार्य में प्रवृत्त कर देते हैं।

प्राध्यापक हक्सले का कथन है कि विकासवाद के सिद्धान्त की तरह देहान्तरवाद सिद्धान्त भी वास्तविक है। कुलक्रमागत संक्रमण के प्रवक्ता मानवीय आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास नहीं करते। उनके मतानुसार अपने वंशजों में कोषाणुगत संक्रमण की प्रक्रिया द्वारा मनुष्य अमर बन सकता है। यदि यह सही है तो आइन्स्टाइन या गाँधी के वंशजों को हम आइन्स्टाइन या गाँधी के समान ही क्यों नहीं देखते? इसलिए पूर्णता प्राप्त करने के संदर्भ में विकासवाद का सिद्धान्त पुनर्जन्म और कर्म सिद्धान्त की प्रक्रिया द्वारा संतोषजनक और अपेक्षाकृत उत्तम तरीके से समझा जा सकता है।

जीवन के कण-करण और क्षण-क्षण के साथ कर्म-सूत्र अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है, “न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत” (गीता) अर्थात् कोई भी क्षणभर के लिए भी बिना कुछ कर्म किये नहीं रहता, “एगे आया” आत्मा अपने मूल-स्वभाव की दृष्टि से एक है। यह निश्चित-निश्चल विचार है कि आत्मा व परमात्मा, जीव तथा ब्रह्म के बीच अन्तर डालने वाला तत्त्व ‘कर्म ही तो है। जीव-सृष्टि का समूचा चक्र ‘कर्म’ की धुरी पर ही घूम रहा है। कर्म-सम्पृक्त जीव ही आत्मा है, और कर्म-विमुक्त जीव ही ब्रह्म अथवा परमात्मा है। कर्मवाद का दिव्य सन्देश है कि तुम अपने जीवन के निर्माता और अपने भाग्य-विधाता स्वयं हो। संक्षेप में कर्म-सिद्धान्त आध्यात्मिक चिन्तन और विकास का प्रबल कारण होने के साथ लोक जीवन में समभाव का आलम्बन करने की सीख देता है। जैसा पुरुषार्थ होगा, वैसा ही भाग्य बनेगा। प्रत्येक आत्मा कर्म से मुक्त होकर सत्-चित्त-आनन्द स्वरूप को प्राप्त करने में समर्थ है।



## दूहा धरम रा

### □ श्री सत्यनारायण गोयनका

सदा जुद्ध करती रवै, लेवै बैर्या जीत ।  
 बरौ वीर पुरुसारथी, या संता री रीत ॥१॥  
 यो हि संत रो जुद्ध है, यो हि पराक्रम घोर ।  
 काम क्रोध अर मोह सू, राखै मुखड़ो मोड़ ॥२॥  
 राग द्वेष अभिमान रा, बैरि बड़ा बलवान ।  
 कुण जाणै कद सिर चढै, पीड़ित कर दे प्राण ॥३॥  
 संत सदा जाग्रत रवै, करै न रंच प्रमाद ।  
 भव-भय-बंधन काट कर, चखै मुक्ति को स्वाद ॥४॥  
 अन्तरमन रण खेत मंह, बैरी भेळा होय ।  
 एक एक नै कतल कर, संत विजेता होय ॥५॥  
 सतत जूझतो ही रवै, संत देह परयन्त ।  
 हनन करै अरिगण सकल, हुह जावै अरहन्त ॥६॥

## कर्म सिद्धान्त : वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में

□ डॉ. महावीरसिंह मुंडिया

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक संसारी आत्मा कर्मों से बद्ध है। यह कर्म बन्ध आत्मा का किसी अमुक समय में नहीं हुआ, अपितु अनादि काल से है। जैसे खान से सोना शुद्ध नहीं निकलता, अपितु अनेक अशुद्धियों से युक्त निकलता है, वैसे ही संसारी आत्माएँ भी कर्म बन्धनों से जकड़ी हुई हैं।

सामान्य रूप से जो कुछ किया जाता है, वह कर्म कहलाता है। प्राणी जैसे कर्म करता है, वैसे ही फल भोगता है। कर्म के अनुसार फल को भोगना नियति का क्रम है। परलोक मानने वाले दर्शनों के अनुसार मनुष्य द्वारा कर्म किये जाने के उपरान्त वे कर्म, जीव के साथ अपना संस्कार छोड़ जाते हैं। ये संस्कार ही भविष्य में प्राणी को अपने पूर्वकृत कर्म के अनुसार फल देते हैं। पूर्व कृत कर्म के संस्कार अच्छे कर्म का अच्छा फल एवं बुरे कर्म का बुरा फल देते हैं। पूर्वकृत कर्म अपना जो संस्कार छोड़ जाते हैं, और उन संस्कारों द्वारा जो प्रवृत्ति होती है, उसमें मूल कारण राग और द्वेष होता है। किसी भी कर्म की प्रवृत्ति राग या द्वेष के अभाव में असम्भावित होती है। अतः संस्कार द्वारा प्रवृत्ति एवं प्रवृत्ति द्वारा संस्कार की परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है। यह परम्परा ही संसार कहलाता है।

जैन दर्शन के अनुसार कर्म संस्कार मात्र ही नहीं है, अपितु एक वस्तुभूत पदार्थ है जिसे कार्मण जाति के दलिक या पुद्गल माना गया है। वे दलिक रागी द्वेषी जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ दूध-पानी की तरह मिल जाते हैं। यद्यपि ये दलिक भौतिक हैं, तथापि जीव के कर्म अर्थात् क्रिया द्वारा आकृष्ट होकर जीव के साथ एकमेक हो जाते हैं।

### कर्मबन्ध व कर्ममुक्ति :

जैन कर्मवाद में कर्मोपार्जन के दो मुख्य कारण माने गये हैं—योग और कषाय। शरीर, वाणी और मन के सामान्य व्यापार को जैन परिभाषा में 'योग' कहते हैं। जब प्राणी अपने मन, वचन अथवा तन से किसी प्रकार की प्रवृत्ति करता है तब उसके आसपास रहे हुए कर्म योग्य परमाणुओं का आकर्षण होता है। इस प्रक्रिया का नाम आलंब है। कषाय के कारण कर्म परमाणुओं का आत्मा से मिल जाना बंध कहलाता है। कर्मफल का प्रारम्भ ही कर्म का उदय



है। ज्यों-ज्यों कर्मों का उदय होता जाता है, त्यों-त्यों कर्म आत्मा से अलग होते जाते हैं। इसी प्रक्रिया का नाम निर्जरा है। जब आत्मा से समस्त कर्म अलग हो जाते हैं तब उसकी जो अवस्था होती है, उसे मोक्ष कहते हैं।

**वैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर कर्म सिद्धान्त :**

यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड विद्युत चुम्बकीय तरंगों (Electromagnetic Waves) से ठीक उसी प्रकार भरा पड़ा है जिस प्रकार सम्पूर्ण लोकाकाश कार्मण वर्णना रूप पुद्गल परमाणुओं से भरा हुआ है। ये तरंगों प्रकाश के वेग से लोकाकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश की ओर गमन करती रहती हैं। इन तरंगों की कम्पन शक्ति बहुत अधिक, यहाँ तक कि X-Rays की कम्पन शक्ति (१०<sup>१३</sup> से १०<sup>१७</sup> किलो साइकिल प्रति सैकण्ड) से करोड़ों गुनी ज्यादा होती है। तरंगों की आवृत्ति (frequency),  $n$ , तथा प्रकाश के वेग ( $c$ ) में निम्न सम्बन्ध है—( $\lambda$ =तरंग की लम्बाई)=Wavelength

$$c = n\lambda$$

अब एक खास आवृत्ति (frequency) की विद्युत चुम्बकीय तरंगों को एक प्राप्तक द्वारा पकड़ने के लिए उसमें एक ऐसे दौलित्र (oscillator) का उपयोग किया जाता है कि यह उन्हीं आवृत्ति पर कार्य कर रहा हो। इस विद्युतीय साम्यावस्था (Electrical resonance) के सिद्धान्त से वे आकाश में व्याप्त तरंगों, प्राप्तक (Receiver) द्वारा आसानी से ग्रहण करली जाता है।

ठीक यही घटना आत्मा में कार्मण-स्कन्धों के आकर्षित होने में होती है। विचारों या भावों के अनुसार मन, वाणी या शारीरिक क्रियाओं द्वारा आत्मा के प्रदेशों में कम्पन उत्पन्न होते हैं जिसे पहले 'योग' कहा गया है। अर्थात् योग शक्ति से आत्मा में पूर्व से उपस्थित कर्म रूप पुद्गल परमाणुओं (जो आत्मा के प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाही होकर पूर्व से प्रवर्तमान थे) में कम्पन होता है। इन कम्पनों की आवृत्ति की न्यूनाधिकता, कषायों की ऋजुता या घनी संक्लेशता के अनुसार होती है। शुभ या अशुभ परिणामों से विभिन्न तरंग लम्बाइयों की तरंगें आत्मा के प्रदेशों से उत्पन्न होती रहती हैं और इस प्रकार की कम्पन क्रिया से इस एक दौलित्र (oscillator) की भाँति मान सकते हैं, जो लोकाकाश में उपस्थित उन्हीं तरंग लम्बाई के लिए साम्य (tuned या resonance) समझा जा सकता है। ऐसी स्थिति में भाव कर्मों के माध्यम से, ठीक उसी प्रकार की तरंगें आत्मा के प्रदेशों से एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं, और आत्मा अपने स्वभाव गुण के कारण विकृत कर नयी-नयी तरंगें पुनः आत्मा में उत्पन्न करती है। इस तरह यह स्वचालित दौलित्र (self oscillated oscillator) की भाँति व्यवहार कर नयी-नयी तरंगों को हमेशा खींचता रहता है। कर्मवाद में यह आसन्न कहा गया है।

ये पुद्गल परमाणु आत्म-प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध स्थापित ही करते हैं न कि वे दोनों एक-दूसरे में परिवर्तित हो जाते हैं। ऐसे सम्बन्ध के बावजूद भी जीव, जीव रहता है और पुद्गल के परमाणु, परमाणु रूप में ही रहते हैं। दोनों अपने भौतिक गुणों (Fundamental properties) को एक समय के लिए भी नहीं छोड़ते। यह कर्मबन्ध है।

यदि आत्मा के प्रदेशों में परमाणुओं की कम्पन-प्रक्रिया ढीली पड़ने लगे, जो कि योगों की सरलता से ही सम्भव हो सकती है, तो बाहर से उसी अनुपात में कामेण परमाणु कम आएँगे अर्थात् आकर्षण क्रिया ही न होगी, अर्थात् संवर होना शुरू होगा। जब नई तरंगों के माध्यम से पुद्गल परमाणुओं का आना बन्द हो जाता है तो पहले से बैठे हुए कामेण परमाणु अवमंदित दोलन (Damped oscillation) करके निकलते रहेंगे। अर्थात् प्रतिक्षण निर्जरा होगी और एक समय ऐसा आयेगा जब प्राप्तक दौलित्र (oscillator) कार्य करना बन्द कर देगा। निर्विकल्पता की उस स्थिति में योगों की प्रवृत्ति एक दम बन्द हो जायेगी और संचित कर्म शेष न रहने पर फिर प्रदेशों की कम्पन-क्रिया का प्रश्न ही नहीं उठता, अर्थात् कर्मों की निर्जरा हो जायेगी। सम्पूर्ण कर्मों की निजीर्णावस्था ही मोक्ष कहलाती है।

इस प्रकार तरंग सिद्धान्त (wave theory) के विद्युतीय साम्यावस्था (Electrical resonance) की घटना से आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष भलीभांति समझा जा सकता है।

### टैलीपैथी

विचार करते समय मस्तिष्क में विद्युत उत्पन्न होती है। इस विचारशक्ति की परीक्षा करने के लिए पेरिस के प्रसिद्ध डॉ० वेरडुक ने एक यन्त्र तैयार किया। एक कांच के पात्र में सुई के सदृश एक महीन तार लगाया गया और मन को एकाग्र करके थोड़ी देर तक विचार-शक्ति का प्रभाव उस पर डालने से सुई हिलने लगती है। यदि इच्छा शक्ति निर्बल हो तो उसमें कुछ भी हलचल नहीं होती। विचार शक्ति की गति बिजली से भी तीव्र है—लगभग तीन लाख किलोमीटर प्रति सैकण्ड। जिस प्रकार यन्त्रों द्वारा विद्युत तरंगों का प्रसारण और ग्रहण होता है और रेडियो, टेलीफोन, टेलिप्रिन्टर, टेलिविजन आदि विद्युत को मनुष्य के लिए उपयोगी व लाभप्रद साधन बनाते हैं, इसी प्रकार विचार-विद्युत की लहरों का भी एक विशेष प्रक्रिया से प्रसारण और ग्रहण होता है। इस प्रक्रिया को टैलीपैथी कहा जाता है। टैलीपैथी के प्रयोग से हजारों मील दूरस्थ व्यक्ति भी विचारों का आदान-प्रदान व प्रेषण-ग्रहण कर सकते हैं। भविष्य में यही टैलीपैथी की प्रक्रिया सरल और सुगम हो जनसाधारण के लिए भी महान् लाभदायक सिद्ध होगी, ऐसी पूरी सम्भावना है। □

## जैन कर्म सिद्धान्त और विज्ञानः पारस्परिक अभिगम

□ डॉ. जगदीशराय जैन

जैन कर्म सिद्धान्त को समझने के लिए "आत्मा" के स्वरूप को समझना आवश्यक है और इसके वैज्ञानिक विवेचन के लिए आत्मा अथवा जीव के सम्बन्ध में वैज्ञानिक धारणा क्या है, दोनों धारणाओं में कोई अन्तर है या मूलतः एक ही हैं, इसके लिए वैज्ञानिक इतिहास का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि प्रारम्भिक काल में वैज्ञानिक पदार्थों के गुण, स्वभाव, शब्द, प्रकाश, विद्युत इत्यादि के अनुसंधान में लगे रहे। मानव के जीवन एवं आत्म स्वभाव-ज्ञान, राग, द्वेष, भावना इत्यादि प्रश्नों की ओर उनका ध्यान न था। प्राचीन वैज्ञानिकों में से अधिकतर ज्ञान को भौतिक मस्तिष्क से उत्पन्न हुआ मानते थे। उनके विचार में आत्मा पुद्गल से पृथक् कोई वस्तु न थी। सर्वप्रथम वैज्ञानिक टेंडल ने बटलर पादरी के आत्मा के समर्थन में कहा कि पुद्गल चेतना रहित ज्ञान शून्य जड़ पदार्थ है और आत्मा चेतना युक्त ज्ञानमयी तत्त्व है और क्योंकि यह असम्भव है कि एक ही पदार्थ का स्वभाव जड़ व अचेतन हो और साथ-साथ उसका स्वभाव ज्ञानमयी व चेतन भी हो। 'तत्त्वार्थ सूत्र' में "उपयोगो जीव लक्षणम्" लिखा गया है जिसका अर्थ है कि जानने की क्रिया, यह जीव का लक्षण है। ज्ञान, आत्मा का एक निज गुण है जो कभी भी किसी हालत में आत्मा से विलग नहीं हो सकता। जड़ पदार्थ इन्द्रियों द्वारा ग्रहण भी किये जा सकते हैं और समझे भी जा सकते हैं। मगर आत्मा अति सूक्ष्म वस्तु है। वह इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं है। कहा भी है—“नोइन्द्रियग्नेऽङ्ग अमुक्ति भावा।” भौतिक विज्ञान के प्रोफेसर बालफोर स्टीवर्ट, सर आलिवर लाज, प्रोफेसर मैसर्स इत्यादि ने केवल आत्मा के अस्तित्व तथा नित्यता को ही स्वीकार नहीं किया बल्कि परलोक के अस्तित्व को भी माना। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ० जगदीशचन्द्र बसु के अनुसंधान ने तो यह सब कुछ वनस्पति संसार के लिए भी सिद्ध कर दिया है। एक वैज्ञानिक सिद्धान्त है कि तत्त्व न ही विनाशशील है और न ही उत्पाद्य है। यद्यपि बाह्य रूप में परिवर्तन होता रहता है। इस सिद्धान्त को आत्मा पर लागू करें तो आत्मा न कभी उत्पन्न हुआ है और न कभी इसका विनाश होगा अर्थात् अजर-अमर है, केवल इसके बाह्य अवस्था में परिवर्तन होता रहता है। आत्मा के बाह्य अवस्था के परिवर्तन के कारण का स्पष्टीकरण करने के लिए मनो-वैज्ञानिक भी ज्ञात और अज्ञात मन के सिद्धान्त को लेकर इस दिशा में प्रयास कर रहे हैं।

आत्मा के बाह्य अवस्था के परिवर्तन का कारण जैन कर्मसिद्धान्त, आत्मा द्वारा स्वयं किए हुए कर्मों को मानता है। कहा है—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।

अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठियो ॥

अर्थात् आत्मा ही सुख-दुःख का जनक है और आत्मा ही उनका विनाशक है। सदाचारी सन्मार्ग पर लगा हुआ आत्मा अपना मित्र है और कुमार्ग पर लगा हुआ दुराचारी अपना शत्रु है। वैज्ञानिक न्यूटन का एक नियम यह भी है कि क्रिया और प्रतिक्रिया एक साथ होती रहती है अर्थात् जब जीव कोई कर्म करेगा तो उसकी प्रतिक्रिया उसके किए कर्मानुसार, उसकी आत्मा पर अवश्य अंकित होगी। विज्ञान के आविष्कार बेतार के तार (Wireless Telegraphy), रेडियो, टेलीविजन आदि के कार्य से यह निर्विवाद सिद्ध है कि जब कोई कार्य करता है तो समीपवर्ती वायुमंडल में हलन-चलन क्रिया उत्पन्न हो जाती है और उससे उत्पन्न लहरें चारों ओर बहुत दूर तक फैल जाती हैं उन्हीं लहरों के पहुँचने से शब्द व आकार बिना तार के रेडियो, टेलीविजन में बहुत दूर-दूर स्थानों पर पहुँच जाते हैं और उन्हें जिस स्थान पर चाहें वहीँ पर अंकित कर सकते हैं। इसी प्रकार जब कोई जीव मन, वचन अथवा शरीर से कोई कार्य करता है तो उसके समीपवर्ती चारों ओर के सूक्ष्म परमाणुओं में हलन-चलन क्रिया उत्पन्न हो जाती है। ये सूक्ष्म परमाणु जिन्हें कर्मणवर्गणा भी कहा जाता है, आत्मा की ओर आकर्षित होते हुए आत्मा के वास्तविक स्वरूप को ढक लेते हैं।

जैन कर्मसिद्धान्त इन कर्म परमाणुओं को स्थूल रूप से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय नाम की संज्ञा देता हुआ इनकी १५८ प्रकृतियाँ बतलाता है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म घातिक कर्म कहे जाते हैं क्योंकि इनसे आत्मा का अनन्त ज्ञान, दर्शन व वीर्य आच्छादित होकर, कषाय, विषय, विकार, आदि उत्पन्न हो जाते हैं। वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म आत्मा के गुणों का घात न करने के कारण अघातिक कर्म कहलाते हुए भी मुक्ति के मार्ग में बाधक हैं। आठ कर्मों का स्वभाव (प्रकृति) भिन्न-भिन्न होने के कारण प्रकृतिबंध कहलाता है। कर्मबन्ध हो जाने के बाद जब तक फल देकर अलग नहीं हो जाता, तब तक की काल मर्यादा (आबाधा काल) स्थितिबन्ध कहलाती है। सब कर्मों में मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थितिबन्ध (आबाधाकाल) ७० कोड़ा कोड़ी सागरोपम की मानी गई है और साथ-साथ में यह भी कहा गया है कि चिकने कर्म तो भोगने ही पड़ते हैं। बुरे कर्म अशुभ या कटुक फल देते हैं और शुभ कर्म मधुर फल प्रदान करते हैं। विभिन्न प्रकार के रस (कटुक या मधुर फल) को अनुभाग बन्ध कहते हैं और कर्म दलिकों के समूह को प्रदेश बन्ध कहते हैं। बद्ध

कर्म कितने समय तक आत्मा के साथ चिपटा रहे और किस प्रकार का तीव्र, मन्द या मध्यम फल प्रदान करे, यह जीव के कषाय भाव पर निर्भर है। अभि-प्राय यह है कि यदि कषाय तीव्र है तो कर्म की स्थिति लम्बी होगी और विपाक भी तीव्र होगा। तभी तो अनन्तानुबन्धी कषाय को नरक का कारण माना जाता है। अतः कषाय की तीव्रता और मन्दता के कारण स्थिति और अनुभाग बन्ध की न्यनाधिकता समझनी चाहिए। अरिहन्त भगवान् वीतरागता के धारक कषायों से सर्व प्रकार से अतीत होते हैं। अतः उन्हें स्थिति और अनुभाग बन्ध होते ही नहीं हैं। योग के निमित्त से कर्म तो आते हैं परन्तु कषाय न होने के कारण उनकी निर्जरा होती रहती है। “सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान पुद्गलानादत्ते स बन्धः” अर्थात् संक्षेप में कषाय ही कर्म बन्ध के मूल कारण हैं। कर्म का फल अमोघ है—अनिवार्य है अर्थात् किये हुए कर्म विपाक होने पर तो अवश्य ही भोगने पड़ते हैं। यह शाश्वत सत्य है। तभी तो किसी ने कहा है—

जरा कर्म देख कर करिए, इन कर्मों की बहुत बुरी मार है।  
नहीं बचा सकेगा परमात्मा, फिर औरों का क्या एतबार है ॥

वैज्ञानिक लीचैटलीयर का सिद्धान्त है कि प्रत्येक तन्त्र या संस्थान अपनी साम्यस्थिति से असाम्यस्थिति में यदि चली जाती है तो भी वह अपनी पूर्व साम्यस्थिति में आने का प्रयास करती है। अर्थात् आत्मा के द्वारा किये कर्मानुसार आत्मा पर कर्मवर्गणा का आवरण चढ़ेगा तो भी कर्म विपाक उचित समयानुसार आत्मा के अनन्त वीर्य या तपस्या द्वारा जीव किये हुए कर्मों की निर्जरा भी करेगा, तभी तो साम्यस्थिति को पुनः प्राप्त कर सकेगा। इससे श्रमण भगवान् महावीर के इस कथन की पुष्टि हो जाती है कि सभी भव्य आत्माएँ नवीन कर्मों के आगमन का निरोध कर और पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा कर मोक्ष में पहुँच जाएँगी। जैन दर्शन आत्मा में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त शक्ति (बल-वीर्य) इत्यादि गुण मानता है जिनको कर्म-प्रकृतियों ने दबा दिया है। निश्चयनय से विचार करें तो प्रत्येक आत्मा शुद्ध रूप में सिद्ध स्वरूप है। कहा भी है—

सिद्धा जैसा जीव है, जीव सोई सिद्ध होय।  
कर्म मेल का आंतरा, बुझै बिरला कोय ॥

आत्मा में अनन्त शक्ति, बल, वीर्य अर्थात् पुरुषार्थ विद्यमान है। जो मनुष्य अपने उद्देश्य की प्राप्ति में अनेक बिघ्न व बाधाओं के उपस्थित होने पर भी प्रयत्नशील रहते हैं, अन्त में उन पुरुषार्थी मनुष्यों के मनोरथ सफल भी हो जाते हैं। तभी तो कर्मयोग अर्थात् पुरुषार्थ को प्रगति का मूल कहा है। भगवान् महावीर ने मानव जाति को यह महान् सन्देश दिया है कि मानव तेरा स्वयं का

निर्माण और विध्वंस तेरे स्वयं के हाथों में है अर्थात् अपने सत्कार्यों द्वारा तू स्वयं को बना भी सकता है और असत् कार्यों द्वारा अपने को बिगाड़ भी सकता है । कहा है—

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तियो ।  
वइसो कम्मुणा होइ, सुइो हवइ कम्मुणा ॥

अर्थात् कर्म ही मनुष्य को ब्राह्मणत्व प्रदान करते हैं, कर्म ही मनुष्य को क्षत्रिय बनाते हैं, कर्मों से ही मनुष्य वैश्य है और कर्मों से ही शूद्र । सभी तीर्थंकर भगवान्, महापुरुष श्री राम, श्री कृष्ण, महात्मा गान्धी आदि ने कर्मयोग अर्थात् पुरुषार्थ के माध्यम से ही अपने-अपने लक्ष्यों को प्राप्त किया है ।

सवरो णारो य विणारो, पच्चक्खणो य सज्जे ।  
अणासवे तवे च्चैव बोदारो अकिरिअ सिद्धि ॥

उक्त गाथा आध्यात्मिक साधकों के लिए तो रची ही गई है पर वैज्ञानिक भी इसी गाथा के भाव अनुसार चलकर ही वैज्ञानिक नियम व सिद्धान्तों को सिद्ध कर पाते हैं । वैज्ञानिक सर्व प्रथम ज्ञान को अनन्त मानता है, उसको प्राप्त करने के लिए उपलब्ध साहित्य व ज्ञानगोष्ठी इत्यादि का सहारा लेता है और उस ज्ञान को अनेकान्तवाद अर्थात् सापेक्षवाद की कसौटी पर कसता है । विज्ञान के किसी नियम या सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए वैज्ञानिक को अपने मन, वचन काय का पूर्ण रूप से संयम, त्याग, तपस्या अर्थात् पुरुषार्थ को अपनाना पड़ता है । भगवान् महावीर का कथन है कि सत्य को जब तक अनेक दृष्टिकोणों से नहीं देखेगा तब तक उसका साम्ययोगी बनना सम्भव नहीं है । इस प्रकार सम्यक्ज्ञान को प्राप्त कर संयम के द्वारा नवीन कर्मों के आस्रव को रोकता हुआ तपस्या द्वारा अपने पूर्व संचित कर्मों का क्षय अर्थात् निर्जरा करता हुआ मन, वचन, काय रूप योगों का निरोध करके सार शब्दों में सम्यक्चारित्र्य को अपना कर सिद्ध अवस्था को प्राप्त होता है । इन सब के लिए कर्मयोग अर्थात् पुरुषार्थ अत्यन्त आवश्यक है ।

‘भव कोडि संचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ’ अर्थात् तपस्या से करोड़ों भवों के संचित कर्मों की निर्जरा कर दी जाती है । श्रमण भगवान् महावीर ने अपने पूर्व संचित कर्मों को जो कि पहले हुए २३ तीर्थंकरों के सारे कर्मों को मिलाकर के बराबर थे, अपनी उग्र तपस्या द्वारा क्षय कर दिया । तभी तो अन्य सब तीर्थंकरों की अपेक्षा से महावीर भगवान् के तप को उग्र तप बताया गया है । यह ‘आवश्यक नियुक्ति’ की गाथा “उगां च तवो कम्मं विशेषतो वड्ढमाणस” से स्पष्ट है । वैज्ञानिक ढंग से यह सिद्ध करने का प्रयास किया जा सकता है कि

तपस्या किस प्रकार कर्म निर्जरा करके आत्मा को 'अकिरिअ' करके सिद्ध बना देती है। चुम्बक में आकर्षण शक्ति होती है परन्तु जब इसको तपा दिया जाता है तो आकर्षण शक्ति नष्ट होकर इसको 'अकिरिअ' बना देती है। इसी प्रकार से कर्मों से आबद्ध आत्मा को जब तपस्या रूपी अग्नि से तपा दिया जाता है तो बन्धे हुए कर्म क्षय होकर, आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में प्रकट होकर अकिरिअ होती हुई सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेती है। आवश्यकता है कर्म सिद्धान्त को समझकर उसके साथ पुरुषार्थ योग को जोड़कर साधना करने की।



जहा दडदासां बीयासां, ए जायंति पुण अंकुरा ।  
कम्म बीएसु दडदे, ण जायंति मवांकुरा ॥

अर्थ—जिस प्रकार दग्ध बीज अंकुरित नहीं होते उसी प्रकार कर्म बीजों के दग्ध होने पर भव-भव में जन्म लेने की आवश्यकता नहीं रहती।

यादृशं क्रियते कर्म, तादृशं प्राप्यते फलम् ।  
यादृशमुप्यते बीजं, तादृशं भुक्ते फलम् ॥

अर्थ—जीव जिस प्रकार कर्म करता है तदनुसार फल की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार बीज का वपन किया जाता है, उसी प्रकार के फल की प्राप्ति सम्भव है।

सत्यानुसारिणी लक्ष्मीः, कीर्ति त्यागानुसारिणी ।  
अभ्याससारिणी विद्या, बुद्धि कर्मानुसारिणी ॥

अर्थ—लक्ष्मी सत्य का अनुसरण करती है। कीर्ति त्याग का अनुगमन करती है। विद्या अभ्यास से ही आती है। तथैव कर्म के अनुसार ही बुद्धि की प्रवृत्ति होती है।

तेणे जहा संधि-मुहे गहिए, सकम्मुणा किच्चइ पावकारी ।  
एवं पया पेच्च इहं च लोए, कडाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि ॥

—उत्तराव्ययन ४/३

अर्थ—जिस प्रकार संधिमुख पर सेंध लगाते हुए पकड़ा हुआ पापात्मा चोर अपने ही किये हुए कर्मों से दुःख पाता है। उसी प्रकार जीव इस लोक और परलोक में अपने किये हुए अशुभ कर्मों से दुःख पाते हैं, क्योंकि फल भोगे बिना, किये हुए कर्मों से झूटकारा नहीं होता।

चतुर्थ खण्ड



कर्म और पुरुषार्थ  
की  
जैन कथाएँ





जैन आगम साहित्य में प्रतिपादित कर्म और पुरुषार्थ सम्बन्धी चिन्तन का प्रभाव प्राकृत कथाओं में भी देखने को मिलता है। वैसे तो प्रायः प्रत्येक प्राकृत कथा में पूर्वजन्म, कर्मों का फल तथा मुक्ति-प्राप्ति के लिए संयम, वैराग्य आदि पुरुषार्थों का संकेत मिलता है। किन्तु कुछ कथाएँ ऐसी भी हैं जो कर्म-सिद्धान्त का ही प्रतिपादन करती हैं, तो कुछ पुरुषार्थ का। भारतीय संस्कृति में चार पुरुषार्थों का विवेचन है—धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष। वस्तुतः प्राकृत कथाओं में इनमें से दो को ही पुरुषार्थ माना गया है काम और मोक्ष को। शेष दो पुरुषार्थ इनकी प्राप्ति में सहायक हैं। धर्म पुरुषार्थ से मोक्ष सधता है तो अर्थ से काम पुरुषार्थ अर्थात् लौकिक समृद्धि व सुख आदि। प्राकृत कथाओं में इन लौकिक और पारलौकिक दोनों पुरुषार्थों का वर्णन है, किन्तु उनका प्रभाव समाज पर भिन्न-भिन्न पड़ा है।

प्राकृत कथाओं में कर्म-सिद्धान्त को प्रतिपादित करने वाली कथाएँ 'ज्ञाताधर्म कथा' में उपलब्ध हैं। मणिकुमार सेठ की कथा में कहा गया है कि पहले उसने एक सुन्दर वापी का निर्माण कराया। परोपकार एवं दानशीलता के अनेक कार्य किए। किन्तु एक बार जब उसके शरीर में सोलह प्रकार की व्याधियाँ हो गयीं तो देश के प्रख्यात वैद्यों की चिकित्सा द्वारा भी मणिकुमार स्वस्थ नहीं हो सका। क्योंकि उसके असाता कर्मों का उदय था। इसलिए उसे रोगों का दुःख भोगना ही था। इसी ग्रंथ में काली आर्या की एक कथा है, जिसमें अशुभ कर्मों के उदय के कारण उसकी दुष्प्रवृत्ति में बुद्धि लग जाती है और वह साध्वी के आचरण में शिथिल हो जाती है।

आगम ग्रंथों में विपाक सूत्र कर्म सिद्धान्त के प्रतिपादन का प्रतिनिधि ग्रंथ है। इसमें २० कथाएँ हैं। प्रारम्भ की दस कथाएँ अशुभ कर्मों के विपाक को एवं अन्तिम दस कथाएँ शुभ कर्मों के फल को प्रकट करती हैं। मियापुत्र की कथा क्रूरतापूर्वक आचरण करने के फल को व्यक्त करती है तो सोरियदत्त की कथा मांसभक्षण के परिणाम को। इसी तरह की अन्य कथाएँ विभिन्न कर्मों के परिपाक को स्पष्ट करती हैं। इन कथाओं का स्पष्ट उद्देश्य प्रतीत होता है कि अशुभ कर्मों को छोड़कर शुभ कर्मों की ओर प्रवृत्त हों।

स्वतंत्र प्राकृत कथा-ग्रंथों में कर्मवाद की अनेक कथाएँ हैं। 'तरंगवती' में पूर्वजन्मों की कथाएँ हैं। तरंगवती को कर्मों के कारण पति-वियोग सहना पड़ता है। 'वसुदेवहिंडी' में तो कर्मफल के अनेक प्रसंग हैं। चारुदत्त की दरिद्रता उसके पूर्वकृत कर्मों का फल मानी जाती है। इस ग्रंथ में वसुभूति दरिद्र ब्राह्मण की कथा होनहार का उपयुक्त उदाहरण है। वसुभूति के यज्ञदत्ता नाम की पत्नी थी। पुत्र का नाम सोमशर्म तथा पुत्री का सोमशर्मा था। उनके रोहिणी नाम की एक गाय थी। दान में मिली हुई खेती करने के लिए थोड़ी सी जमीन थी। एक बार अपनी दरिद्रता को दूर करने के लिए वसुभूति शहर जा रहा था। तो उसने अपने पुत्र से कहा कि मैं साहूकारों से कुछ दान-दक्षिणा माँगकर शहर से लौटूँगा। तब तक तुम खेती की रक्षा करना। उसकी उपज और दान में मिले धन से मैं तेरी और तेरी बहिन की शादी कर दूँगा। तब तक अपनी गाय भी बछड़ा दे देगी। इस तरह हमारे संकट के दिन दूर हो जायेंगे।

ब्राह्मण वसुभूति के शहर चले जाने पर उसका पुत्र सोमशर्म तो किसी नटी के संसर्ग में नट बन गया। आरक्षित खेती सूख गयी। सोमशर्मा पुत्री के किसी धूर्त से गर्भ रह गया और गाय का गर्भ किसी कारण से गिर गया। संयोग से ब्राह्मण को भी दक्षिणा नहीं मिली। लौटने पर जब उसने घर के समाचार जाने तो कह उठा कि हमारा भाग्य ही ऐसा है। इस ग्रंथ में इस तरह के अन्य कथानक भी हैं।

आचार्य हरिभद्र ने प्राकृत की अनेक कथाएँ लिखी हैं। 'समराइच्चकहा' और 'धूर्ताख्यान' के अतिरिक्त उपदेशपद और दशवैकालिकचूर्ण में भी उनकी कई कथाएँ कर्मवाद का प्रतिपादन करती हैं। उनमें कर्म-विपाक अथवा देवयोग से घटित होने वाले कई कथानक हैं, जिनके आगे मनुष्य की बुद्धि और शक्ति निरर्थक जान पड़ती है। 'समराइच्चकहा' के दूसरे भव में सिंहकुमार की हत्या जब उसका पुत्र आनंद राजपद पाने के लिए करने लगता है तो सिंहकुमार सोचता है कि जैसे अनाज पक जाने पर किसान अपनी खेती काटता है वैसे ही जीव अपने किए हुए कर्मों का फल भोगता है। उपदेशपद में 'पुरुषार्थ' या 'देव' नाम की एक कथा भी हरिभद्र ने प्रस्तुत की है। इसमें कर्मफल की प्रधानता है।

'कुवलयमाला कहा' में उद्योतनसूरि ने कई प्रसंगों में कर्मों के फल भोगने की बात कही है। कषायों के वशीभूत होकर जीने वाले व्यक्तियों को क्या-क्या भोगना पड़ता है इसका विस्तृत विवेचन लोभदेव आदि की कथाओं में इस ग्रंथ में किया गया है। राजा रत्नमुकुट की कथा में दीपशिखा और पतंगे का दृष्टांत दिया गया है। राजा ने पतंगे को मृत्यु से बचाने के लिए बहुत प्रयत्न किए। अंत में उसे एक संदूकची में बंद भी कर दिया किन्तु प्रातःकाल तक उसे एक

छिपकली खा ही गयी । राजा का प्रयत्न कर्म-फल के आगे व्यर्थ गया । उसने सोचा कि निपुण वैद्य रोगी को रोग से रक्षा तो कर सकते हैं किन्तु पूर्वजन्म-कृत कर्मों से जीव की रक्षा वे नहीं कर सकते । यथा :—

वेज्जाकरेंति किरियं ओसह-जीएहिमंत-बल-जुत्ता ।

रणे करेंति वसाया एण कयं जं पुब्बज्जम्मम्मि ॥ कुव० १४०-२५

प्राकृत कथाओं के कोशग्रन्थों में कर्मफल सम्बन्धी अनेक कथाएँ प्राप्त हैं । 'आख्यानमणि कोश' में बारह कथाएँ इस प्रकार की हैं । कर्म अथवा भाग्य के सामर्थ्य के संबन्ध में अनेक सुभाषित इस ग्रन्थ में प्रयुक्त हुए हैं । ऋषिदत्ता आख्यान के प्रसंग में कहा गया है कि कर्मों के अनुसार ही व्यक्ति सुख-दुःख पाता है । अतः किए हुए कर्मों (के परिणाम) का नाश नहीं होता । यथा :—

जं जेण पाबियब्बं सुहं व दुक्खं व कम्म निम्मदियं ।

तं सो तहेव पावइ कयस्स नासो जओ नत्थि ॥ पृ० २५०, गा० १५१

प्राकृत-कथा-संग्रह में कर्म की प्रधानता वाली कुछ कथाएँ हैं । समुद्रयात्रा के दौरान जब जहाज भग्न हो जाता है तब नायक सोचता है कि किसी को कभी भी दोष न देना चाहिए । सुख और-दुःख पूर्वजित कर्मों का ही फल होता है । इसी तरह प्राकृत कथाओं में परीषह-जय की अनेक कथाएँ उपलब्ध हैं । वहाँ भी तपश्चरण में होने वाले दुःख को कर्मों का फल मानकर उन्हें समतापूर्वक सहन किया जाता है । अपभ्रंश के कथाग्रन्थों एवं महाकोमु में इस प्रकार की कई कथाएँ हैं । सुकुमाल स्वामी की कथा पूर्व जन्मों के कर्म विपाक को स्पष्ट करने के लिए ही कही गई है । होनहार कितना बलवान है, यह इस कथा से स्पष्ट हो जाता है ।

कर्म सिद्धांत सम्बन्धी इन प्राकृत कथाओं के वर्णनों पर यदि पूर्णतः विश्वास किया गया होता और भवितव्यता को ही सब कुछ मान लिया गया होता तो लौकिक और पारलौकिक दोनों तरह के कोई प्रयत्न व पुरुषार्थ जैन धर्म के अनुयायियों द्वारा नहीं किए जाते । इस दृष्टि से यह समाज सबसे अधिक निष्क्रिय, दरिद्र और भाग्यवादी होला । किन्तु इतिहास साक्षी है कि ऐसा नहीं हुआ । अन्य विधाओं के जैन साहित्य को छोड़ भी दें तो यही प्राकृत कथाएँ लौकिक और पारमार्थिक पुरुषार्थों का इतना वर्णन करती हैं कि विश्वास नहीं होता उनमें कभी भाग्यवाद या कर्मवाद का विवेचन हुआ होगा । कर्म और पुरुषार्थ के इस अन्तर्द्वन्द्व को स्पष्ट करने के लिए प्राकृत कथाओं में प्राप्त कुछ पुरुषार्थ सम्बन्धी संदर्भ यहाँ प्रस्तुत हैं ।

'ज्ञाताधर्मकथा' में उदकज्ञाता अध्ययन में सुबुद्धि मंत्री की कथा है । इसमें उसने जितशत्रु राजा को एक खाई के दुर्गन्धयुक्त अपेय पानी को शुद्ध एवं पेय

जल में बदल देने की बात कही। राजा ने कहा—यह नहीं हो सकता। तब मंत्री ने कहा कि पुद्गलों में जीव के प्रयत्न और स्वभाविक रूप से परिवर्तन किया जा सकता है। राजा ने इस बात को स्वीकार नहीं किया। तब सुबुद्धि ने जल-शोधन की विशेष प्रक्रिया द्वारा उसी खाई के अशुद्ध जल को अमृतसदृश मधुर और पेय बनाकर दिखा दिया। तब राजा की समझ में आया कि व्यक्ति की सद्प्रवृत्तियों के पुरुषार्थ उसके जीवन को बदल सकते हैं। अन्त में राजा और मंत्री दोनों जैन धर्म में दीक्षित हो गये। इसी ग्रंथ में समुद्रयात्रा आदि की कथाएँ भी हैं। जिनसे ज्ञात होता है कि संकट के समय भी साहसी यात्री अपना पुरुषार्थ नहीं त्यागते थे। जहाज भग्न होने पर समुद्र पार करने का भी प्रयत्न करते थे। अनेक कठिनाइयों को पार कर भी वणिक्पुत्र सम्पत्ति का अर्जन करते थे।

‘उत्तराध्ययन टीका’ (नेमीचंद्र) में एक कथा है, जिसमें राजकुमार, मंत्रीपुत्र और वणिक्पुत्र अपने-अपने पुरुषार्थ का परीक्षण करके बतलाते हैं। ‘दशवैकालिक चूर्णा’ में चार मित्रों की कथा में पुरुषार्थों की श्रेष्ठता सिद्ध की गई है। ‘वसुदेवहिण्डो’ में अर्थ और काम पुरुषार्थ की अनेक कथोपकथाएँ हैं। अर्थो-पार्जन पर ही लौकिक सुख आधारित है। अतः इस ग्रंथ की एक कथा में चारु-दत्त दरिद्रता को दूर करने के लिए अंतिम क्षण तक पुरुषार्थ करना नहीं छोड़ता। ‘उच्छहेसिरिवसति’ इस सिद्धांत का पालना करता है। ‘समराइच्च-कहा’ में लौकिक और पारमार्थिक पुरुषार्थ की अनेक कथाएँ हैं।

उद्योतनसूरि ने ‘कुवलयमाला कहा’ में एक ओर जहाँ कर्मफल का प्रतिपादन किया है, वहाँ चंडसोम आदि की कथाओं द्वारा यह भी स्पष्ट कर दिया है कि पापी से पापी व्यक्ति भी यदि सद्प्रवृत्ति में लग जाये तो वह सुख-समृद्धि के साथ जीवन के अन्तिम लक्ष्य को भी प्राप्त कर सकता है। मायादत्त की कथा में कहा गया है कि लोक में धर्म, अर्थ, और काम इन तीन पुरुषार्थों में से जिसके एक भी नहीं है, उसका जीवन जड़वत् है। अतः अर्थ का उपार्जन करो, जिससे शेष पुरुषार्थ की सिद्धि हो (कुव० ५८. १३-१५)। सागरदत्त की कथा से ज्ञात होता है कि बाप-दादाओं की सम्पत्ति से परोपकार करना व्यर्थ है। जो अपने पुरुषार्थ से अर्जित धन का दान करता है वही प्रशंसा का पात्र है, बाकी सब चोर हैं :—

जो देई धरां दुहसय समज्जियं अत्तणो भुय-बलेण ।

सो किर पसंसणिज्जो इयरो चोरो विय वराओ ॥ कुव० १०३-२३ ॥

इसी तरह इस ग्रंथ में धनदेव की कथा है। वह अपने मित्र भद्रश्रेष्ठी को प्रेरणा देकर व्यापार करने के लिए रत्न-दीप ले जाना चाहता है। भद्र श्रेष्ठी इसलिए वहाँ नहीं जाना चाहता क्योंकि वह सात बार जहाज भग्न होजाने से

निराश हो चुका था । तब धनदत्त उसे समझाता है कि पुरुषार्थ-हीन होने से तो लक्ष्मी विष्णु को भी छोड़ देती है और जो पुरुषार्थी होता है उसी पर वह दृष्टि-पात करती है । अतः तुम पुनः साहस करो । व्यक्ति के लगातार प्रयत्न करने पर ही भाग्य बदला जा सकता है ।

प्राकृत के अन्य कथा-ग्रंथों में भी इस प्रकार की पुरुषार्थ सम्बन्धी कथाएँ देखी जा सकती हैं । श्रीपाल-कथा कर्म और पुरुषार्थ के अन्तर्द्वन्द्व का स्पष्ट उदाहरण है । मैना-सुन्दरी अपने पुरुषार्थ के बल पर अपने दरिद्र एवं कोढ़ी पति को स्वस्थ कर पुनः सम्पत्तिशाली बना देती है । प्राकृत के ग्रंथों में इस विषयक एक बहुत रोचक कथा प्राप्त है । राजा भोज के दरबार में एक भाग्यवादी एवं पुरुषार्थी व्यक्ति उपस्थित हुआ । भाग्यवादी ने कहा कि—सब कुछ भाग्य से होता है, पुरुषार्थ व्यर्थ है । पुरुषार्थी ने कहा—प्रयत्न करने से ही सब कुछ प्राप्त होता है, भाग्य के भरोसे बैठे रहने से नहीं । राजा ने कालिदास नामक मंत्री को उनका विवाद निपटाने को कहा । कालिदास ने उन दोनों के हाथ बाँधकर उन्हें एक अंधेरे कमरे में बंद कर दिया और कहा कि आप लोग अपने-अपने सिद्धान्त को अपनाकर बाहर आ जाना । भाग्यवादी निष्क्रिय होकर कमरे के एक कोने में बैठा रहा जबकि पुरुषार्थी तीन दिन तक कमरे से निकलने का द्वार खोजता रहा । अंत में थककर वह एक स्थान पर गिर पड़ा । जहाँ उसके हाथ थे वहाँ चूहे का बिल था, अतः उसके हाथ का बंधन चूहे ने काट दिया । दूसरे दिन वह किसी प्रकार दरवाजा तोड़कर बाहर आ गया । बाद में वह भाग्यवादी को भी निकाल लाया और कहने लगा कि उद्यम के फल को जानकर यावत्-जीवन उसे नहीं छोड़ना चाहिए । पुरुषार्थ फलदायी होता है ।

उज्जमस्स फलं नच्चा, विउसदुगनायगे ।

जावज्जीवं न छुड्डेज्जा, उज्जमंफलदायगं ॥

यहाँ इस विषय से सम्बन्धित पाँच प्रमुख कथाएँ दी जा रही हैं ।

उनसे कर्म एवं पुरुषार्थ के स्वरूप को समझने में मदद मिलती है ।

[ १ ]

## आटे का मुर्गा

□ डॉ० प्रेम सुमन जैन

यीधेय नामक जनपद की राजधानी राजपुर के चण्डमारी देवी के मन्दिर के सामने बलि देने के लिए छोटे-बड़े पशुओं के कई जोड़े एकत्र कर दिये गये हैं । एक मनुष्य-युगल की प्रतीक्षा है । राजा मारिदत्त के राज्य-कर्मचारियों ने

एक सुन्दर नर-युगल को लाकर वहाँ उपस्थित किया—साधुवेश में एक युवा साधु और एक युवा साध्वी । सिर पर मृत्यु होते हुए भी चेहरे पर अपूर्व सौम्यता, करुणा और तेज । उनके सामने बलि देने वाले राजा की तलवार अचानक नीचे झुक गयी । कौतूहल जग गया । यह नर-युगल कौन हैं ? राजा ने पूछा—‘बलि देने के पूर्व मैं आपका परिचय जानना चाहता हूँ ।’ नर-युगल के मुनि कुमार ने जो परिचय दिया वह इस प्रकार है ।

अवन्ति नामक जनपद में उज्जयिनी नगरी है । वहाँ यशोधर राजा अपनी रानी अमृतमति के साथ निवास करता था । एक रात्रि में यशोधर ने रानी अमृतमति को एक महावत के साथ विलास करते देख लिया । पतन की इस पराकाष्ठा से राजा का मन संसार से विरक्त हो गया । प्रातःकाल जब उसके उदास मन का राजमाता चन्द्रमति ने कारण पूछा तो यशोधर ने एक दुःस्वप्न की कथा गढ़ दी । किन्तु राजमाता से राजा के दुःख की गहरायी छिपी न रही । अतः उसने अपने पुत्र के मन की शान्ति के लिए कुलदेवी चंडमारी के मंदिर में पशु-बलि देने का आग्रह किया । किन्तु यशोधर पशु-बलि के पक्ष में नहीं हुआ । तब माता ने उसे सुझाया कि आटे का मुर्गा बनाकर उसकी बलि दी जा सकती है । यशोधर ने विवश होकर यह प्रस्ताव मान लिया । किन्तु इस शर्त के साथ कि इस बलिकर्म के बाद वह अपने पुत्र यशोमति को राज्य देकर विरक्त हो जायेगा ।

रानी अमृतमति ने जब यह सब जाना तो उसे ज्ञात हुआ कि रात्रि में महावत के साथ किये गये विलास को राजा जान गया है । राजमाता भी इसको जानती होगी । अतः अब दोनों को रास्ते से हटाना होगा । अतः उसने अपनी चतुराई से राजा और राजमाता को उसी दिन अपने यहाँ भोजन पर आमन्त्रित किया और उसी दिन बलि चढ़ाये हुए उस आटे के मुर्गे में विष मिलाकर प्रसाद के रूप में मां और पुत्र को उसने खिला दिया । इससे यशोधर और उसकी मां चन्द्रमति दोनों की मृत्यु हो गयी ।

संकल्पपूर्वक की गयी आटे के मुर्गे की हिंसा के कारण तीव्र कर्मबन्ध हुआ । उसके कारण वे दोनों मां-बेटे छः जन्मों तक पशु-योनि में भटकते रहे । कुत्ता, हिरण, मछली, बकरा, मुर्गा आदि के जन्मों को पार करते हुए उन्हें संयोग से सुदत्त नामक आचार्य के उपदेश से अपने पूर्व-जन्म, का स्मरण हो आया । उससे पश्चात्ताप की अग्नि ने उनके कुछ दुष्कर्मों को जला दिया । अतः अगले जन्म में वे दोनों यशोमति राजा और कुसुमावलि रानी के यहाँ भाई-बहिन के रूप में उत्पन्न हुए । संयोगवश उन्हीं आचार्य सुदत्त से जब यशोमति ने अपने पूर्वजों का वृत्तान्त पूछा तो ज्ञात हुआ कि उसके पिता यशोधर एवं पितामही चन्द्रमति उसके यहाँ पुत्र एवं पुत्री के रूप में पैदा हुए हैं । यह कथा

सुनकर उन दोनों बालकों को बचपन में ही संसार का स्वरूप समझ में आ गया । अतः वे बाल्यावस्था में ही साधु एवं साध्वी बन गये ।

‘हे राजा मारिदत्त ! हम दोनों साधु-साध्वी यशोमति के वही पुत्र-पुत्री हैं । हमने आटे के मुर्गे की बलि चढ़ाकर जो संसार के दुःख उठाये हैं, उन्हें तुम्हारे सामने कह दिया है । अब तुम्हारी इच्छा कि तुम हमारे साथ इन निरपराधी मूक पशुओं की बलि दो या नहीं ।’ राजा मारिदत्त यह वृत्तान्त सुनकर मुनि युगल के चरणों में गिर पड़ा और उसने निवेदन किया कि हमारे द्वारा किए गए अपमान को क्षमा करें भगवन् ! हमें भी अपने उस कल्याण मित्र गुरु के पास ले चलें ।’

## [ २ ]

### सियारिनी का बदला

□ डॉ० प्रेम सुमन जैन

जम्बू द्वीप के भरतक्षेत्र में उज्जयिनी नगरी है । वहाँ सुभद्र सेठ अपनी पत्नी जया के साथ रहता था । उनके धन-धान्य एवं अन्य सुखों की कमी नहीं थी । किन्तु कोई संतान न होने से वे दोनों दुःखी थे । कुछ समय बाद उनके एक पुत्र हुआ, जो अत्यन्त सुकुमार था अतः उसका नाम सुकुमाल रख दिया गया । किन्तु कर्मों का कुछ ऐसा संयोग कि पुत्र-दर्शन के बाद ही सेठ ने दीक्षा ले ली । अतः जया सेठानी बहुत दुःखी हुई । उसने एक ज्ञानी मुनि से अपने पुत्र के भविष्य के सम्बन्ध में पूछा । मुनि ने कहा—‘सुकुमाल को संसार के सब सुख मिलेंगे । किन्तु जब कभी भी किसी मुनि के उपदेश इसके कानों में पड़ेंगे तब यह मुनि बन जायेगा ।’ यह सुनकर जया सेठानी ने अपने महल के चारों ओर ऐसी व्यवस्था कर दी कि दूर-दूर तक किसी मुनि का आगमन न हो और न ही उनके उपदेश सुनाई पड़ें ।

समय आने पर जया सेठानी ने सुकुमाल का ३२ कुमारियों से विवाह कर दिया । उनके सबके अलग-अलग महल बनवा दिये । वहाँ सुख-सुविधाओं के सभी साधन उपलब्ध करा दिये ताकि सुकुमाल को कभी भी उन महलों की परिधि से बाहर न आना पड़े ।

एक बार जया सेठानी की समृद्धि और सुकुमाल की सुकुमारता की प्रसिद्धि सुनकर उस नगर का राजा सेठानी के घर आया । जया सेठानी ने राजा का पूरा सत्कार किया एवं उसे अपने पुत्र से मिलाया । उसके साथ भोजन

१. दशवीं शताब्दी के यशस्तिलकचम्पू की प्रमुख कथा का संक्षिप्त रूपान्तर ।



कराया। किन्तु इस बीच राजा ने अनुभव किया कि सुकुमाल की आँखों में आँसू आये। वह सिंहासन पर अधिक देर तक ठीक से बैठ नहीं सका। भोजन करते समय भी उसने केवल कुछ चावलों को चुन-चुनकर ही खाया। अतः राजा ने सेठानी से इस सबका कारण पूछा। सेठानी ने कहा—“महाराज ! मेरा पुत्र बहुत सुकुमार है ! उसने कभी दिये का प्रकाश नहीं देखा ! जब मैंने आपकी दिये से आरती की तो उसकी लौ से कुमार के आँसू आ गये। जब मैंने सरसों के दाने आपके ऊपर डालकर आपका सत्कार किया तो सरसों के दाने सिंहासन पर गिर जाने से उनकी चुभन से वह ठीक से आपके साथ नहीं बैठ सका। और सुकुमाल केवल कमल से सुवासित कुछ चावलों का ही भोजन करता है। इसलिए उसने उन्हीं चावलों को बीन-बीन कर खाया है। आप उसकी बातों का बुरा न मानें !”

राजा, सुकुमाल की सुकुमारता से और सेठानी के सत्कार से बहुत प्रभावित हुआ। उसने सेठानी की सहायता करते हुए सारे नगर में मुनियों के आगमन पर प्रतिबन्ध लगा दिया। सेठानी अपने पुत्र की सुरक्षा से निश्चिन्त हो गयी।

किन्तु संयोग से सुकुमाल के पूर्वजन्म के मामा मुनि सूर्यमित्र ने अपने ज्ञान से जाना कि सुकुमाल की आयु अब केवल तीन दिन शेष रह गयी है। अतः वे राजाज्ञा की चिन्ता न करते हुए नगर के बाहर सेठानी के महल के बगीचे के समीप में आकर ठहर गये। वहीं पर वे श्रावकों को उपदेश देने लगे।

एक दिन प्रातःकाल सुकुमाल अपने महल की छत पर भ्रमण कर रहा था कि उसने मुनि के उपदेश सुन लिये। उसे अपने पूर्व-जन्म का स्मरण हो आया। अतः उसने मुनिदीक्षा लेने का निश्चय कर लिया। सुकुमाल चुपचाप अपने महल से रस्सी के सहारे नीचे उतरा और पैदल चलते हुए मुनि के समीप पहुँचकर उसने दीक्षा ले ली। और आयु कम जानकर वह तपस्या में लीन हो गया।

सुकुमाल की सुकुमारता के कारण महल से लेकर पूरे रास्ते में सुकुमाल के पैरों से रक्त बहने के कारण पैरों के निशान बनते चले गये। नगर के बाहर उस समय एक सियारिनी अपने बच्चों के साथ घूम रही थी। वह रक्त के निशान के साथ-साथ चलती हुई मुनि सुकुमाल के पास पहुँच गयी। वहाँ उसे अपने पूर्व-जन्म का स्मरण हो आया। तब वह बदला लेने की भावना से सुकुमाल के शरीर को खाने लग गयी। किन्तु वे मुनि परीषह को सहन करते हुए अपनी तपस्या में लीन रहे और उन्होंने शरीर का त्याग करते हुए केवलज्ञान प्राप्त किया।

इधर सेठानी के घर में सुकुमाल के निष्क्रमण का समाचार मिलते ही सब परिजन नगर के बाहर दौड़े । जब तक वे मुनि सुकुमाल के समीप पहुँचे तब तक उस सियारिनी द्वारा उनका भौतिक शरीर खाया जा चुका था । इस दृश्य को देखकर सारे लोग स्तब्ध रह गये । तब सुकुमाल के दीक्षा गुरु सूर्यमित्र ने उनकी शंका का समाधान करते हुए उन्हें सुकुमाल और सियारिनी के पूर्व-जन्म की कथा इस प्रकार सुनायी ।

“इसी भरतक्षेत्र में कौशाम्बी नगरी है । वहाँ अतिबल राजा अपनी मदनावली रानी के साथ राज्य करता था । उसके यहाँ सोमशर्मा नामक मन्त्री था । उसके काश्यपी नामक पत्नी थी । उनके दो पुत्र थे—अग्निभूति और वायुभूति । पिता की मृत्यु के बाद माता काश्यपी ने अपने दोनों पुत्रों को पढ़ने के लिए उनके मामा सूर्यमित्र के पास उन्हें राजगृही भेजा । सूर्यमित्र ने मामा-भानजे के सम्बन्ध को छिपाकर रखा और उन्हें अच्छी शिक्षा दी । किन्तु जब दोनों पुत्रों को इस सम्बन्ध की जानकारी मिली तो अग्निभूति ने सोचा कि मामा ने हमारे हित के लिए ऐसा किया । अन्यथा हम पढ़ न पाते । किन्तु वायुभूति ने इसे अपना अपमान समझा और वह मामा सूर्यमित्र को अपना शत्रु मानने लगा ।

एक बार सूर्यमित्र मुनि के रूप में कौशाम्बी में आये । तब अग्निभूति ने उनका बहुत सत्कार किया, किन्तु वायुभूति ने उनका अपमान किया । इससे दुःखी होकर अग्निभूति को भी संसार की असारता का ज्ञान हो गया । उसने भी सूर्यमित्र के पास मुनिदीक्षा ले ली । जब यह बात अग्निभूति की पत्नी सोमदत्ता को ज्ञात हुई तो वह बहुत चिन्तित हुई । उसने अपने देवर वायुभूति से बड़े भ्राता अग्निभूति को घर लौटा लाने का अनुरोध किया । इससे वायुभूति और क्रोधित हो गया । उसने अपनी भौजाई सोमदत्ता के सिर पर अपने पैरों से प्रहार कर दिया । इससे सोमदत्ता बहुत दुःखी हुई । उसने कहा कि मैं अभी अबला हूँ । इसलिए तुमने मुझे लातों से मारा है । किन्तु मुझे जब अवसर मिलेगा मैं तुम्हारे इन्हीं पैरों को नोंच-नोंचकर खाऊँगी । इस निदान के उपरान्त सोमदत्ता मृत्यु को प्राप्त हो गई । वहाँ से अनेक जन्मों में भटकती हुई आज वह यहाँ इस सियारिनी के रूप में उपस्थित है ।

उधर वायुभूति का जीव भी मरकर नरक में गया । वहाँ से निकलकर पशु-योनियों में भटका । जन्मान्ध चाण्डाली हुआ । फिर मुनि-उपदेश पाकर ब्राह्मण पुत्री नागश्री के रूप में पैदा हुआ । वहाँ उसने व्रतों का पालन कर इस नगर में जया सेठानी के यहाँ सुकुमाल के रूप में जन्म लिया । शुभ कर्मों के उदय से सुकुमाल ने मुनि दीक्षा ली । किन्तु अशुभ कर्मों के उदय से उन्हें इस सियारिनी द्वारा दिया गया यह उपसर्ग सहना पड़ा है ।”

सूर्यमित्र मुनि द्वारा इस वृत्तान्त को सुनकर जया सेठानी ने संतोष धारण किया एवं पूरे परिवार ने गृहस्थों के व्रत धारण किये ।<sup>१</sup>

[ ३ ]

## जादुई बगीचा

□ डॉ० प्रेम सुमन जैन

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में घनधान्य से युक्त कुसट्ट नामक देश है । उसमें बलासक नामक गाँव है, जहाँ सब कुछ है, किन्तु दूर-दूर तक पेड़ों की छाया नहीं है । ऐसे इस गाँव में विद्वान् अग्निशर्मा ब्राह्मण रहता था । उसके अग्निशिखा नामक शीलवती पत्नी थी । उन दोनों के अत्यन्त सुन्दर विद्युत्प्रभा नामक पुत्री थी । तीनों का समय सुख से व्यतीत होता था ।

अचानक जब विद्युत्प्रभा आठ वर्ष की हुई तब भयंकर रोग से पीड़ित होकर उसकी माँ का निधन हो गया । इससे घर का सारा कार्य विद्युत्प्रभा पर आ पड़ा । एक दिन सुबह से शाम तक वह कार्य करते-करते जब ऊब गयी तो उसने अपने पिता से सौतेली माँ ले आने को कहा, जिससे उसे कुछ राहत मिल सके । किन्तु दुर्भाग्य से सौतेली माँ ऐसी आयी कि वह घर का कुछ भी काम नहीं करती थी । इससे विद्युत्प्रभा का दुःख और बढ़ गया । उसे काम तो पूरा करना पड़ता, किन्तु भोजन बहुत कम मिलता । इसे वह अपने कर्मों का फल मानकर दिन व्यतीत करने लगी ।

एक दिन विद्युत्प्रभा गायों को चराने के लिए जंगल में गयी थी । थककर वह दोपहर में वहाँ पर सो गयी । तब एक बड़ा साँप उसके पास आया । वह मनुष्य की भाषा में विद्युत्प्रभा से बोला कि मुझे तुम ओढ़नी से ढककर अपनी गोद में छिपा लो, कुछ सपेरे मेरे पीछे पड़े हुए हैं, उनसे मुझे बचा लो । विद्युत्प्रभा ने बड़े साहस से करुणापूर्वक उस नाग की रक्षा की । इससे संतुष्ट होकर नाग अपने असली रूप में आकर देवता बन गया । उसने विद्युत्प्रभा से एक वर मांगने को कहा । विद्युत्प्रभा ने लालच के बिना केवल इतना वर मांगा कि मेरी गायों को और मुझे घूप न लगे इसलिए मेरे ऊपर तुम कोई छाया कर दो । उस नागकुमार देवता ने तुरन्त विद्युत्प्रभा के सिर पर एक सुन्दर बगीचा बना दिया और कहा—'यह बगीचा तुम्हारी इच्छा से छोटा-बड़ा होकर हमेशा

१. १२वीं शताब्दी की अपभ्रंश कथा 'सुकुमालचरित' (श्रीधर कृत) का संक्षिप्त रूपान्तर ।

साथ रहेगा । इसके अलावा भी तुम्हें कभी कोई संकट हो तो मुझे याद करना । मैं तुम्हारी मदद करूँगा' ऐसा कहकर वह नागकुमार चला गया ।

एक दिन जब विद्युत्प्रभा जंगल में अपने बगीचे के नीचे सो रही थी । तब वहाँ पाटलिपुत्र का राजा जितशत्रु अपनी सेना के साथ आया । उसने इस जादुई बगीचे के साथ सुन्दर विद्युत्प्रभा को देखकर उससे विवाह कर लिया । राजा ने विद्युत्प्रभा का नाम बदलकर 'आराम शोभा' रख दिया और उसे अपनी पटरानी बना दिया । इस प्रकार आराम शोभा के दिन सुख से बीतने लगे ।

इधर आरामशोभा की सौतेली माता के एक पुत्री उत्पन्न हुई और वह क्रमशः युवा अवस्था को प्राप्त हुई । तब उसकी माता ने विचार किया कि राजा मेरी पुत्री को भी रानी बना ले ऐसा कोई उपाय करना चाहिए । उसकी सौतेली मां ने कपटपूर्ण अपनत्व दिखाकर आरामशोभा को मारने के लिए अपने पति अग्निशर्मा के साथ तीन बार विषयुक्त लड्डू बनाकर भेजे । किन्तु उस नागकुमार की सहायता से वे लड्डू विषरहित हो गये । तब उस सौतेली मां ने प्रथम प्रसव कराने के लिए आरामशोभा को अपने घर बुलवाया । वहाँ आरामशोभा ने एक पुत्र को जन्म दिया । तभी उस सौतेली मां ने आरामशोभा को धोखे से घर के पिछवाड़े के कुएँ में डाल दिया और समझ लिया कि आरामशोभा मर गयी है । किन्तु वहाँ उस नागकुमार ने आरामशोभा के लिए कुएँ के भीतर ही एक महल बना दिया ।

इधर उस सौतेली मां ने अपनी पुत्री को आरामशोभा के स्थान पर राजा की रानी बनाकर उसके पुत्र के साथ पाटलिपुत्र भेज दिया । किन्तु इस तकली आरामशोभा के साथ उस जादुई बगीचे के न होने से राजा को शंका हो गयी । वह चुपचाप असली बात की खोज में रहने लगा । उधर पुत्र और पति के शोक से दुःखी आरामशोभा नागकुमार की सहायता से रात्रि में अपने पुत्र को देखने चुपके-से राजमहल में जाने लगी । किन्तु उसे सुबह होने के पहले ही लौटना पड़ता था । अन्यथा उसका जादुई बगीचा हमेशा के लिए नष्ट हो जायेगा । किन्तु एक दिन राजा ने असली आरामशोभा को पकड़ लिया और सारी बातें जान लीं । तभी वह जादुई बगीचा नष्ट हो गया । किन्तु आरामशोभा अपने पुत्र और पति से मिलकर संतुष्ट हो गयी । राजा ने आरामशोभा की सौतेली मां और पुत्री को सजा देनी चाही तो आरामशोभा ने उन्हें माफ करा दिया ।

एक दिन राजा के साथ वार्तालाप करते हुए आरामशोभा ने प्रश्न किया कि मुझे बचपन में इतने दुःख क्यों मिले और बाद में राजमहल के सुख मिलने का क्या कारण है ? जादुई बगीचे ने मेरी सहायता क्यों की ? तब राजा आरामशोभा को एक सन्त के पास ले गया । उससे उन्होंने अपनी जिज्ञासा का

समाधान करना चाहा । तब उन परमज्ञानी साधु ने आरामशोभा के पूर्वजन्म को संक्षेप में इस प्रकार कहा—

“इस जम्बूद्वीप के भारतवर्ष में चंपानगरी है । वहाँ कुलधर नामक एक सेठ था । उसकी पत्नी का नाम कुलानन्दा था । उनके आठ पुत्रियाँ हुईं । आठवीं का नाम दुर्भागी रखा गया । बहुत समय तक उसका विवाह नहीं हुआ । किन्तु संयोग से एक बार कोई परदेशी युवक सेठ कुलधर की दुकान पर आया । किसी प्रकार सेठ ने उस युवक के साथ दुर्भागी का विवाह कर दिया । किन्तु अपने घर को वापिस लौटते हुए वह युवक दुर्भागी को अकेला सोता हुआ छोड़कर भाग गया । जागने पर दुर्भागी को बहुत दुःख हुआ । किन्तु इसे भी अपने कर्मों का फल मानती हुई वह किसी प्रकार उज्जयिनी के मणिभद्र सेठ के यहाँ पहुँच गयी । वहाँ उसने अपने शील और व्यवहार से सेठ के परिवार का दिल जीत लिया । वह सेठ के धार्मिक कार्यों में भी मदद करने लगी । उसे जो भी पैसे सेठ से मिलते उसकी सामग्री खरीदकर वह गरीबों में बाँट देती । उसका सारा समय देवपूजा और गुरुपूजा में ही व्यतीत होने लगा ।

अचानक मंदिर में लगा हुआ बगीचा सूखने लगा । सेठ ने बहुत उपाय किये, किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ । तब दुर्भागी ने इस कार्य को अपने ऊपर लिया और प्रतिज्ञा की कि जब तक यह बगीचा हरा-भरा नहीं हो जायेगा तब तब वह अन्न ग्रहण नहीं करेगी । उसकी इस तपस्या से शासनदेवी प्रसन्न हुई और उसने बगीचे को हरा-भरा कर दिया । इसमें दुर्भागी का मन धर्म में और रम गया । वह कठोर तपस्याएँ करने लगी । अन्त में उसने आत्म-चित्तन करते हुए अपने प्राण त्यागे । वहाँ से वह स्वर्ग में उत्पन्न हुई । वहाँ पर भी धर्म-भावना के प्रति रुचि होने के कारण उसे मनुष्य जन्म मिला और वह अग्निशर्मा ब्राह्मण के घर विद्युत्प्रभा नाम की पुत्री हुई ।

उस दुर्भागी ने अपने जीवन का पूर्वभाग सदाचार रहित परिवार में व्यतीत किया था, अतः उसके विचारों और कार्यों में सद्भावना नहीं थी । इससे उसने दुष्कर्मों का संचय किया । उन्हीं के कारण उसे विद्युत्प्रभा के जीवन में प्रारम्भ में बहुत दुःख भोगने पड़े हैं । किन्तु दुर्भागी का अन्तिम जीवन एक धार्मिक परिवार में व्यतीत हुआ । उसने स्वयं धार्मिक साधना की । इसलिए आरामशोभा के रूप से उसे राजमहलों का सुख मिला । गरीबों को दान देने और बगीचा हरा-भरा करने के कारण से आरामशोभा को जादुई बगीचे का सुख मिला है । और अब महारानी आरामशोभा धार्मिक चिन्तन कर रही है तथा उसके अनुरूप अपना जीवन व्यतीत करेगी तो वह स्वर्गों के सुख को भोगकर क्रमशः मोक्षपद भी पा सकेगी ।”

जानी सन्त के इन वचनों को सुनकर जितशत्रु राजा और आरामशोभा रानी ने संसार-त्याग कर वैराग्य जीवन अंगीकार किया ।<sup>१</sup>

## [ ४ ]

### दो साधक जो बिछुड़ गये

□ श्री सुजानमल मेहता

साधना, त्याग और तपश्चर्या का लक्ष्य कर्म-निरोध और कर्म-निर्जरा है और अन्ततः अपने शुद्ध स्वरूप को प्रकट कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होना है । साधकों को ऋद्धि-सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं किन्तु अगर कोई साधक भौतिक चकाचौंध में फँस कर प्राप्त ऋद्धि-सिद्धियों का लक्ष्य भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त करना बना लेता है तो वह अमृत में विष घोल देता है और परिणामतः अवनति के गहरे कूप में चला जाता है । ऐसे ही साधकों के लिये कहा जाता है 'तपेश्वरी सो राजेश्वरी और राजेश्वरी सो नरकेश्वरी ।'

कापिल्य नगर में जन्मे चक्रवर्ती ब्रह्मादत्त ने भी अपने पूर्व भवों में उत्कृष्ट साधना की थी और इसी कारण वे छः खण्ड के अधिपति बने थे । भौतिक ऋद्धि सम्पदा उनके आंगन में कील्लोलें करती थीं, सुन्दर और मनोहर रानियों से उनका अन्तःपुर सुशोभित था और सांसारिक काम भोगों को उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था । इतना कुछ होते हुये भी वे अपने जीवन में रिक्तता का अनुभव करते थे । वे अपने अन्तर में एक टीस अनुभव करते थे मानो उनका एक अनन्य प्रेमी बिछुड़ गया हो । इस गहरी चिन्ता ही चिन्ता में उनको अपने पूर्व भवों की स्मृति (जातिस्मरण ज्ञान) हो गयी । उनकी स्मृति अपने पूर्व के लगातार पाँच भवों तक पहुँच गई और स्मरण हो गया कि वे दो भाई थे जो साथ-साथ जन्म लेते थे और मृत्यु को प्राप्त होते थे । प्रथम भव में वे दशार्ण देश में दास के रूप में थे, दूसरे भव में वे कालिजर पर्वत पर मृग के रूप में थे, तीसरे भव में मातृ गंगा नदी के तट पर हंस के रूप में थे और चौथे भव में काशी नगर में एक चाण्डाल के घर में चित्त और संभूति के रूप में जन्मे थे ।

काशी नरेश के नमूची नाम का प्रधान था, जो बड़ा बुद्धिमान और संगीत शास्त्री था, साथ ही था महान् व्यभिचारी । उसने राज्य-अन्तःपुर में भी इस दोष का सेवन किया, परिणामतः राजा ने उसको मृत्यु दण्ड दे दिया । फांसी के तख्ते पर चढ़ाते समय अधिक (चित्त और संभूति के पिता) को दया आ गई

१. १२वीं शताब्दी की प्राकृत कथा 'आरामसोहा' का संक्षिप्त रूपान्तर ।

और उसने उसको मृत्यु से बचाकर अपने घर में गुप्त रूप से रख लिया । दोनों भाई चित्त और संभूति नमूची से संगीत विद्या सीखने लगे और पारंगत हो गये । जिसकी बुरी आदत पड़ जाती है वह कहीं नहीं चूकता । नमूची ने चाण्डाल के घर में भी व्यभिचार का सेवन किया और उसको प्राण लेकर चुपचाप भागना पड़ा ।

चित्त और संभूति की संगीत विद्या की ख्याति देश-देशान्तर में फैलने लगी । काशी के संगीत शास्त्रियों को चाण्डाल कुलोत्पन्न भाइयों की ख्याति सहन नहीं हो सकी और उन्होंने येन-केन प्रकारेण दोनों भाइयों को देश निकाला दिलवा दिया । इस घोर अपमान को दोनों भाई सहन नहीं कर सके और अपमानित जीवन के बजाय मृत्यु को वरण करना उन्होंने श्रेयस्कर समझा और पर्वत शिखर से छलांग मारकर मृत्यु का आलिग्न करने का संकल्प उन्होंने कर लिया । अपने विचारों को वे कार्य रूप में परिणत कर ही रहे थे कि अकस्मात् एक निर्ग्रन्थ मुनि उधर आ निकले । मुनि ने ऐसा दुष्कृत्य करने से उनको रोका और आत्म-हत्या एक भयंकर पाप है, यह समझाते हुये मानव-जीवन को सार्थक बनाने का उपदेश दिया । मुनि के उपदेश ने उनमें से हीन भावना को निकाल दिया और उन दोनों ने मुनिराज का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया । मुनि के पास ज्ञान-ध्यान में निपुण होने के बाद गुरु आज्ञा से वे स्वतंत्र विचरण करने लगे । विचरण करते हुये साधना के बल से उनको अनेक ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त हो गईं ।

उधर नमूची प्रधान चाण्डाल घर से भागकर लुकते-छिपते हस्तिनापुर नगर पहुँच गया और अपने बुद्धि-कौशल से चक्रवर्ती सनतकुमार का प्रधान मंत्री बन गया । मुनि चित्त संभूति भी विचरण करते हुये हस्तिनापुर नगर के बाहर उद्यान में बिराजे । मुनि वेष में चित्त और संभूति को देखकर नमूची प्रधान ने भयभीत होकर समझा कि कहीं मेरा सारा भेद खुल न जावे, इस लिये षडयंत्र करके उसने उनका (मुनियों का) अपमान करत हुये शहर निकाला देने की आज्ञा दिलवादी ।

चित्त मुनि ने तो इस अपमान को शान्तिपूर्वक सहन कर लिया किन्तु संभूति मुनि को यह अपमान और तिरस्कार सहन नहीं हो सका और वे इसका प्रतिशोध लेने के लिये तपश्चर्या के प्रभाव से प्राप्त सिद्धि का प्रयोग करने के लिये तत्पर हो गये । चित्त मुनि ने संभूति मुनि को त्यागी जीवन की मर्यादा को समझाते हुये शान्ति धारण करने के लिये कहा किन्तु संभूति मुनि का क्रोध शान्त नहीं हुआ और कुपित होकर वे अपने मुँह से धुआँ के गोले निकालने लगे । नगरवासी यह देखकर घबरा गये और अपने महाराज चक्रवर्ती सनतकुमार से इस भयंकर संकट को निवारण करने की प्रार्थना करने लगे । चक्रवर्ती

सनतकुमार सपरिवार ससैन्य मुनि की सेवा में उपस्थित हुये और प्रशासन की भूल के लिये क्षमा याचना की। तपस्वी मुनि का क्रोध शान्त हुआ और उन्होंने अपनी लब्धि के प्रयोग को समेट लिया किन्तु चक्रवर्ती की ऋद्धि सम्पदा, राज-रानियों के रूप-सौन्दर्य को देखकर वे आसक्त बन गये और यह दुस्संकल्प कर लिया कि मेरे इस त्याग तपश्चर्या का फल मिले तो मुझे भी भविष्य में ऐसा ही ऐश्वर्य और काम भोगों के साधन प्राप्त हों। चित्त मुनि ने मुनि संभूति की भावभंगी को देखकर इस प्रकार के निदान करने के दुःस्परिणाम से अवगत कराया किन्तु मुनि संभूति पर इसका कोई असर नहीं हुआ।

चक्रवर्ती सनतकुमार मुनियों के दर्शन कर अपने आपको धन्य मानते हुये त्याग वैराग्य की अमिट छाप अपने हृदय में लेकर अपने महलों की ओर प्रस्थान कर गये। दोनों मुनियों ने यथासमय आयुष्य पूर्ण कर देव लोक के पद्मगुल विमान में जन्म लिया।

देवलोक की आयुष्य पूर्ण कर मुनि संभूति ने कांपित्य नगर में चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त के रूप में जन्म लिया किन्तु उसका भाई चित्त देवायु पूर्ण कर कहाँ गया, इसको जानने के लिये ब्रह्मदत्त चिन्तित हो गये। राज्य वैभव और भोगोप-भोग की प्रचुर सामग्री उपलब्ध होते हुये भी उसको अपने पूर्व भव के भाई की विरह वेदना सताने लगी। आखिर उसने अपने भाई को खोजने का एक उपाय निकाल लिया। उसने एक आधी गाथा बनाई—“असि दासा, मिगा, हँसा, चाण्डाला अमरा जहा” —और देश-देशान्तरों में यह उद्घोष करा दिया कि जो कोई इस अर्ध गाथा को पूर्ण कर देगा उसको चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त अपना आधा राज्य देगा।

चित्त मुनि देवायु पूर्ण कर पुरमिताल नगर में धनपति नगर श्रेष्ठि के घर में पुत्र रूप में उत्पन्न हुए। अपने पूर्व भव की त्याग-तपश्चर्या के प्रभाव से अतुल ऋद्धि सम्पदा और भोगोपभोग की प्रचुर सामग्री के स्वामी बने। एक दिन किसी महात्मा के मुखारविन्द से एक गम्भीर गाथा सुनकर उसके अर्थ का चिन्तन करते-करते उनको जाति स्मरण ज्ञान हो गया। पूर्व त्याग-वैराग्य के संस्कार जागृत हुये और भोगविलाप की सामग्री को सर्प कांचलीवत छोड़कर त्याग-मार्ग को अंगीकार करते हुये विचरण करने लगे। साधना करते हुये उनको अवधि ज्ञान प्रकट हो गया। आमानुश्राम विचरते हुये वे कांपित्य नगर के बाहर उद्यान में बिराजे और माली को पूर्वोक्त अर्धगाथा उच्चारण करते हुये सुना। चित्त मुनि अवधि ज्ञान के बल से अर्ध गाथा का प्रयोजन समझ गये और “इमाणी छट्टियाँ जायी अन्नमन्ने ख जा विणा” यह कहकर अर्धगाथा को पूर्ण कर दिया।

उद्यान का माली हर्षित होते हुये राज्य सभा में गया और उस अर्धगाथा



को पूर्ण करके सुना दिया। चक्रवर्ती ब्रह्मादत्त अपने पूर्व भव के भाई को माली के रूप में समझ कर खेद खिन्न होकर मूर्च्छित हो गया। राजपुरुषों ने माली को पकड़ लिया और त्रास देने लगे तो माली ने सही स्थिति बतला दी। राजपुरुष मुनि की सेवा में उपस्थित हुये और राजा के मूर्च्छित होने की बात कहकर मुनिराज को राज्य सभा में लिवालाये।

मुनि का अोजपूर्ण शरीर और दैदीप्यमान ललाट देखकर ब्रह्मादत्त स्वस्थ हो गये किन्तु अपने भाई को मुनि वेष में देख कर खिन्नमना होकर कहने लगे कि बन्धुवर, पूर्व भव की आपकी त्याग-तपश्चर्या का क्या यही फल है कि आपको भिक्षा के लिये इधर-उधर भटकना पड़ रहा है। मुझको राज्य वैभव और सम्पदा ने वरण किया है किन्तु आपके यह दरिद्रता क्यों पल्ले पड़ी ? मुझे आपके इस कष्टप्रद जीवन को देखकर आश्चर्य भी हो रहा है और दुःख भी। अब आपको भिक्षा जीवी रहने की आवश्यकता नहीं है। मेरी प्रतिज्ञा के अनुसार मेरा आधा राज्य वैभव आपके हिस्से में है।

“राजेन्द्र ! जिस राज्य वैभव में आप अनुरक्त हैं, उससे मैं भी परिचित हूँ” चित्त मुनि कहने लगे—“मेरा जन्म भी एक ऐश्वर्य व वैभव सम्पन्न श्रेष्ठी कुल में हुआ है अतः मुझे भिखारी या दरिद्री समझने की भूल मत करो। एक महात्मा के संयोग से मेरे त्याग वैराग्य के संस्कार जागृत हो गये और सब वैभव सम्पदा को छोड़ कर मैंने अक्षय सुख और शान्ति का यह राजमार्ग अपनाया है। राजन् ! आपको यह राज्य वैभव क्यों मिला, इस पर गहराई से चिन्तन करो। हम दोनों ने पूर्व भव में चित्त और संभूति के रूप में मुनिव्रत अंगीकार कर कठिन साधना की थी जिससे हमारा जीवन बड़ा निर्मल हो गया, कई सिद्धियाँ भी हमको सहज ही प्राप्त हो गयीं। चक्रवर्ती सनतकुमार हमारे दर्शन करने आया और त्याग-वैराग्य की अमिट छाप अपने हृदय पर लेकर वापस चला गया। चक्रवर्ती का राज्य वैभव भोग कर भी वह उसमें उलझा नहीं और विरक्त होकर संयम जीवन अंगीकार कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गया। आप उसके राज्य वैभव और राजरानियों के रूप सौन्दर्य को देखकर आसक्त हो गये और यह निदान (दुःस्संकल्प) कर लिया कि मेरी साधना का फल मुझे मिले तो मुझे भी इसी तरह का राज्य वैभव और काम भोगों के साधन प्राप्त हों। त्याग तपश्चर्या का फल तो अनिर्वचनीय आनन्द और अक्षय सुख है किन्तु आपने निदान करके हीरे को कौड़ियों के मोल बेच दिया जिससे आपको यह राज्य वैभव प्राप्त हा गया। इसमें आत्यन्तिक आसक्ति महान् दुःख का कारण बन सकती है। चक्रवर्ती सनतकुमार का अनुसरण कर आपको इन क्षणिक काम भोगों को स्वेच्छा से छोड़ कर अक्षय सुख और शान्ति का राजमार्ग अपनाना चाहिये अर्थात् मुनि जीवन स्वीकार कर लेना चाहिये।”

“आर्य ! आपका कथन यथार्थ है । मैं भी समझने को ऐसा ही समझ रहा हूँ ।” चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने कहा—“दलदल में फँसे हुये गजेन्द्र के समान मैं हूँ कि जिसको किनारा तो दिख रहा है किन्तु दलदल से बाहर निकलने की उसकी इच्छा ही नहीं होती । मैंने पूर्व भव में त्यागी जीवन की मर्यादा का उल्लंघन करके क्रोध किया और फिर निदान कर लिया चक्रवर्ती की सम्पदा के लिये, उसी का यह परिणाम है कि आपके समझाने पर भी और त्यागी जीवन की महत्ता के समझते हुये भी मैं राज्य वैभव की आसक्ति को छोड़ नहीं पा रहा हूँ ।”

“अगर पूर्ण त्यागी जीवन स्वीकार नहीं कर सकते हो तो गृहस्थाश्रम में रहते हुये श्रावक के व्रत नियम ही धारण करलो जिससे आप अघम गति से तो बच सकोगे ।” चित्त मुनि ने वैकल्पिक मार्ग बतलाया ।

“भुक्तिवर ! मेरे लिये यह भी शक्य नहीं है ।” चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने अपनी असमर्थता प्रकट करते हुये उत्तर दिया ।

“राजेन्द्र ! पूर्व भवों के स्नेह के कारण मैं चाहता था कि आपकी भोगासक्ति के दलदल से बाहर निकालूँ किन्तु मेरा यह प्रयत्न निष्फल गया, अब जैसी आपकी इच्छा ।” यह कहते हुये चित्त मुनि (पूर्व भव का नाम) वापस लौट गये ।

चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने काम भोगों के दलदल में फँसे हुये ही आयुष्य पूर्ण किया और सातवीं नरक में गये । महामुनि चित्त ने उग्र साधना और तपश्चर्या की जिससे अन्त में सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये ।

दो बन्धु जो पाँच भवों तक साथ-साथ रहे, चौथे भव में कठिन साधना की वे आसक्ति और विरक्ति के कारण इतने दूर बिछुड़ गये कि एक तो रसातल के अंतिम छोर-सातवीं नरक गये और दूसरे ऊर्ध्व गमन की अंतिम सीमा-सिद्धशिला-पर जा बिराजे ।

कर्म प्रधान विश्व करि राखा ।

जो जस करहि तस फल चाखा ॥

[ ५ ]

## कर्म का भुगतान

□ श्री चाँदमल बाबेल

भगवान् श्रेयांसनाथ इस धरती तल पर भय जीवों को सन्मार्ग दिखाते हुए विचरण कर रहे थे । उस समय दक्षिण भरत में पोतनपुर नामक एक नगर

था । रिपु प्रतिशत्रु नामक वहाँ का शासक था । उनकी अग्रमहिषी का नाम भद्रा था । कालान्तर में उनके पुत्र रत्न की उत्पत्ति हुई जिसका नाम अचल रखा गया । कुछ काल बाद उस भद्रा महारानी के एक कन्या रत्न की उत्पत्ति हुई जिसका नाम मृगावती रखा गया । मृगावती जब यौवनावस्था में आयी तो उसका एक-एक अंग सुगठित तथा आकर्षक था । राजकुमारी विवाह योग्य हुई तो ध्यानाकर्षण की दृष्टि से माता भद्रा ने उसे पिता के पास राज दरबार में भेजा । राजा रिपु प्रतिशत्रु उस राजकुमारी को आते देखकर मोहाभिभूत हो गया । उसने विचार किया कि यह तो कोई स्वर्गलोक से देवाङ्गना आ रही है । पृथ्वी पर ऐसे स्त्रीरत्न का मिलना बड़ा कठिन है । राजा इस प्रकार का विचार कर रहा था कि वह राजकुमारी पास में आयी एवं पिताश्री को प्रणाम किया । राजा ने उसे पास में बिठाया एवं पुनः सेविका के साथ उसे अन्तःपुर में भेज दिया । राजा अपनी दुर्वासना को दबा न सका । आखिर अपनी चतुराई के बल पर उसने राज दरबारियों से स्वीकृति प्राप्त कर अपनी पुत्री से गन्धर्व विवाह कर लिया । इधर महारानी भद्रा अपने पुत्र अचल को लेकर दक्षिण दिशा में चली गयी जहाँ पर माहेश्वरी नामक नगरी बसायी । कुछ दिनों बाद पुत्र अचल पुनः पिताश्री की सेवा में आ गया ।

कालान्तर में मृगावती के एक पुत्र उत्पन्न हुआ । ज्योतिषियों ने बताया कि यह बालक वासुदेव का पद धारण कर तीन खण्ड का स्वामी होगा । कर्म-गति कितनी विचित्र है कि एक श्लाघनीय पुरुष की उत्पत्ति लोकापवाद निन्दनीय संयोग से हुई । बालक की पीठ पर तीन बांस का चिह्न देखकर उसे त्रिपृष्ठ नाम दिया गया । बालक अपने बड़े भाई अचल के साथ रहने लगा । योग्य वय पाकर कला-कौशल में निपुण हो गया । दोनों भाइयों में स्नेह इतना अधिक था कि एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते थे ।

उस समय में रत्नपुर में अश्वघ्रीव नामक शासक शासन करता था । वह महान् योद्धा और वीर था । सोलह हजार राजा उसके अधीन थे । वह प्रति-वासुदेव था ।

तत्कालीन परिस्थिति में रथनुपुर चक्रवाल नामक नगरी में विद्याधरराज ज्वलनवटी प्रबल पराक्रमी नरेश था, उनकी पत्नी का नाम वायुवेगा था । कालान्तर में उसके एक कन्या की उत्पत्ति हुई जिसका नाम स्वयंप्रभा रखा गया । उसका विवाह त्रिपृष्ठ वासुदेव से करने हेतु ज्वलनवटी उसे लेकर पोतनपुर चला आया तथा विवाह की तैयारी होने लगी । यह बात अश्वघ्रीव को मालूम हुई तो वह अपनी सेना लेकर पोतनपुर चला आया क्योंकि स्वयंप्रभा से वह विवाह करना चाहता था । घमासान युद्ध हुआ । अश्वघ्रीव मारा गया । अन्त में सभी राजाओं ने त्रिपृष्ठ वासुदेव की आज्ञा में रहना स्वीकार किया

तथा धूमधाम से वासुदेव पद का अभिषेक किया गया ।

त्रिपृष्ठ वासुदेव राजसी भोग-विलास में तल्लीन थे । महारानी स्वयंप्रभा के श्रीविजय और विजय नामक दो पुत्ररत्नों की उत्पत्ति हुई ।

एक बार संगीत मंडली भ्रमण करती हुई राज दरबार में उपस्थित हुई । गायक अपनी कला में पूर्ण निपुण थे । ज्योंही उन्होंने अपनी कला का प्रदर्शन किया तो सब मंत्रमुग्ध हो गये एवं उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे । एक दफा रात्रि को इस प्रकार का मनोरंजक कार्यक्रम चल रहा था । राजा अपनी शय्या पर लेटे हुए थे । संगीत की स्वर-लहरी सभी को मंत्रमुग्ध कर रही थी । त्रिपृष्ठ ने अपने शय्यापालक को कहा कि जब मुझे पूर्ण निद्रा आ जावे तो संगीत गाने वालों को विश्राम दे देना । इधर वासुदेव पूर्ण निद्राधीन हो गये किन्तु शय्यापालक स्वयं संगीत में इतना गूढ़ हो गया कि संगीतज्ञों को विश्राम का आदेश नहीं दिया तथा रात-भर संगीत होता रहा । वासुदेव जब जगे तो देखा कि संगीत पूर्ववत् चल रहा है । राजा को आक्रोश आया एवं शय्यापालक को कहा कि इन्हें विश्राम क्यों नहीं दिया ? शय्यापालक ने कहा—“महाराज ! मैं क्षमाप्रार्थी हूँ । मैं स्वयं संगीत सुनने में आसक्त हो गया इसलिये आपके आदेश का पालन नहीं हो सका ।” त्रिपृष्ठ वासुदेव ने कहा—“अच्छा ! मेरे आदेश की अवहेलना । सामन्तो ! यह संगीत सुनने का अत्यधिक रसिक है, इसलिये इसके कानों में गर्म शीशा डाला जाय ।” सामन्तों ने आज्ञानुसार वैसा ही किया । शय्यापालक ने तड़पते हुए प्राण छोड़े ।

सत्तान्ध बनकर त्रिपृष्ठ वासुदेव ने कर्म के बन्धन के फलस्वरूप आयु पूर्ण कर सातवीं नारकी में जन्म लिया । तैंतीस सागरोपम का आयुष्य पूर्ण कर सिंह, नारकी, चक्रवर्ती, देवता, मानव, देव आदि भवों को पूर्ण कर बद्धमान महावीर के भव में जन्म लिया ।

महावीर अभिनिष्क्रमण के बाद जंगलों, गुफाओं में ध्यान करते हुये “छम्माणी” ग्राम के निकट उद्यान में एक निर्जन स्थान में ध्यानस्थ थे । उस समय शय्यापालक का जीव—जिसके कानों में गर्म-गर्म सीसा उंडेला गया था, वह ग्वाले के भव में बैलों की जोड़ी को साथ लेकर जहाँ महावीर ध्यानस्थ थे, वहाँ पर आया एवं बोला—“हे भिक्षु ! मैं कुल्हाड़ी घर छोड़ आया हूँ, उसे लेकर आता हूँ तब तक बैलों की रखवाली रखना ।” इधर बैल चरते हुए घनी झाड़ियों में ओझल हो गये । ग्वाला वापिस आया तो बैलों की जोड़ी नजर नहीं आयी । ग्वाले की आँखों में आग बरसने लगी । वह महावीर को अभद्र शब्दों से बोलने लगा । किन्तु भगवान तो ध्यानस्थ थे, कोई उत्तर नहीं दिया । तब ग्वाले का क्रोध अधिक बढ़ गया और बोला—“अच्छा, तुम मेरी बात सुन नहीं रहे हो तो

लो तुम्हें बहरा करके ही दम लूँगा । उसने दोनों कानों में काष्ठ के तीखे कीले ठोके और चला गया । इससे महावीर को तीव्र वेदना हुई, किन्तु उनका चित्त क्षण मात्र भी खिन्न नहीं हुआ तथा चिन्तन धारा में निमग्न हो गये । “मेरी आत्मा ने ही त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में शय्यापालक के कानों में गर्म सीसा डलवाया था । उसी कर्म विपाक का आज भुगतान हो रहा है । इसमें ग्वाले का क्या दोष ? मैंने जैसा कर्म किया, उसी का फल आज मुझे मिल रहा है । वास्तव में कर्मों का भुगतान हुए बिना मुक्ति नहीं है ।”



ण तस्स दुक्खं विभयंति णाइओ, ण भित्तवग्गा ण सुया ण बंधवा ।  
इवको सयं पच्चणु होइ दुक्खं, कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ॥

—उत्तरा० १३/२३

अर्थ:—पापी जीव के दुःख को न जाति वाले बँटा सकते हैं, न मित्रमंडली, न पुत्र, न बंधु । वह स्वयं अकेला ही दुःख भोगता है क्योंकि कर्म कर्ता का ही अनुसरण करता है (कर्ता को ही कर्मों का फल भोगना पड़ता है) ।

सुखस्य दुखस्य न कोऽपि दाता, परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ।  
अहं करोमीति ब्रूथाभिमानः, स्वकर्म सूत्र ग्रथितो हि लोकः ॥

अर्थ:—सुख-दुःख का देने वाला कोई नहीं है । अन्य जीव मेरे सुख-दुःख का कारण है, यह कुबुद्धि-मात्र है । मैं कर्ता हूँ यह मिथ्याभिमान है । समस्त संसार कर्म के प्रभाव से ही ग्रथित है ।

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे, भार्या गृह द्वारि जनः श्मसाने ।  
देहश्रितायां परलोकमार्गे, कर्मानुगो गच्छति जीव एकः ॥

अर्थ:—जीव के परलोक प्रस्थान करते समय उसके द्वारा अर्जित धन भूमि में ही रह जाता है, पशुवर्ग उसकी शाला में ही बँधा रह जाता है । भार्या गृह के द्वार तक ही रह जाती है, मित्र-मण्डली श्मशान तक पहुँचाती है । यह शरीर जो लम्बे समय तक जीव का साथी रहा, वह भी चितापर्यन्त साथ देता है । जीव अकेला ही कर्मानुसार परलोक गमन करता है ।

## परिशिष्ट

# हमारे सहयोगी लेखक

१. आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज—प्रसिद्ध जैन आचार्य, आगमवेत्ता और शास्त्रज्ञ, गवेषक विद्वान् और इतिहासज्ञ ।
२. पं० र० श्री हीरा मुनि—जैन मुनि, प्रबुद्ध चिन्तक और प्रखर वक्ता । आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा० के विद्वान् शिष्य ।
३. श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री—जैन मुनि, प्रबुद्ध चिन्तक, अनेक ग्रन्थों के लेखक । उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि के विद्वान् शिष्य ।
४. स्वर्गीय युवाचार्य श्री मधुकर मुनि—प्रबुद्ध चिन्तक और लेखक ।
५. श्री रमेश मुनि शास्त्री—जैन मुनि, लेखक और चिन्तक । उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि के शिष्य ।
६. श्री भगवती मुनि 'निर्मल'—जैन मुनि, प्रसिद्ध लेखक, कथाकार और आगमज्ञ विद्वान् ।
७. पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री—प्रसिद्ध जैन विद्वान्, प्रबुद्ध चिन्तक और लेखक, भूतपूर्व प्राचार्य, स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी ।
८. डॉ० महेन्द्रसागर प्रचंडिया—प्रसिद्ध जैन विद्वान्, चिन्तक, लेखक और वक्ता । वाष्णीय महाविद्यालय, अलीगढ़ (उ० प्र०) में हिन्दी प्राध्यापक ।
९. डॉ० आदित्य प्रचंडिया 'दीति'—लेखक, कवि और समीक्षक, मंगल कलश, ३६४, सर्वोदय नगर, आगरा रोड, अलीगढ़ (उ० प्र०) ।
१०. श्री कन्हैयालाल लोढ़ा—प्रबुद्ध, चिन्तक, लेखक और स्वाध्यायी साधक, अधिष्ठाता—श्री जैन सिद्धान्त शिक्षण संस्थान, बजाज नगर, जयपुर ।
११. श्री चन्दनराज मेहता—चिन्तक और लेखक, ६३, सिलावटों का बास, सोजती गेट के अन्दर, जोधपुर-३४२ ००१ ।
१२. डॉ० शिव मुनि—जैन मुनि, प्रबुद्ध चिन्तक और लेखक ।
१३. युवाचार्य महाप्रज्ञ—जैन मुनि, जैन धर्म, दर्शन और संस्कृति के मर्मज्ञ विद्वान्, अनेक ग्रन्थों के लेखक और ध्यान-साधक ।

१४. श्री राजीव प्रचंडिया—एडवोकेट और लेखक, सर्वोदय नगर, अलीगढ़ (उ० प्र०) ।
१५. श्री चाँदमल कर्णावट—प्रसिद्ध विचारक, लेखक और स्वाध्यायी साधक, विद्या भवन टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज, उदयपुर में हिन्दी प्राध्यापक ।
१६. श्री लालचन्द्र जैन—लेखक, विचारक और अनुवादक, शास्त्री नगर, जोधपुर ।
१७. आचार्य श्री नानेश—प्रसिद्ध जैन आचार्य, आगमवेत्ता और शास्त्रज्ञ, समता दर्शन के गूढ़ व्याख्याता ।
१८. श्री श्रीचन्द्र गोलेछा—प्रमुख रत्नव्यवसायी, तत्त्व चिन्तक और स्वाध्यायी, सी-२३, भगवानदास रोड, सी-स्कीम, जयपुर-१ ।
१९. श्री कल्याणमल जैन—स्वाध्यायी, चोखू (सवाईमाधोपुर) ।
२०. श्री राजेन्द्र मुनि—जैन मुनि, उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि के शिष्य ।
२१. श्री जशकररा डागा—तत्त्व चिन्तक और स्वाध्यायी, लेखक, डागा सदन, संधपुरा, टोंक (राज०) ।
२२. डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी—प्रबुद्ध विचारक, समीक्षक और लेखक, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन में हिन्दी विभागाध्यक्ष ।
२३. डॉ० भागचन्द्र जैन 'भास्कर'—जैन धर्म, दर्शन, साहित्य और संस्कृति के मर्मज्ञ विद्वान्, प्रबुद्ध विचारक और लेखक, जैन अनुशीलन केन्द्र, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर में निदेशक एवं प्रोफेसर ।
२४. डॉ० सागरमल जैन—जैन धर्म-दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान्, प्रबुद्ध विचारक और लेखक, श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, आई० टी० आई० रोड, वाराणसी (उ० प्र०) के निदेशक ।
२५. श्री धर्मचन्द्र जैन—लेखक, राजकीय महाविद्यालय, भालावाड़ (राज०) में संस्कृत प्रवक्ता ।
२६. डॉ० के० एल० शर्मा—चिन्तक और लेखक, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के दर्शन शास्त्र विभाग में प्राध्यापक ।
२७. डॉ० ए० बी० शिवाजी—विचारक और लेखक, दर्शन शास्त्र के प्राध्यापक, मोहन निवास, कोठी रोड, उज्जैन (म० प्र०) ।
२८. डॉ० निजामुद्दीन—प्रमुख लेखक और समीक्षक, इस्लामिया आर्ट्स कॉलेज, श्रीनगर (कश्मीर) में हिन्दी विभागाध्यक्ष ।

२९. स्वर्गीय श्री अजरचन्द्र नाहटा—प्रमुख गवेषक जैन विद्वान्, प्राचीन भाषा और साहित्य के विशेषज्ञ, अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर के संस्थापक ।
३०. डॉ० देवदत्त शर्मा—लेखक, जन सम्पर्क विभाग, सूचना केन्द्र, उदयपुर-३१३ ००१
३१. स्वर्गीय पं० सुखलाल संघवी—जैन धर्म और दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान्, पद्मभूषण अलंकार से सम्मानित । इनके विचार 'संसार और धर्म' पुस्तक की भूमिका से संकलित किये गये हैं ।
३२. पं० फूलचन्द्र शास्त्री—जैन धर्म और दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान्, प्रबुद्ध चिन्तक और लेखक, वाराणसी । इनके विचार 'कर्मग्रंथ भाग-६' की भूमिका से संकलित किये गये हैं ।
३३. स्वर्गीय श्री केदारनाथ—प्रबुद्ध चिन्तक और मौलिक विचारक । इनके विचार 'विवेक और साधना' पुस्तक से संकलित किये गये हैं ।
३४. स्वर्गीय स्वामी शरणानन्द—मौलिक विचारक, तत्त्व चिन्तक और अनुभवी संत । 'मानव सेवा संघ' वृन्दावन, मथुरा के संस्थापक । इनके विचार 'मूक सत्संग और नित्य योग' पुस्तक से संकलित किये गये हैं ।
३५. स्वर्गीय श्री किशोरलाल मश्रुवाला—प्रमुख सर्वोदयी विचारक, तत्त्व चिन्तक और लेखक । इनके विचार 'संसार और धर्म' पुस्तक से संकलित किये गये हैं ।
३६. लोकमान्य बालगंगाधर तिलक—भारतीय स्वाधीनता संग्राम के प्रमुख सेनानी, प्रसिद्ध विद्वान् और चिन्तनशील लेखक । इनके विचार 'गीता-रहस्य' पुस्तक से संकलित किये गये हैं ।
३७. महात्मा गाँधी—राष्ट्रपिता, सत्य और अहिंसा के अनूठे प्रयोग शिल्पी । इनके विचार 'गीता बोध' पुस्तक से संकलित किये गये हैं ।
३८. स्वर्गीय आचार्य विनोबा भावे—भूदान आन्दोलन के प्रवर्तक, प्रबुद्ध विचारक, लेखक और व्याख्याता । इनके विचार 'गीता-प्रवचन' से संकलित किये गये हैं ।
३९. आचार्य रजनीश—मौलिक चिन्तक, ओजस्वी वक्ता और अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त ध्यान योगी । इनके विचार 'महावीरः परिचय और वाणी' से संकलित किये गये हैं ।



४०. स्वर्गीय डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन—प्रबुद्ध चिन्तक और लेखक, इन्दौर विश्व-विद्यालय में हिन्दी प्राध्यापक ।
४१. श्री जी० एस० नरवानी—राजस्थान प्रशासनिक अधिकारी, सचिव, राजस्थान डेयरी फेडरेशन, जयपुर ।
४२. डॉ० महावीर सरन जैन—प्रबुद्ध विचारक, लेखक, भाषाविद् और समीक्षक । जबलपुर विश्वविद्यालय में हिन्दी प्रोफेसर ।
४३. श्री रणजीतसिंह कूमट—प्रबुद्ध चिन्तक और लेखक, भारतीय प्रशासनिक अधिकारी, प्रबन्ध संचालक, राजस्थान डेयरी फेडरेशन, जयपुर ।
४४. डॉ० राजेन्द्रस्वरूप भटनागर—चिन्तक और लेखक, राजस्थान विश्व-विद्यालय, जयपुर के दर्शन शास्त्र विभाग में एसोशियेट प्रोफेसर ।
४५. डॉ० शान्ता महतानी—कानोड़िया महिला महाविद्यालय, जयपुर में दर्शन शास्त्र की विभागाध्यक्ष ।
४६. प्राचार्य अनन्तप्रसाद जैन—प्रबुद्ध चिन्तक और लेखक, पारस सदन, आर्यनगर, लखनऊ-२२६ ००१ ।
४७. श्री अशोककुमार सबसेना—कनिष्ठ व्याख्याता, जीव विज्ञान विभाग, जवाहर विद्यापीठ, कानोड़-३१३ ६०४ (उदयपुर) राज०
४८. डॉ० महावीरसिंह मुड्डिया—एसोशियेट प्रोफेसर, रसायन शास्त्र विभाग, उदयपुर विश्वविद्यालय, रोशन भवन, चम्पा बाग, सरस्वती मार्ग, उदयपुर (राज०) ।
४९. डॉ० जगदीशराय जैन—रीडर, रसायन शास्त्र विभाग, केसी, ४२-ए, अशोक विहार, फेज नं० १, न्यू वाटर टैंक, दिल्ली-११० ०५२ ।
५०. डॉ० प्रेमसुमन जैन—जैन धर्म, दर्शन, साहित्य के प्रमुख विद्वान् एवं लेखक, उदयपुर विश्वविद्यालय में जैन विद्या एवं प्राकृत विभाग के अध्यक्ष, २९, उत्तरी सुन्दरवास, उदयपुर-३१३ ००१ (राज०) ।
५१. स्वर्गीय सुजानमल मेहता—लेखक और स्वाध्यायी, सवाईमाधोपुर ।
५२. श्री चाँदमल बाबेल—लेखक और स्वाध्यायी, राधाकृष्ण कॉलोनी, भीलवाड़ा ।

# आचार्य श्री गजेन्द्र अमृत महोत्सव साधना समारोह

दिनांक ६ जनवरी, १९८४, पौष शुक्ला चतुर्दशी सं. २०४१

प्रिय बन्धुवर !

सादर जयजिनेन्द्र !

परम गौरव एवं अपार हर्ष का विषय है कि विश्ववन्द्य श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के शासन के सजग प्रबल प्रहरी, जैन जगत् के दैदीप्यमान नक्षत्र, रत्नवंशनायक धर्मगुरु, धर्माचार्य, सामायिक-स्वाध्याय के सन्देशवाहक, प्रातः-स्मरणीय, अखण्ड बालब्रह्मचारी, चारित्र्य चूड़ामणि, विद्वद्भरत, इतिहास-मार्तण्ड, परम पूज्य आचार्य परम-श्रद्धेय श्री १००८ श्री हस्तीमलजी महाराज साहब का ७५वां पुनीत पावन जन्म दिवस आगामी पौष शुक्ला चतुर्दशी तदनुसार दिनांक ६ जनवरी, १९८५ को समुपस्थित हो रहा है।

परम पूज्य आचार्य प्रवर का समग्र जीवन साधना सम्पूरित रहा है। आचार्य श्री ने ६४ वर्ष के इस सुदीर्घ साधना काल में जहाँ एक ओर उत्तर से दक्षिण एवं पूर्व से पश्चिम तक सहस्रों मील का पादविहार कर जिनवाणी की पावन गंगा को भारत भूमि के कोने-कोने में प्रवाहित किया है, वहीं स्वाध्याय एवं सामायिक के मंगलमय दिव्य घोष से नगर, ग्राम एवं घर-घर में भगवान् महावीर का विश्वकल्याणकारी सन्देश पहुँचाया है।

आपने अपने सुदीर्घ आचार्य-काल में न केवल अनेकों मुमुक्षु भद्र-भव्य भाई-बहिनों को अध्यात्म की ओर प्रेरित कर उन्हें पंच महाव्रतों की भागवती दीक्षा ही प्रदान की है, अपितु हजारों नर-नारियों को सप्त कुव्यसनों का त्याग करवाकर, उन्हें सामायिक व स्वाध्याय की प्रेरणा देकर, समाज के नैतिक एवं धार्मिक घरातल को समुन्नत करने की दिशा में अथक परिश्रम किया है। आप द्वारा प्रेरित सैकड़ों स्वाध्यायी बन्धु प्रतिवर्ष सैकड़ों क्षेत्रों में धर्म-साधना पूर्वक पर्युषण-पर्वाराधन करवा रहे हैं।

आपकी सतत अर्हनिश अप्रमत्त दिनचर्या, अलौकिक ध्यान-साधना, नियमित मौन-साधना, सम्प्रदायातीत धर्म प्रेरणा, साधक-जीवन में दृढ़ अनु-शासन, प्रतिपल जिन शासन हित चिन्तन आपकी मौलिक विशेषताएँ हैं। आपके जीवन में ज्ञान एवं क्रिया का सुन्दर संगम सहज ही स्वतः दृष्टिगत होता है। आपकी प्रसन्नचित सौम्य शान्त मुख मुद्रा दर्शनार्थी भक्तगणों को हठात् प्रथम दर्शन में ही सदा सर्वदा के लिये अपनी ओर आकर्षित कर लेती है।

स्व सम्प्रदाय में रहते हुए भी आपका लक्ष्य सदैव जिन शासन सेवा, संगठन, एकता एवं श्रमणाचार की विशुद्धता का रहा है। आप द्वारा प्रेरित संस्थाएँ भी इसी पवित्र लक्ष्य के अनुरूप समग्र जैन समाज व मानव मात्र की सेवा हेतु समर्पित हैं।

हमें गौरव है ऐसे महान् धर्मगुरु धर्माचार्य के शिष्य होने का । आज हमारे समक्ष उपस्थित है एक महान् सुम्रवसर—अपने आराध्य गुरुदेव के चरणों में श्रद्धा एवं भक्ति के पुष्प समर्पित करने का ।

अनन्त उपकार हैं पूज्य प्रवर के हम पर, जिन्होंने हमें जीवन की सच्ची राह दिखाई है । यद्यपि जन्म-जन्मान्तरों तक भी हम उनके ऋण से उच्छृण नहीं हो सकते तथापि आइये ! आप हम सब एक साथ मिलकर अटल संकल्प करें कि पूज्य गुरुदेव के साधनामय जीवन के इस विशिष्ट पावन प्रसंग पर हम “त्वदीय वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये” कहते हुए यत्किञ्चित् साधना-सुमन उन्हीं के चरणों में समर्पित करें । और इस प्रकार पूज्य गुरु गजेन्द्र से प्राप्त सामायिक-स्वाध्याय के प्रसाद को हम घर-घर पहुँचाकर उनके भागीरथ-प्रयास में अपना भी कुछ योगदान करें ।

इसी शुभ भावना व आपके सहयोग के विश्वास के साथ कुछ संकल्प आपकी सेवा में प्रस्तुत हैं :—

१. कम-से-कम ७५ व्यक्ति आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार करें ।
२. कम-से-कम ७५ नये स्वाध्यायी बनें ।
३. कम-से-कम ७५ जैनैतर व्यक्ति सप्त कुव्यसन त्याग करें ।
४. कम-से-कम ७५ स्थानों पर सामायिक संघों को सुव्यवस्थित करना ।
५. एक वर्ष के लिये ७५ छात्रों को छात्रवृत्ति प्रदान करना-करवाना ।
६. कम-से-कम ७५ व्यक्ति पौष शुक्ला चतुर्दशी से ७५ दिन तक ब्रह्मचर्य का पालन करें ।
७. कम-से-कम ७५ नये व्यक्ति धर्मस्थानक में सामायिक-साधना का संकल्प करें ।
८. कम-से-कम ७५ व्यक्ति एक वर्ष के लिये रात्रि भोजन त्याग करें ।
९. कम-से-कम ७५ कार्यकर्ता तैयार करना एवं उनसे नियमित सम्पर्क स्थापित करना ।
१०. “गजेन्द्र-सूक्ति सुधा” के अंग्रेजी संस्करण का प्रकाशन ।
११. कम-से-कम ७५ बच्चे एक वर्ष में सामायिक/प्रतिक्रमण सीखने का संकल्प करें ।

यह कार्य शीघ्र सम्पन्न हो सके, इसमें आप सबका सहयोग अभीष्ट है । आपके सहयोग, मार्ग-दर्शन व प्रेरणा से ही संघ इस कार्य को पूर्ण कर सकेगा । आपके स्नेह व सहकार की अपेक्षा के साथ ।

❀ विनयावनत ❀

**सम्पतसिंह भांडावत**

**अध्यक्ष**

**माणकमल भंडारी**

**ज्ञानेन्द्र बाफना**

**महामंत्री**

श्री अ० भा० जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ

घोड़ों का चौक, ज्योधपुर-३४२ ००१

Regd. No. R. J. 2529

Licensed to post without prepayment—Licence No. 6

वत्सटि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो ।  
माणसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीटियं ॥

—उत्तराध्ययन ३/१

संसार में चार बातें प्राणी को बड़ी दुर्लभ हैं—मनुष्य जन्म, धर्म  
का श्रवण, दृढ़ श्रद्धा और संयम में प्रवृत्ति अर्थात् धर्म का आचरण ।

With Best Compliments From



## SEVEN SEAS GEMS

Ocean View Court  
37, Mody - Road,  
Kowloon  
HONG-KONG

Phone : Off. 7245333  
: Res. 683008

'जिनवाणो' कार्यालय, बापू बाजार, जयपुर-302003 (राज०)